हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास

(Development of Hindi Literature and Compassion)

राजेश कँवल

हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास

हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास

(Development of Hindi Literature and Compassion)

राजेश कँवल

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5602-8

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

हिन्दी भाषा के उद्‌भव और विकास के सम्बन्ध में प्रचलित धारणाओं पर विचार करते समय हमारे सामने हिन्दी भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न दसवीं शताब्दी के आसपास की प्राकृताभास भाषा तथा अपभ्रंश भाषाओं की ओर जाता है। अपभ्रंश शब्द की व्युत्पत्ति और जैन रचनाकारों की अपभ्रंश कृतियों का हिन्दी से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए जो तर्क और प्रमाण हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में प्रस्तुत किये गये हैं, उन पर विचार करना भी आवश्यक है। सामान्यत: प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश-अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव स्वीकार किया जाता है। उस समय अपभ्रंश के कई रूप थे और उनमें सातवीं-आठवीं शताब्दी से ही पद्य-रचना प्रारम्भ हो गयी थी।

साहित्य की दृष्टि से पद्यबद्ध जो रचनाएँ मिलती हैं, वे दोहा रूप में ही हैं और उनके विषय, धर्म, नीति, उपदेश आदि प्रमुख हैं। राज्याश्रित कवि और चारण नीति,श्रृंगार, शौर्य, पराक्रम आदि के वर्णन से अपनी साहित्य-रुचि का परिचय दिया करते थे। यह रचना-परम्परा आगे चलकर शौरसेनी अपभ्रंश या 'प्राकृताभास हिन्दी' में कई वर्षों तक चलती रही। पुरानी अपभ्रंश भाषा और बोलचाल की देशी भाषा का प्रयोग निरन्तर बढ़ता गया। इस भाषा को विद्यापति ने देशी भाषा कहा है, किन्तु यह निर्णय करना सरल नहीं है कि हिन्दी शब्द का प्रयोग इस भाषा के लिए कब और किस देश में प्रारम्भ हुआ।

हिन्दी भारत और विश्व में सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषाओं में से एक

है। उसकी जड़ें प्राचीन भारत की संस्कृत भाषा में तलाशी जा सकती हैं। परंतु हिन्दी साहित्य की जड़ें मध्ययुगीन भारत की अवधी, मागधी, अर्धमागधी तथा मारवाड़ी जैसी भाषाओं के साहित्य में पायी जाती हैं। हिंदी में गद्य का विकास बहुत बाद में हुआ और इसने अपनी शुरुआत कविता के माध्यम से की जो कि ज्यादातर लोकभाषा के साथ प्रयोग कर विकसित की गई। हिंदी का आरंभिक साहित्य अपभ्रंश में मिलता है। हिंदी में तीन प्रकार का साहित्य मिलता है—गद्य, पद्य और चम्पू। हिंदी की पहली रचना कौन सी है, इस विषय में विवाद है लेकिन ज्यादातर साहित्यकार लाला श्रीनिवासदास द्वारा लिखे गये उपन्यास 'परीक्षा गुरु' को हिन्दी की पहली प्रामाणिक गद्य रचना मानते हैं।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

—लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**हिन्दी**	**1**
	'हिंदी' शब्द की व्युत्पत्ति	2
	हिन्दी एवं उर्दू	3
	परिवार	4
	हिन्दी का मानकीकरण	5
	हिन्दी व्याकरण का मानकीकरण	5
	हिन्दी की बोलियाँ	6
	व्याकरण	8
	हिन्दी और कम्प्यूटर	10
	हिन्दी और जनसंचार	11
2.	**हिंदी साहित्य**	**18**
	हिन्दी साहित्य का इतिहास	18
	आदिकाल	19
	भक्ति काल (1375 विक्रमी संवत-1700 विक्रमी संवत)	19
	हिन्दी साहित्य के विकास के विभिन्न काल	23
	आदिकाल (650ई. से 1375ई.)	24
	भक्तिकाल (1375 से 1700 ई.)	25

रीतिकाल (1700 से 1900 ई.) 27
हिन्दी साहित्य के इतिहास का लेखन 38
आधुनिक काल के पूर्व गद्य की अवस्था 43
खड़ी बोली का गद्य 47
इश्तहारनामा: बोर्ड सदर 65
आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास 88
भारतेंदु पूर्व युग 88
भारतेंदु युग 89
नवजागरण काल (भारतेंदु युग) 92
3. आदिकाल **96**
आदिकाल साहित्य की आधार सामग्री 97
काल विभाजन 98
सिद्ध और नाथ साहित्य 100
हिन्दी का सर्वप्रथम कवि 102
आदिकाल का नामकरण 102
डॉ. ग्रियर्सन का मत 104
मिश्रबंधुओं का मत 105
डॉ. रामकुमार वर्मा का मत 105
4. भक्ति काल **107**
कृष्णाश्रयी शाखा 118
प्रेमाश्रयी शाखा 123
भक्तिकाल के कवि 124
संत शिरोमणि रविदास 125
रविदास जी के पद 125
रसखान 126
स्वामी हरिदास 127
मीराबाई 128
गदाधर भट्ट 129
गोविन्दस्वामी 130
चतुर्भुजदास 130
परमानंद दास 131

कृष्णदास 131
श्रीभट्ट 132
सूरदास मदनमोहन 132
भक्ति आंदोलन के उदय संबंधी धाराएं 139
5. रीति काल 142
परिचय 143
रीति शब्द की व्याख्या 145
नामकरण 146
समृद्धि और विलासिता का काल 146
श्रृंगारिक साहित्य 147
सामंतवादी समाज 148
हिन्दी काव्य पर प्रभाव 149
अश्लीलता 150
समाज को प्रगति प्रदान करने की अक्षमता 150
संस्कृत काव्यशास्त्र 152
रस तथा अलंकार का प्रयोग 153
रीतिकालीन काव्य की भाषा 157
6. आधुनिक काल 159
समालोचक 160
कहानी लेखक 160
आधुनिक हिंदी पद्य का इतिहास 161
भारतेंदु हरिश्चंद्र युग की कविता 162
छायावादी युग की कविता 163
प्रगतिवादी युग की कविता 164
प्रयोगवाद–नयी कविता युग की कविता 164
आधुनिक हिंदी गद्य का इतिहास 165
19वीं सदी से पहले का हिन्दी गद्य 166
विभिन्न आलोचकों की दृष्टि में छायावाद 168
7. उपन्यास 176
उपन्यासिका 178

हिंदी साहित्य में उपन्यास 178
हिन्दी उपन्यास 179
हिंदी के प्रारंभिक उपन्यास 181
8. कहानी 183
हिन्दी कहानी का इतिहास 185
पहली कहानी कौन 187
विकास का पहला दौर 188
9. हिन्दी नाटक का इतिहास 199
आधुनिक हिन्दी नाटक 200
भारतेन्दु-युगीन नाटक 200
मौलिक नाटक 201
अनुदित और रूपान्तरित नाटक 202
द्विवेदीयुगीन नाटक 208
पौराणिक नाटक 209
ऐतिहासिक नाटक 210
सामाजिक-राजनैतिक समस्यापरक नाटक 210
व्यावसायिक दृष्टि से लिखे नाटक 211
प्रहसन 211
अनुदित नाटक 211
प्रसाद-युगीन नाटक 212
प्रसादोत्तर-युगीन नाटक 219

1

हिन्दी

हिन्दी विश्व की एक प्रमुख भाषा है एवं भारत की राजभाषा है। केन्द्रीय स्तर पर भारत में दूसरी आधिकारिक भाषा अंग्रेजी है। यह हिंदुस्तानी भाषा की एक मानकीकृत रूप है जिसमें संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दों का प्रयोग अधिक है और अरबी-फारसी शब्द कम हैं। हिंदी संवैधानिक रूप से भारत की राजभाषा और भारत की सबसे अधिक बोली और समझी जाने वाली भाषा है। हालांकि, हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा नहीं है, क्योंकि भारत के संविधान में कोई भी भाषा को ऐसा दर्जा नहीं दिया गया था। चीनी के बाद यह विश्व में सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा भी है। किन्तु एथनॉलोग के अनुसार हिन्दी विश्व की तीसरी सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा है। विश्व आर्थिक मंच की गणना के अनुसार यह विश्व की दस शक्तिशाली भाषाओं में से एक है।

हिन्दी और इसकी बोलियाँ सम्पूर्ण भारत के विविध राज्यों में बोली जाती हैं। भारत और अन्य देशों में भी लोग हिंदी बोलते, पढ़ते और लिखते हैं। फिजी, मॉरिशस, गयाना, सूरीनाम, नेपाल और संयुक्त अरब अमीरात की जनता भी हिन्दी बोलती है। फरवरी 2019 में अबू धाबी में हिन्दी को न्यायालय की तीसरी भाषा के रूप में मान्यता मिली।

2001 की भारतीय जनगणना में भारत में 42 करोड़ 20 लाख लोगों ने हिन्दी को अपनी मूल भाषा बताया। भारत के बाहर, हिंदी बोलने वाले संयुक्त राज्य अमेरिका में 8,63,077 य मॉरीशस में 6,85,170य दक्षिण अफ्रीका में

8,90,292य यमन में 2,32,760य युगांडा में 1,47,000य सिंगापुर में 5,000य नेपाल में 8 लाख जर्मनी में 30,000 हैं। न्यूजीलैंड में हिंदी चौथी सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा है।

इसके अलावा भारत, पाकिस्तान और अन्य देशों में 14 करोड़ 10 लाख लोगों द्वारा बोली जाने वाली उर्दू, मौखिक रूप से हिन्दी के काफी समान है। एक विशाल संख्या में लोग हिंदी और उर्दू दोनों को ही समझते हैं। भारत में हिन्दी, विभिन्न भारतीय राज्यों की 14 आधिकारिक भाषाओं और क्षेत्र की बोलियों का उपयोग करने वाले लगभग 1 अरब लोगों में से अधिकांश की दूसरी भाषा है

हिन्दी भारत में सम्पर्क भाषा का कार्य करती है और कुछ हद तक पूरे भारत में आमतौर पर एक सरल रूप में समझी जानेवाली भाषा है। हिन्दी का कभी-कभी नौ भारतीय राज्यों के संदर्भ में भी उपयोग किया जाता है, जिनकी आधिकारिक भाषा हिंदी है और हिन्दी भाषी बहुमत है, अर्थात् बिहार, छत्तीसगढ़, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, झारखंड, मध्य प्रदेश, राजस्थान, उत्तराखंड, उत्तर प्रदेश और राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली का।

'देशी', 'भाखा' (भाषा), 'देशना वचन' (विद्यापति), 'हिंदवी', 'दक्खिनी', 'रेखता', 'आर्यभाषा' (दयानन्द सरस्वती), 'हिंदुस्तानी', 'खड़ी बोली', 'भारती' आदि हिंदी के अन्य नाम हैं, जो विभिन्न ऐतिहासिक कालखण्डों में एवं विभिन्न संदर्भों में प्रयुक्त हुए हैं।

हिन्दी को देवनागरी लिपि में लिखा जाता है। इसे नागरी नाम से भी पुकारा जाता है। देवनागरी में 11 स्वर और 33 व्यंजन हैं और अनुस्वार, अनुनासिक एवं विसर्ग होता है तथा इसे बायें से दाईं ओर लिखा जाता है।

'हिंदी' शब्द की व्युत्पत्ति

हिन्दी शब्द का सम्बंध संस्कृत शब्द सिंधु से माना जाता है। 'सिंधु' सिंध नदी को कहते थे और उसी आधार पर उसके आस-पास की भूमि को सिन्धु कहने लगे। यह सिंधु शब्द ईरानी में जाकर 'हिंदू', हिंदी और फिर 'हिंद' हो गया। बाद में ईरानी धीरे-धीरे भारत के अधिक भागों से परिचित होते गए और इस शब्द के अर्थ में विस्तार होता गया तथा हिंद शब्द पूरे भारत का वाचक हो गया। इसी में ईरानी का ईक प्रत्यय लगने से (हिन्दईक) 'हिंदीक' बना जिसका

अर्थ है 'हिन्द का'। यूनानी शब्द 'इन्दिका' या अंग्रेजी शब्द 'इंडिया' आदि इस 'हिंदीक' के ही विकसित रूप हैं। हिंदी भाषा के लिए इस शब्द का प्राचीनतम प्रयोग शरफुद्दीन यज्दी' के 'जफरनामा'(1424) में मिलता है।

प्रोफेसर महावीर सरन जैन ने अपने 'हिंदी एवं उर्दू का अद्वैत' शीर्षक आलेख में हिंदी की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए कहा है कि ईरान की प्राचीन भाषा अवेस्ता में 'स' ध्वनि नहीं बोली जाती थी। 'स' को '] ' रूप में बोला जाता था। जैसे संस्कृत के 'असुर' शब्द को वहाँ 'अहुर' कहा जाता था। अफगानिस्तान के बाद सिंधु नदी के इस पार हिंदुस्तान के पूरे इलाके को प्राचीन फारसी साहित्य में भी 'हिंद', 'हिंदुश' के नामों से पुकारा गया है तथा यहाँ की किसी भी वस्तु, भाषा, विचार को 'एडजेक्टिव' के रूप में 'हिन्दीक' कहा गया है जिसका मतलब है 'हिन्द का'। यही 'हिन्दीक' शब्द अरबी से होता हुआ ग्रीक में 'इन्दिके', 'इन्दिका', लैटिन में 'इन्दिया' तथा अंग्रेजी में 'इण्डिया' बन गया। अरबी एवं फारसी साहित्य में भारत (हिंद) में बोली जाने वाली भाषाओं के लिए 'जबान-ए-हिन्दी', पद का उपयोग हुआ है। भारत आने के बाद अरबी-फारसी बोलने वालों ने 'जबान-ए-हिंदी', 'हिंदी जबान' अथवा 'हिंदी' का प्रयोग दिल्ली-आगरा के चारों ओर बोली जाने वाली भाषा के अर्थ में किया। भारत के गैर-मुस्लिम लोग तो इस क्षेत्र में बोले जाने वाले भाषा-रूप को 'भाखा' नाम से पुकारते थे, 'हिंदी' नाम से नहीं।

हिन्दी एवं उर्दू

भाषाविद हिन्दी ब्लॉग एवं उर्दू को एक ही भाषा समझते है। हिन्दी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और शब्दावली के स्तर पर अधिकांशतः संस्कृत के शब्दों का प्रयोग करती है। उर्दू, फारसी लिपि में लिखी जाती है और शब्दावली के स्तर पर उस पर फारसी और अरबी भाषाओं का प्रभाव अधिक है। व्याकरणिक रूप से उर्दू और हिन्दी में लगभग कुछ प्रतिशत समानता है। केवल कुछ विशेष क्षेत्रों में शब्दावली के स्रोत (जैसा कि ऊपर लिखा गया है) में अंतर होता है। कुछ विशेष ध्वनियाँ उर्दू में अरबी और फारसी से ली गयी हैं और इसी प्रकार फारसी और अरबी की कुछ विशेष व्याकरणिक संरचना भी प्रयोग की जाती है। उर्दू और हिन्दी को खड़ी बोली की दो शैलियाँ कहा जा सकता है। हम हिन्दी और उर्दू को माँ और मौसी कहते हैं।

परिवार

यूरोपीय भाषा–परिवार के अन्दर आती है। ये हिन्द ईरानी शाखा की हिन्द आर्य उपशाखा के अन्तर्गत वर्गीकृत है। हिन्द–आर्य भाषाएँ वो भाषाएँ हैं, जो संस्कृत से उत्पन्न हुई हैं। उर्दू, कश्मीरी, बंगाली, उड़िया, पंजाबी, रोमानी, मराठी नेपाली जैसी भाषाएँ भी हिन्द–आर्य भाषाएँ हैं।

1. हिन्दी के विभिन्न नाम या रूप
2. देशी भाषा
3. आदी भाषा
4. हिन्दवी
5. खड़ी बोली।

इतिहास क्रम

हिन्दी भाषा का इतिहास लगभग एक हजार वर्ष पुराना माना गया है। हिन्दी भाषा व साहित्य के जानकार अपभ्रंश की अंतिम अवस्था 'अवहट्ठ' से हिन्दी का उद्‌भव स्वीकार करते हैं। चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने इसी अवहट्ठ को 'पुरानी हिन्दी' नाम दिया।

अपभ्रंश की समाप्ति और आधुनिक भारतीय भाषाओं के जन्मकाल के समय को संक्रांतिकाल कहा जा सकता है। हिन्दी का स्वरूप शौरसेनी और अर्धमागधी अपभ्रंशों से विकसित हुआ है। 1000 ई. के आसपास इसकी स्वतंत्र सत्ता का परिचय मिलने लगा था, जब अपभ्रंश भाषाएँ साहित्यिक संदर्भों में प्रयोग में आ रही थीं। यही भाषाएँ बाद में विकसित होकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के रूप में अभिहित हुई। अपभ्रंश का जो भी कथ्य रूप था – वही आधुनिक बोलियों में विकसित हुआ।

अपभ्रंश के सम्बंध में 'देशी' शब्द की भी बहुधा चर्चा की जाती है। वास्तव में 'देशी' से देशी शब्द एवं देशी भाषा दोनों का बोध होता है। प्रश्न यह कि देशीय शब्द किस भाषा के थे ? भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में उन शब्दों को 'देशी' कहा है 'जो संस्कृत के तत्सम एवं सद्‌भव रूपों से भिन्न है। ये 'देशी' शब्द जनभाषा के प्रचलित शब्द थे, जो स्वभावत: अप्रभंश में भी चले आए थे। जनभाषा व्याकरण के नियमों का अनुसरण नहीं करती, परंतु व्याकरण को जनभाषा की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना पड़ता है, प्राकृत–व्याकरणों ने संस्कृत

के ढाँचे पर व्याकरण लिखे और संस्कृत को ही प्राकृत आदि की प्रकृति माना। अत: जो शब्द उनके नियमों की पकड़ में न आ सके, उनको देशी संज्ञा दी गई।

हिन्दी का मानकीकरण

हिन्दी वर्तनी मानकीकरण

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से हिन्दी और देवनागरी के मानकीकरण की दिशा में निम्नलिखित क्षेत्रों में प्रयास हुये हैं :-

हिन्दी व्याकरण का मानकीकरण

वर्तनी का मानकीकरण

शिक्षा मंत्रालय के निर्देश पर केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा देवनागरी का मानकीकरण

वैज्ञानिक ढंग से देवनागरी लिखने के लिये एकरूपता के प्रयास

हिन्दी की शैलियाँ

भाषाविदों के अनुसार हिन्दी के चार प्रमुख रूप या शैलियाँ हैं–

(1) उच्च हिन्दी - हिन्दी का मानकीकृत रूप, जिसकी लिपि देवनागरी है। इसमें संस्कृत भाषा के कई शब्द है, जिन्होंने फारसी और अरबी के कई शब्दों की जगह ले ली है। इसे शुद्ध हिन्दी भी कहते हैं। आजकल इसमें अंग्रेजी के भी कई शब्द आ गये हैं (खास तौर पर बोलचाल की भाषा में)। यह खड़ीबोली पर आधारित है, जो दिल्ली और उसके आस-पास के क्षेत्रों में बोली जाती थी।

(2) दक्खिनी - उर्दू-हिन्दी का वह रूप जो हैदराबाद और उसके आसपास की जगहों में बोला जाता है। इसमें फारसी-अरबी के शब्द उर्दू की अपेक्षा कम होते हैं।

(3) रेखता - उर्दू का वह रूप जो शायरी में प्रयुक्त होता था।

(4) उर्दू - हिन्दवी का वह रूप जो देवनागरी लिपि के बजाय फारसी-अरबी लिपि में लिखा जाता है। इसमें संस्कृत के शब्द कम होते हैं, और फारसी-अरबी के शब्द अधिक। यह भी खड़ीबोली पर ही आधारित है।

हिन्दी और उर्दू दोनों को मिलाकर हिन्दुस्तानी भाषा कहा जाता है। हिन्दुस्तानी मानकीकृत हिन्दी और मानकीकृत उर्दू के बोलचाल की भाषा है। इसमें शुद्ध संस्कृत और शुद्ध फारसी-अरबी दोनों के शब्द कम होते हैं और तद्भव शब्द अधिक। उच्च हिन्दी भारतीय संघ की राजभाषा है (अनुच्छेद 343, भारतीय संविधान)। यह इन भारतीय राज्यों की भी राजभाषा है: उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड, मध्य प्रदेश, उत्तरांचल, हिमाचल प्रदेश, छत्तीसगढ़, राजस्थान, हरियाणा और दिल्ली। इन राज्यों के अतिरिक्त महाराष्ट्र, गुजरात, पश्चिम बंगाल, पंजाब और हिन्दी भाषी राज्यों से लगते अन्य राज्यों में भी हिन्दी बोलने वालों की अच्छी संख्या है। उर्दू पाकिस्तान की और भारतीय राज्य जम्मू और कश्मीर की राजभाषा है, इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश, बिहार,तेलंगाना और दिल्ली में द्वितीय राजभाषा है। यह लगभग सभी ऐसे राज्यों की सह-राजभाषा है, जिनकी मुख्य राजभाषा हिन्दी है।

हिन्दी की बोलियाँ

हिन्दी की विभिन्न बोलियाँ और उनका साहित्य

हिन्दी का क्षेत्र विशाल है तथा हिन्दी की अनेक बोलियाँ (उपभाषाएँ) हैं। इनमें से कुछ में अत्यंत उच्च श्रेणी के साहित्य की रचना भी हुई है। ऐसी बोलियों में ब्रजभाषा और अवधी प्रमुख हैं। ये बोलियाँ हिन्दी की विविधता हैं और उसकी शक्ति भी। वे हिन्दी की जड़ों को गहरा बनाती हैं। हिन्दी की बोलियाँ और उन बोलियों की उपबोलियाँ हैं, जो न केवल अपने में एक बड़ी परंपरा, इतिहास, सभ्यता को समेटे हुए हैं वरन स्वतंत्रता संग्राम, जनसंघर्ष, वर्तमान के बाजारवाद के खिलाफ भी उसका रचना संसार सचेत है।

हिन्दी की बोलियों में प्रमुख हैं- अवधी, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बुंदेली, बघेली, भोजपुरी, हरयाणवी, राजस्थानी, छत्तीसगढ़ी, मालवी, नागपुरी, खोरठा, पंचपरगनिया, कुमाउँनी, मगही आदि। किन्तु हिन्दी के मुख्य दो भेद हैं - पश्चिमी हिन्दी तथा पूर्वी हिन्दी।

शब्दावली

हिन्दी शब्दावली में मुख्यत: दो वर्ग हैं-

प्रथम वर्ग

तत्सम शब्द- ये वे शब्द हैं जिनको संस्कृत से बिना कोई रूप बदले ले लिया गया है। जैसे अग्नि, दुग्ध दन्त, मुख। (परन्तु हिन्दी में आने पर ऐसे शब्दों से विसर्ग का लोप हो जाता है जैसे संस्कृत 'नाम:' हिन्दी में केवल 'नाम' हो जाता है।)।

तद्भव शब्द- ये वे शब्द हैं जिनका जन्म संस्कृत या प्राकृत में हुआ था, लेकिन उनमें काफी ऐतिहासिक बदलाव आया है। जैसेकृ आग, दूध, दाँत, मुँह।

द्वितीय वर्ग

देशज शब्द- देशज का अर्थ है - 'जो देश में ही उपजा या बना हो'। तो देशज शब्द का अर्थ हुआ जो न तो विदेशी भाषा का हो और न किसी दूसरी भाषा के शब्द से बना हो। ऐसा शब्द जो न संस्कृत का हो, न संस्कृत-शब्द का अपभ्रंश हो। ऐसा शब्द किसी प्रदेश (क्षेत्र) के लोगों द्वारा बोल-चाल में यों ही बना लिया जाता है। जैसे- खटिया, लुटिया

विदेशी शब्द- इसके अलावा हिन्दी में कई शब्द अरबी, फारसी, तुर्की, अंग्रेजी आदि से भी आये हैं। इन्हें विदेशी शब्द कहते हैं।

जिस हिन्दी में अरबी, फारसी और अंग्रेजी के शब्द लगभग पूरी तरह से हटा कर तत्सम शब्दों को ही प्रयोग में लाया जाता है, उसे 'शुद्ध हिन्दी' या 'मानकीकृत हिन्दी' कहते हैं।

ध्यातव्य

इनमें से ळ (मूर्धन्य पार्विक अन्तस्थ) एक अतिरिक्त व्यंजन है जिसका प्रयोग हिन्दी में नहीं होता है। मराठी और वैदिक संस्कृत में सभी का प्रयोग किया जाता है।

संस्कृत में का उच्चारण ऐसे होता था: जीभ की नोक को मूर्धा (मुँह की छत) की ओर उठाकर श जैसी आवाज करना। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यंदिनि शाखा में कुछ वाक्यात में का उच्चारण ख की तरह करना मान्य था। आधुनिक हिन्दी में 'ा का उच्चारण पूरी तरह श की तरह होता है।

हिन्दी में ण का उच्चारण कभी-कभी ड्ँ की तरह होता है, यानी कि जीभ मुँह की छत को एक जोरदार ठोकर मारती है। परन्तु इसका शुद्ध उच्चारण जिह्वा

को मूर्धा (मुँह की छत. जहाँ से 'ट' का उच्चार करते हैं) पर लगा कर न की तरह का अनुनासिक स्वर निकालकर होता है।

विदेशी ध्वनियाँ

ये ध्वनियाँ मुख्यत: अरबी और फारसी भाषाओं से लिये गये शब्दों के मूल उच्चारण में होतीं हैं। इनका स्रोत संस्कृत नहीं है। देवनागरी लिपि में ये सबसे करीबी देवनागरी वर्ण के नीचे बिन्दु (नुक्ता) लगाकर लिखे जाते हैं किन्तु हिन्दी की मानक वर्तनी में विदेशी शब्दों को बिना नुक्ते के ही उनके देसीकृत रूप में लिखने की अनुशंशा की गयी है। इसलिये आजकल हिन्दी में नुक्ता लगाने की प्रथा को लोग अनावश्यक मानने लगे हैं और ऐसा माना जाने लगा है कि नुक्ते का प्रयोग केवल तब किया जाय जब अरबी/उर्दू/फारसी वाले अपनी भाषा को देवनागरी में लिखना चाहते हों।

हिन्दी में ड़ और ढ़ व्यंजन फारसी या अरबी से नहीं लिये गये हैं, न ही ये संस्कृत में पाये जाये हैं। वास्तव में ये संस्कृत के साधारण ड, 'ळ' और ढ के बदले हुए रूप हैं।

व्याकरण

हिन्दी व्याकरण

अन्य सभी भारतीय भाषाओं की तरह हिन्दी में भी कर्ता-कर्म-क्रिया वाला वाक्यविन्यास है। हिन्दी में दो लिंग होते हैं - पुल्लिंग और स्त्रीलिंग। नपुंसक वस्तुओं का लिंग भाषा-परम्परा के अनुसार पुलिंग या स्त्रीलिंग होता है। क्रिया का रूप, कर्ता के लिंग पर भी निर्भर करता है। हिन्दी में दो वचन होते हैं—एकवचन और बहुवचन। क्रिया, वचन से भी प्रभावित होती है। विशेषण, विशेष्य के पहले लगता है। ने, को, से, के लिए, का, की, के, में, पर, आदि कारक चिह्न प्रयोग किए जाते हैं।

हिन्दी भाषा के विविध रूप

बोलचाल की भाषा
मानक भाषा
सम्पर्क भाषा

भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों के मध्य परस्पर विचार-विनिमय का माध्यम बनने वाली भाषा को सम्पर्क भाषा कहा जाता है। अपने राष्ट्रीय स्वरूप में ही हिन्दी पूरे भारत की सम्पर्क भाषा बनी हुई है। अपने सीमित रूप में, प्रशासनिक भाषा के रूप में, हिन्दी के व्यवहार में भिन्न भाषाभाषियों के बीच परस्पर सम्प्रेषण का माध्यम बनी हुई है। सम्पूर्ण भारतवर्ष में बोली और समझी जाने वाली राष्ट्रभाषा हिन्दी है, वह सरकार की राजभाषा भी है तथा सारे देश को एक सूत्र में पिरोने वाली सम्पर्क भाषा भी है। इस तरह अपने तीनों रूपों-राष्ट्रभाषा, राजभाषा और सम्पर्क भाषा - में हिन्दी भाषा अपना दायित्व सहजता से निभा रही है क्योंकि इन तीनों में अन्त:सम्बन्ध हैं।

'राष्ट्रभाषा सम्पूर्ण राष्ट्र में स्वीकृत भाषा होती है जबकि प्रशासनिक कार्यों के व्यवहारों में प्रयुक्त होने वाली 'राजभाषा' घोषित की जाती है तथा सम्पर्क भाषा का विकास प्राकृतिक और स्वैचिछक आधार पर होता है, जो सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। सम्पर्क भाषा ही सर्व-स्वीकृत होकर राष्ट्रभाषा बनती है। समृद्ध देशों में राष्ट्रभाषा, राजभाषा और सम्पर्क भाषा के रूप में एक ही भाषा का प्रयोग होता है, जैसे जापान, अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, रूस आदि देश। इस दृष्टि से भारत भी समृद्ध देश है जहाँ हिन्दी ही अपने तीनों रूपों में प्रयुक्त होती है। विश्व के अनेक देशों में हिन्दी का प्रचार-प्रसार हो रहा है।

राजभाषा

1. भारत की राजभाषा के रूप में हिन्दी
2. राष्ट्रभाषा
3. यद्यपि राष्ट्रभाषा के विषय में भारतीय संविधान में कुछ भी नहीं कहा गया है किन्तु राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा कहा था। उन्होने 29 मार्च 1918 को इंदौर में आठवें हिन्दी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता की थी। उस समय उन्होंने अपने सार्वजनिक उद्‌बोधन में पहली बार आहवान किया था कि हिन्दी को ही भारत की राष्ट्रभाषा का दर्जा मिलना चाहिये। उन्होने यह भी कहा था कि राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र गूँगा है। उन्होने तो यहाँ तक कहा था कि हिन्दी भाषा का प्रश्न स्वराज्य का प्रश्न है।
4. आजाद हिन्द फौज का राष्ट्रगान 'शुभ सुख चौन' हिन्दी में था। उनका अभियान गीत 'कदम कदम बढ़ाए जा' भी हिन्दी में था।

हिन्दी और कम्प्यूटर

मुख्य लेख: हिन्दी कम्प्यूटरी, हिन्दी टाइपिंग, कम्प्यूटर और हिन्दी, हिन्दी कम्प्यूटिंग का इतिहास, मोबाइल फोन में हिन्दी समर्थन और अन्तरजाल पर हिन्दी के उपकरण (सॉफ्टवेयर)

कम्प्यूटर और इन्टरनेट ने पिछले वर्षों में विश्व में सूचना क्रांति ला दी है। आज कोई भी भाषा कम्प्यूटर (तथा कम्प्यूटर सदृश अन्य उपकरणों) से दूर रहकर लोगों से जुड़ी नही रह सकती। कम्प्यूटर के विकास के आरम्भिक काल में अंग्रेजी को छोड़कर विश्व की अन्य भाषाओं के कम्प्यूटर पर प्रयोग की दिशा में बहुत कम ध्यान दिया गया जिससे कारण सामान्य लोगों में यह गलत धारणा फैल गयी कि कम्प्यूटर अंग्रेजी के सिवा किसी दूसरी भाषा (लिपि) में काम ही नही कर सकता। किन्तु यूनिकोड के पदार्पण के बाद स्थिति बहुत तेजी से बदल गयी। 19 अगस्त 2009 में गूगल ने कहा की हर 5 वर्षों में हिन्दी की सामग्री में 94: बढ़ोतरी हो रही है।

हिन्दी की इंटरनेट पर अच्छी उपस्थिति है। गूगल जैसे सर्च इंजन हिन्दी को प्राथमिक भारतीय भाषा के रूप में पहचानते हैं। इसके साथ ही अब अन्य भाषा के चित्र में लिखे शब्दों का भी अनुवाद हिन्दी में किया जा सकता है। फरवरी 2018 में एक सर्वेक्षण के हवाले से खबर आयी कि इंटरनेट की दुनिया में हिंदी ने भारतीय उपभोक्ताओं के बीच अंग्रेजी को पछाड़ दिया है। यूथ4वर्क की इस सर्वेक्षण रिपोर्ट ने इस आशा को सही साबित किया है कि जैसे-जैसे इंटरनेट का प्रसार छोटे शहरों की ओर बढ़ेगा, हिंदी और भारतीय भाषाओं की दुनिया का विस्तार होता जाएगा।

इस समय हिन्दी में सजाल, चिट्ठ, विपत्र, गपशप, खोज, सरल मोबाइल सन्देश (एसैमैस) तथा अन्य हिन्दी सामग्री उपलब्ध हैं। इस समय अन्तरजाल पर हिन्दी में संगणन के संसाधनों की भी भरमार है और नित नये कम्प्यूटिंग उपकरण आते जा रहे हैं। लोगों में इनके बारे में जानकारी देकर जागरूकता पैदा करने की जरूरत है ताकि अधिकाधिक लोग कम्प्यूटर पर हिन्दी का प्रयोग करते हुए अपना, हिन्दी का और पूरे हिन्दी समाज का विकास करें। शब्दनगरी जैसी नयी सेवाओं का प्रयोग करके लोग अच्छे हिन्दी साहित्य का लाभ अब इंटरनेट पर भी उठा सकते हैं।

हिन्दी और जनसंचार

हिन्दी के संचार माध्यम और हिन्दी सिनेमा

हिन्दी सिनेमा का उल्लेख किये बिना हिन्दी का कोई भी लेख अधूरा होगा। मुम्बई में स्थित 'बॉलीवुड' हिन्दी फिल्म उद्योग पर भारत के करोड़ो लोगों की धड़कनें टिकी रहती हैं। हर चलचित्र में कई गाने होते हैं। हिन्दी और उर्दू (खड़ीबोली) के साथ साथ अवधी, बम्बइया हिन्दी, भोजपुरी, राजस्थानी जैसी बोलियाँ भी संवाद और गानों में उपयुक्त होती हैं। प्यार, देशभक्ति, परिवार, अपराध, भय, इत्यादि मुख्य विषय होते हैं। अधिकतर गाने उर्दू शायरी पर आधारित होते हैं। कुछ लोकप्रिय चलचित्र हैं– महल (1949), श्री 420 (1955), मदर इंडिया (1957), मुगल-ए-आजम (1960), गाइड (1965), पाकीजा (1972), ब0बी (1973), जंजीर (1973), यादों की बारात (1973), दीवार (1975), शोले (1975), मिस्टर इंडिया (1987), कयामत से कघ्यामत तक (1988), मैंने प्यार किया (1989), जो जीता वही सिकन्दर (1991), हम आपके हैं कौन (1994), दिलवाले दुल्हनिया ले जायेंगे (1995), दिल तो पागल है (1997), कुछ कुछ होता है (1998), ताल (1999), कहो ना प्यार है (2000), लगान (2001), दिल चाहता है (2001), कभी खघुशी कभी गम (2001), देवदास (2002), साथिया (2002), मुन्ना भाई एमबीबीएस (2003), कल हो ना हो (2003), धूम (2004), वीर-जारा (2004), स्वदेस (2004), सलाम नमस्ते (2005), रंग दे बसंती (2006) इत्यादि।

अब मोबाइल कंपनियां ऐसे हैंडसेट बना रही हैं, जो हिंदी और भारतीय भाषाओं को सपोर्ट करते हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियां हिंदी जानने वाले कर्मचारियों को वरीयता दे रही हैं। हॉलीवुड की फिल्में हिंदी में डब हो रही हैं और हिंदी फिल्में देश के बाहर देश से अधिक कमाई कर रही हैं। हिंदी, विज्ञापन उद्योग की पसंदीदा भाषा बनती जा रही है। गूगल, ट्रांसलेशन, ट्रांस्लिटरेशन, फोनेटिक टूल्स, गूगल असिस्टैन्ट आदि के क्षेत्र में नई नई रिसर्च कर अपनी सेवाओं को बेहतर कर रहा है। हिंदी और भारतीय भाषाओं की पुस्तकों का डिजिटलीकरण जारी है।

फेसबुक और व्हाट्सएप हिंदी और भारतीय भाषाओं के साथ तालमेल बिठा रहे हैं। सोशल मीडिया ने हिंदी में लेखन और पत्रकारिता के नए युग का

सूत्रपात किया है और कई जनान्दोलनों को जन्म देने और चुनाव जिताने-हराने में उल्लेखनीय और हैरान करने वाली भूमिका निभाई है। सितम्बर 2018 में प्रकाशित हुई एक अमेरिकी रपट के अनुसार हिन्दी में ट्वीट करना अत्यन्त लोकप्रिय हो रहा है। रपट में कहा गया है कि पिछले वर्ष सबसे अधिक पुनः ट्वीट किए गये 15 सन्देशों में से 11 हिन्दी के थे। हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं का बाजार इतना बड़ा है कि अनेक कम्पनियाँ अपने उत्पाद और वेबसाइटें हिन्दी और स्थानीय भाषाओं में ला रहीं हैं।

हिन्दी का वैश्विक प्रसार

सन् 1998 के पूर्व, मातृभाषियों की संख्या की दृष्टि से विश्व में सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषाओं के जो आँकड़े मिलते थे, उनमें हिन्दी को तीसरा स्थान दिया जाता था। सन् 1997 में 'सैन्सस अ0फ इंडिया' का भारतीय भाषाओं के विश्लेषण का ग्रन्थ प्रकाशित होने तथा संसार की भाषाओं की रिपोर्ट तैयार करने के लिए यूनेस्को द्वारा सन् 1998 में भेजी गई यूनेस्को प्रश्नावली के आधार पर उन्हें भारत सरकार के केन्द्रीय हिन्दी संस्थान के तत्कालीन निदेशक प्रोफेसर महावीर सरन जैन द्वारा भेजी गई विस्तृत रिपोर्ट के बाद अब विश्व स्तर पर यह स्वीकृत है कि मातृभाषियों की संख्या की दृष्टि से संसार की भाषाओं में चीनी भाषा के बाद हिन्दी का दूसरा स्थान है। चीनी भाषा के बोलने वालों की संख्या हिन्दी भाषा से अधिक है किन्तु चीनी भाषा का प्रयोग क्षेत्र हिन्दी की अपेक्षा सीमित है। अंग्रेजी भाषा का प्रयोग क्षेत्र हिन्दी की अपेक्षा अधिक है किन्तु मातृभाषियों की संख्या अंग्रेजी भाषियों से अधिक है।

विश्वभाषा बनने के सभी गुण हिन्दी में विद्यमान हैं। बीसवीं शती के अंतिम दो दशकों में हिन्दी का अनतरराष्ट्रीय विकास बहुत तेजी से हुआ है। हिंदी एशिया के व्यापारिक जगत् में धीरे-धीरे अपना स्वरूप बिंबित कर भविष्य की अग्रणी भाषा के रूप में स्वयं को स्थापित कर रही है। वेब, विज्ञापन, संगीत, सिनेमा और बाजार के क्षेत्र में हिन्दी की मांग जिस तेजी से बढ़ी है वैसी किसी और भाषा में नहीं। विश्व के लगभग 150 विश्वविद्यालयों तथा सैकड़ों छोटे-बड़े केंद्रों में विश्वविद्यालय स्तर से लेकर शोध स्तर तक हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था हुई है। विदेशों में 25 से अधिक पत्र-पत्रिकाएं लगभग नियमित रूप से हिन्दी में प्रकाशित हो रही हैं। यूएई के 'हम एफ-एम' सहित अनेक देश हिन्दी कार्यक्रम प्रसारित कर रहे हैं, जिनमें बीबीसी, जर्मनी के ड0यचे वेले,

जापान के एनएचके वर्ल्ड और चीन के चाइना रेडियो इंटरनेशनल की हिन्दी सेवा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

दिसम्बर 2016 में विश्व आर्थिक मंच ने 10 सर्वाधिक शक्तिशाली भाषाओं की जो सूची जारी की है उसमें हिन्दी भी एक है। इसी प्रकार 'कोर लैंग्वेजेज' नामक साइट ने 'दस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाषाओं' में हिन्दी को स्थान दिया था। के-इण्टरनेशनल ने वर्ष 2017 के लिये सीखने योग्य सर्वाधिक उपयुक्त नौ भाषाओं में हिन्दी को स्थान दिया है।

हिन्दी का एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्थापित करने और विश्व हिन्दी सम्मेलनों के आयोजन को संस्थागत व्यवस्था प्रदान करने के उद्देश्य से 11 फरवरी 2008 को विश्व हिन्दी सचिवालय की स्थापना की गयी थी। संयुक्त राष्ट्र रेडियो अपना प्रसारण हिन्दी में भी करना आरम्भ किया है। हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषा बनाये जाने के लिए भारत सरकार प्रयत्नशील है। अगस्त 2018 से संयुक्त राष्ट्र ने साप्ताहिक हिन्दी समाचार बुलेटिन आरम्भ किया है।

हिंदी भाषा के स्वरूप

अब, आगे हम हिंदी भाषा के उन स्वरूपों से परिचय करना चाहेंगे जो इनके प्रकृतिगत रूप हैं और प्रयोगपरक रूप अर्थात प्रयोजनपरक अथवा व्यवसायगत रूप हैं ।

1 . हिंदी के प्रकृतिक रूप पाँच हैं–

(क) मातृभाषा हिंदी: हिंदी का मातृभाषिक प्रदेश दिल्ह्ली और दिल्ली से लगा उत्तर प्रदेश का जिला मेरठ मात्र है। वस्तुत: मातृभाषा वह भाषा है जिसे व्यक्ति अपनी माता की गोद में सीखता है, अर्थात् उसे माँ-बाप, उसे अड़ोस-पड़ोस, उसके अपने संस्ह्कार की भाषा मातृभाषा होती है। मातृभाषा की पहचान के संबंध में गुलाब राय ने अपने लेख "मातृभाषा की महत्ता" में लिखा है कि यदि किसी की मातृभाषा का पता करना हो और, यह किसी भी प्रकार पता नहीं चल पाएं तो अचानक पीछे से उसकी पीठ पर मुक्ह्का मारो। ऐसी स्थिति में जिस भाषा में वह अपनी आह व्यक्त करे वहीं उसकी मातृभाषा होगी। कारण, कोई कितना भी विदेशी भाषा का ज्ञान रखने वाला हो, अतिशय सुख अथवा अतिशय दु:ख की अवस्था में वह अपनी मातृभाषा में ही अपने हृदय का भाव व्यक्त करेगा। यह एक अजीब-सी बात देखने को मिलती है कि जो हिंदी

मातृभाषा के रूप में मात्र दिल्ह्ली और उससे लगे मेरठ जिले एंव उसके आस-पास के एक छोटे से भू-भाग में प्रयोग में रही, द्वितीय भाषा के रूप में लगभग सारे भारत के विस्ष्तार में प्राजल संपर्क का एक मात्र साधन बन चुकी है।

(ख) संपर्क भाषा हिंदी–एक भाषा भाषी जिसे भाषा के माध्यम से किसी दूसरी भाषा के बोलने वालों के साथ संपर्क स्थापित कर सके, उसे संपर्क भाषा कहते हैं। ऐसी भाषा मात्र दो या दो से अधिक भिन्न-भिन्न भाषा भाषियों के बीच संपर्क का माध्यम नहीं बनती जो एक दूसरे की भाशा से परिचित नहीं हैं, अपतु दो या दो से अधिक भिन्न-भिन्न भाषाभाषी राज्यों के बीच तथा केंद्र और राजयों के बीच भी संपर्क स्थापित करने का माध्यम बन सकती हैं। भारत के ही प्राचीन इतिहास पर यदि हम नजर डालते हैं तो पाते हैं कि यहाँ हर युग में राष्ट्र की एक प्रमुख भाषा संपर्क भाषा की भूमिका का निर्वाह करती रही है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के उद्भव और विकास से पहले संपर्क भाषा की इसी परंपरा के क्रम में हम संस्ष्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश का प्राजल प्रयोग पाते हैं। बाद में, मुगल शासन, देशी राजाओं और अंग्रेजी शासन काल में हिंदी को संपूर्ण रूप से तो नहीं, किंतु आंशिक रूप से संपर्क भाषा के रूप में व्यवहार किया गया। आजादी की लड़ाई के समय में गाँधी और सुभाष जैसे गैर हिंदी भाषी नेताओं ने देश के विभिन्न क्षेत्रों में क्रांति संदेश देने और दो भिन्न-भाषियों के बीच संपर्क के लिए हिंदी को संपर्क भाषा के रूप में अपनाया। आजादी के बाद हमारी यहां हिंदी देश की सर्वमान्य भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है।

(ग) राष्ट्र भाषा हिंदी–राष्ट्रभाषा का अर्थ है राष्ट्र की भाषा। इस तरह राष्ट्र की जितनी भी भाषाएं है, सभी राष्ट्रभाषा है। फल्स्वरूप भारत के संविधान की अष्टम अनुसूची में सम्मिलित 22 भाषाओं के अतिरिक्त देश की दर्जनों अन्य भाषाएं भी जो अपने अपने क्षेत्रों में लोक सम्प्रेषण के माध्यम है हमारी राष्ट्र भाषाएं है। यही कारण है कि भारत के संविधान में इनमें से किसी भी एक भाषा को राष्ट्रभाषा के नाम से अभिहित नहीं किया गया है। यही राजभाषा, संघभाषा अथवा संपर्क भाषा जैसे शब्दों का ही व्यवहार हुआ है। परंतु इतना होते हुए भी एक विशिष्ट अर्थ में राष्ट्रभाषा की संकल्पना और उसकी सार्थकता से हम इन्कार नहीं कर सकते और इस सार्थकता एवं यथार्थता के हकदार भी अपनी स्थिति के चलते हिंदी हो रही है।

राजभाषा अथवा संपर्क भाषा अपनी एक सीमा में परिधि में बंधी है, परन्तु, उस परिधि की सीमा के आर-पार विस्तृत व्यापक आयामों में परिव्याप्त, राष्ट्र के प्रशासन समस्त कार्य व्यापार, व्यवसाय रीति-नीति तकनीक तथा संस्कति और परंपरा को अभिव्यक्ति देने वाली तथा विश्व के विभिन्न देशों तक इन्हें पहुचाने में समर्थ राष्ट्र की एक सुगम सुबोध एवं सशक्त भाषा राष्ट्र भाषा होती है। भारत में इस रूप में राष्ट्रभाषा के स्वरूप में भी हिंदी स्वभावत: प्रतिष्ठित है। वस्तुत: राष्ट्रभाषा राष्ट्र की वह भाषा होती है, जो अपने व्यापक परिवेश और विकासोन्मुख प्रवर्धमान शक्तियों के चलते अपनी क्षेत्रीयता की सीमा से उपर उठते हुए देश के विभिन्न क्षेत्रों संवेदन स्पंदन को अपनी आत्मा में समेट कर उसे प्रकाश, अभिव्यक्ति देती है, और जो विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न भाषा भाषियों के बीच भावनात्मक ऐक्य स्थापित करने में सेतु का काम करता है। हिंदी इन दोनों ही दायित्वों का बखूबी निर्वाह कर रही है, और इसलिए इसकी राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठा किसी कृत्रिम प्रयास का नहीं, स्वाभाविक गति का परिणाम है-

(घ) राजभाषा हिंदी-राजभाषा का अर्थ है वह भाषा जो राजकाज. प्रशासन-तंत्र के कार्य के संपादन को गतिविधि की कार्यकलापों की भाषा हो जैसे हर देश के अपने प्रतीक स्वरूप झंडे होते है और उसे राष्ट्रध्वज के नाम से पुकारते हैं, उसी तरह हर देश की समग्रता की अभिव्यक्ति माध्यम के रूप में सार्वदेशिक स्वरूप रखनेवाली उसकी राजकीय गतिविधि के संपादन की एक भाषा भी होती है और उस भाषा को राजभाषा की संज्ञा दी जाती है। परंतु ऐसे संघ राष्ट्रों में जहां देश राष्ट के भिन्न भिन्न राज्यों का अलग अलग राजभाषाएं है वहां भाषा संघ की राजभाषा होती है, जो आमतौर पर समस्त देश में अथवा देश के अधिकांश भागों में परस्पर भिन्न भिन्न भाषभाषियों के बीच संपर्क माध्यम का कार्य तो करती ही है , देश की शिक्षा, देश का ज्ञान विज्ञान, रीति-नीति, कला संस्कृति आदि से संबंधित समस्त कार्यव्यापारी का निर्वाह भी करती है । हिंदी बखूबी इन दायित्वों का निर्वाह करती है । यह आजादी से पहले मुगल शासन काल में और अंग्रेजी शासन काल में अनेक देशी राजाओं के राज्य की राजभाषा देश के व्यापक क्षेत्रों की संपर्क भाषा तथा मुगल एवं अंग्रेजी शासन में ऊपरी तौर पर द्वितीय राजभाषा की तरह प्रयोग की जाती रही ।

आजादी की लड़ाई में इसे विभिन्न भाषाभाषी सेनानियों के बीच भावों विचारों एवं कार्ययोजनाओं के संपादन के लिए संपर्क भाषा के रूप में अपनाया

गया । यही कारण था कि संविधान सभा ने 14 सितंबर 1949 को इस प्राजल भारतीय संपर्क भाषा एवं राष्ट्रभाषा को संघ की राजभाषा बनाने का संकल्प पारित किया।

भारत के संविधान के अनुसार "देवनागरी लिपि में हिंदी संघ की राजभाषा होगी । "

वस्तुत: संविधान की अष्टम अनुसूची में सम्मिलित देश की बाइसों (22) भाषाएं देश की राजभाषाएं है । परंतु जब हम पूरे देश को ध्यान में रखकर राजभाषा की चर्चा करते हैं तो उसका एक मात्र अर्थ होता है संघ की राजभाषा जो संघ के प्रशासनिक कार्यों संघ और राज्यों के बीच संपर्क तथा अपने देश का दूसरों देशों के साथ राजनायिक संबंध और परस्पर आदान प्रदान के माध्यम के रूप में प्रायुक्त होता है । यही हिंदी भारत के संघ की राजभाषा है।

(ङ) बहुराष्ट्रीय भाषा हिंदी अथवा विश्वात्मक भाषा हिंदी–बहुराष्ट्रीय भाषा अथवा विश्वात्मक भाषा से उस भाषा का बोध होता है, जो एक से अधिक देशें में प्रयोग किया जाता है । हिंदी गुयाना, फिजी, सुरिनाम, मॉरीशस त्रिनिदाद आदि अनेक देशों में बहुसंख्यक जनता के बीच संपर्क भाषा के रूप में प्रयोग की जाती है । भारत के पड़ोसी देश नेपाल,बर्मा, श्रीलंका आदि के अतिरिक्त इंग्लैंड अमेरिका, कनाडा, अफ्रिका, आदि देशों में काभी संख्या में एशियाई लोग हैं जिनके बीच हिंदी संपर्ध्क भाषा है । मुस्लिम देशों में तो हिंदी इतनी परिचित एवं सुलभ है कि वे अनेक हिंदी सीरियल बड़े चाव से और नियमित रूप से देखते हैं । विश्व के अधिकांश बड़े देशों में विश्वविद्यालय स्तर तक हिंदी का पाठ्यक्रम है और उसमें काफी छात्र-छात्राएं अध्ययनरत है । आज. विश्वात्मक गणना के आधार पर हिंदी विश्व में सबसे अधिक बोली समझी जाने वाली भाषाओं में पहले स्थान पर है । तात्पर्य यह है कि विश्व में किसी एक भाषा बोलने समझने वालों में हिंदी बोलने समझने वाले सर्वाधिक लोग है ।

भारत में आद्योगित उदारीकरण के फलस्वरूप बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आगमन और उनके द्वारा इस देश में अपने व्यवसाय के प्रसार के उद्देश्य से देश की व्यापक जन भाषा हिंदी को व्यावसायिक संपर्क भाषा के रूप में प्रयोग तथा टी.वी चौनलों क्षरा हिंदी के अनेक कार्यक्रमों का एक साथ भारत अरब इंग्लैंड, अमेरिका आदि में प्रसारण से पहले विश्व के अनेक देशों में हिंदी का प्रयोग होने की जानकारी के बावजूद इस भाषा के बहुराष्ट्रीय भाषिक स्वरूप अथवा यूँ कहें कि विश्वात्मक स्वरूप से आम तौर पर इस देश के बुद्धिजीवी भी परिचित नहीं

थे । विश्व स्तर पर सबसे अधिक लोगों द्वारा जानी समझी जाने वाली भाषाओं के बीच प्रथम स्थान ग्रहण्ध करने के पश्चात भी हमारे पढ़े-लिखे भारतीय की मानस दशा कुछ ऐसी हो चुकी है कि हम बुद्धिजीवी भी हिंदी के विश्वात्मक स्वरूप को अपने मानस-पटल पर उतार पाने में बड़ी कठिनाई अनुभव कर रहे हैं, जन सामान्य की तो बात ही क्या? फिर भी आज हिंदी के विश्वात्मक प्रकृति से हम अपना पल्ला नहीं झाड़ सकते, न ही इस तथ्य को झुठला सकते है।

2

हिंदी साहित्य

हिन्दी भारत और विश्व में सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषाओं में से एक है। उसकी जड़ें प्राचीन भारत की संस्कृत भाषा में तलाशी जा सकती हैं। परंतु हिन्दी साहित्य की जड़ें मध्ययुगीन भारत की अवधी, मागधी , अर्धमागधी तथा मारवाड़ी जैसी भाषाओं के साहित्य में पायी जाती हैं। हिंदी में गद्य का विकास बहुत बाद में हुआ और इसने अपनी शुरुआत कविता के माध्यम से जो कि ज्यादातर लोकभाषा के साथ प्रयोग कर विकसित की गई। हिंदी का आरंभिक साहित्य अपभ्रंश में मिलता है। हिंदी में तीन प्रकार का साहित्य मिलता है। गद्य पद्य और चम्पू। हिंदी की पहली रचना कौन सी है इस विषय में विवाद है लेकिन ज्यादातर साहित्यकार लाला श्रीनिवासदास द्वारा लिखे गये उपन्यास परीक्षा गुरु ,, को हिन्दी की पहली प्रामाणिक गद्य रचना मानते हैं।

हिन्दी साहित्य का इतिहास

हिंदी साहित्य का आरंभ आठवीं शताब्दी से माना जाता है। यह वह समय है जब सम्राट् हर्ष की मृत्यु के बाद देश में अनेक छोटे-छोटे शासन केंद्र स्थापित हो गए थे जो परस्पर संघर्षरत रहा करते थे। विदेशी मुसलमानों से भी इनकी टक्कर होती रहती थी। हिन्दी साहित्य के विकास को आलोचक सुविधा के लिये पाँच ऐतिहासिक चरणों में विभाजित कर देखते हैं, जो क्रमवार निम्नलिखित हैं–

आदिकाल (13751375) विक्रम संवत से पहले)
भक्ति काल (1375-1700)(1375-1700)
रीति काल (1700-1900)(1700-1900)
आधुनिक काल (18501850 ईस्वी के पश्चात)
नव्योत्तर काल (19801 9 80 ईस्वी के पश्चात)
आदिकाल (1050 विक्रमी संवत से 1375 विक्रमी संवत)

आदिकाल

हिन्दी साहित्य आदिकाल को आलोचक 1400 ईसवी से पूर्व का काल मानते हैं जब हिन्दी का उद्‌भव हो ही रहा था। हिन्दी की विकास-यात्रा दिल्ली, कन्नौज और अजमेर क्षेत्रों में हुई मानी जाती है। पृथ्वीराज चौहान का उस समय दिल्ली में शासन था और चंदबरदाई नामक उसका एक दरबारी कवि हुआ करता था। चंदबरदाई की रचना 'पृथ्वीराजरासो' है, जिसमें उन्होंने अपने मित्र पृथ्वीराज की जीवन गाथा कही है। 'पृथ्वीराज रासो' हिंदी साहित्य में सबसे बृहत् रचना मानी गई है। कन्नौज का अंतिम राठौड़ शासक जयचंद था जो संस्कृत का बहुत बड़ा संरक्षक था।

भक्ति काल (1375 विक्रमी संवत-1700 विक्रमी संवत)

भक्ति काल

हिन्दी साहित्य का भक्ति काल 1375 वि0 से 1700 वि0 तक माना जाता है। यह काल प्रमुख रूप से भक्ति भावना से ओतप्रोत काल है। इस काल को समृद्ध बनाने वाली दो काव्य-धाराएं हैं -1.निर्गुण भक्तिधारा तथा 2.सगुण भक्तिधारा। निर्गुण भक्तिधारा को आगे दो हिस्सों में बांटा जा सकता है, संत काव्य (जिसे ज्ञानाश्रयी शाखा के रूप में जाना जाता है,इस शाखा के प्रमुख कवि , कबीर, नानक, दादूदयाल, रैदास, मलूकदास, सुन्दरदास, धर्मदास आदि हैं।

निर्गुण भक्तिधारा का दूसरा हिस्सा सूफी काव्य का है। इसे प्रेमाश्रयी शाखा भी कहा जाता है। इस शाखा के प्रमुख कवि हैं- मलिक मोहम्मद जायसी, कुतुबन, मंझन, शेख नबी, कासिम शाह, नूर मोहम्मद आदि।

भक्तिकाल की दूसरी धारा को सगुण भक्ति धारा के रूप में जाना जाता है। सगुण भक्तिधारा दो शाखाओं में विभक्त है- रामाश्रयी शाखा, तथा कृष्णाश्रयी

शाखा। रामाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि हैं- तुलसीदास, अग्रदास, नाभादास, केशवदास, हृदयराम, प्राणचंद चौहान, महाराज विश्वनाथ सिंह, रघुनाथ सिंह।

कृष्णाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि हैं- सूरदास, नंददास, कुम्भनदास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुज दास, कृष्णदास, मीरा, रसखान, रहीम आदि। चार प्रमुख कवि जो अपनी-अपनी धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये कवि हैं (क्रमशः)

कबीरदास (1399)-(1518)
मलिक मोहम्मद जायसी (1477-1542)
सूरदास (1478-1580)
तुलसीदास (1532-1602)
रीति काल (1700-1900) आचार्य राम चन्द्र शुक्ल के अनुसार -

रीति काल

हिंदी साहित्य का रीति काल संवत 1700 से 1900 तक माना जाता है यानी 1643ई. से 1843ई. तक। रीति का अर्थ है बना बनाया रास्ता या बंधी-बंधाई परिपाटी। इस काल को रीतिकाल कहा गया क्योंकि इस काल में अधिकांश कवियों नेश्रृंगार वर्णन, अलंकार प्रयोग, छंद बद्धता आदि के बंधे रास्ते की ही कविता की। हालांकि घनानंद, बोधा, ठाकुर, गोबिंद सिंह जैसे रीति-मुक्त कवियों ने अपनी रचना के विषय मुक्त रखे।

केशव (1546-1618), बिहारी (1603-1664), भूषण (1613-1705), मतिराम, घनानन्द , सेनापति आदि इस युग के प्रमुख रचनाकार रहे।

आधुनिक काल (1900 ईस्वी के पश्चात)

आधुनिक काल हिंदी साहित्य पिछली दो सदियों में विकास के अनेक पड़ावों से गुजरा है। जिसमें गद्य तथा पद्य में अलग अलग विचार धाराओं का विकास हुआ। जहां काव्य में इसे छायावादी युग, प्रगतिवादी युग, प्रयोगवादी युग और यथार्थवादी युग इन चार नामों से जाना गया, वहीं गद्य में इसको, भारतेंदु युग, द्विवेदी युग, रामचंदघ शुक्ल व प्रेमचंद युग तथा अद्यतन युग का नाम दिया गया।

अद्यतन युग के गद्य साहित्य में अनेक ऐसी साहित्यिक विधाओं का विकास हुआ जो पहले या तो थीं ही नहीं या फिर इतनी विकसित नहीं थीं कि

उनको साहित्य की एक अलग विधा का नाम दिया जा सके। जैसे डायरी, याघ्त्रा विवरण, आत्मकथा, रूपक, रेडियो नाटक, पटकथा लेखन, फिल्म आलेख इत्यादि.

नव्योत्तर काल (1980 ईस्वी के पश्चात)

नव्योत्तर काल की कई धाराएं हैं – एक, पश्चिम की नकल को छोड़ एक अपनी वाणी पानाय दो, अतिशय अलंकार से परे सरलता पानाय तीन, जीवन और समाज के प्रश्नों पर असंदिग्ध विमर्श।

कंप्यूटर के आम प्रयोग में आने के साथ साथ हिंदी में कंप्यूटर से जुड़ी नई विधाओं का भी समावेश हुआ है, जैसे- चिट्ठालेखन और जालघर की रचनाएं। हिन्दी में अनेक स्तरीय हिंदी चिट्ठे, जालघर व जाल पत्रिकायें हैं। यह कंप्यूटर साहित्य केवल भारत में ही नहीं अपितु विश्व के हर कोने से लिखा जा रहा है। इसके साथ ही अद्यतन युग में प्रवासी हिंदी साहित्य के एक नए युग का आरंभ भी माना जा सकता है।

हिन्दी की विभिन्न बोलियों का साहित्य

भाषा के विकास–क्रम में अपभ्रंश से हिन्दी की ओर आते हुए भारत के अलग–अलग स्थानों पर अलग–अलग भाषा–शैलियां जन्मीं। हिन्दी इनमें से सबसे अधिक विकसित थी, अत: उसको भाषा की मान्यता मिली। अन्य भाषा शैलियां बोलियां कहलाईं। इनमें से कुछ में हिंदी के महान कवियों ने रचना की जैसे तुलसीदास ने रामचरित मानस को अवधी में लिखा और सूरदास ने अपनी रचनाओं के लिए बृज भाषा को चुना, विद्यापति ने मैथिली में और मीराबाई ने राजस्थानी को अपनाया।

हिंदी की विभिन्न बोलियों का साहित्य आज भी लोकप्रिय है और आज भी अनेक कवि और लेखक अपना लेखन अपनी–अपनी क्षेत्रीय भाषाओं में करते हैं।

हिन्दी साहित्य पर अगर समुचित परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाए तो स्पष्ट होता है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास अत्यंत विस्तृत व प्राचीन है। सुप्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक डॉ. हरदेव बाहरी के शब्दों में, हिन्दी साहित्य का इतिहास वस्तुत: वैदिक काल से आरम्भ होता है। यह कहना ही ठीक होगा कि वैदिक भाषा ही हिन्दी है। इस भाषा का दुर्भाग्य रहा है कि युग–युग में इसका नाम परिवर्तित होता

रहा है। कभी 'वैदिक', कभी 'संस्कृत', कभी 'प्राकृत', कभी 'अपभ्रंश' और अब - हिन्दी। आलोचक कह सकते हैं कि 'वैदिक संस्कृत' और 'हिन्दी' में तो जमीन-आसमान का अन्तर है। पर ध्यान देने योग्य है कि हिब्रू, रूसी, चीनी, जर्मन और तमिल आदि जिन भाषाओं को 'बहुत पुरानी' बताया जाता है, उनके भी प्राचीन और वर्तमान रूपों में जमीन-आसमान का अन्तर है, पर लोगों ने उन भाषाओं के नाम नहीं बदले और उनके परिवर्तित स्वरूपों को 'प्राचीन', 'मध्यकालीन', 'आधुनिक' आदि कहा गया, जबकि 'हिन्दी' के सन्दर्भ में प्रत्येक युग की भाषा का नया नाम रखा जाता रहा।

हिन्दी भाषा के उद्‌भव और विकास के सम्बन्ध में प्रचलित धारणाओं पर विचार करते समय हमारे सामने हिन्दी भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न दसवीं शताब्दी के आसपास की प्राकृताभास भाषा तथा अपभ्रंश भाषाओं की ओर जाता है। अपभ्रंश शब्द की व्युत्पत्ति और जैन रचनाकारों की अपभ्रंश कृतियों का हिन्दी से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए जो तर्क और प्रमाण हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में प्रस्तुत किये गये हैं उन पर विचार करना भी आवश्यक है। सामान्यत: प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश-अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव स्वीकार किया जाता है। उस समय अपभ्रंश के कई रूप थे और उनमें सातवीं-आठवीं शताब्दी से ही पद्य-रचना प्रारम्भ हो गयी थी।

साहित्य की दृष्टि से पद्यबद्ध जो रचनाएँ मिलती हैं वे दोहा रूप में ही हैं और उनके विषय, धर्म, नीति, उपदेश आदि प्रमुख हैं। राजाश्रित कवि और चारण नीति,श्रृंगार, शौर्य, पराक्रम आदि के वर्णन से अपनी साहित्य-रुचि का परिचय दिया करते थे। यह रचना-परम्परा आगे चलकर शौरसेनी अपभ्रंश या 'प्राकृताभास हिन्दी' में कई वर्षों तक चलती रही। पुरानी अपभ्रंश भाषा और बोलचाल की देशी भाषा का प्रयोग निरन्तर बढ़ता गया। इस भाषा को विद्यापति ने देशी भाषा कहा है, किन्तु यह निर्णय करना सरल नहीं है कि हिन्दी शब्द का प्रयोग इस भाषा के लिए कब और किस देश में प्रारम्भ हुआ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास का लेखन

आरंभिक काल से लेकर आधुनिक व आज की भाषा में आधुनिकोत्तर काल तक साहित्य इतिहास लेखकों के शताधिक नाम गिनाये जा सकते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास शब्दबद्ध करने का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण था।

हिन्दी साहित्य के इतिहासकार और उनके ग्रन्थ

हिन्दी साहित्य के मुख्य इतिहासकार और उनके ग्रन्थ निम्नानुसार हैं –

1. गार्सा द तासी: इस्तवार द ला लितेरात्यूर ऐंदुई ऐंदुस्तानी (फ्रेंच भाषा मेंय फ्रेंच विद्वान, हिन्दी साहित्य के पहले इतिहासकार),(1839)
2. मौलवी करीमुद्दीन: तजकिरा-ऐ-शुअराई, (1848)
3. शिवसिंह सेंगर: शिव सिंह सरोज,(1883)
4. जार्ज ग्रियर्सन: द मॉडर्न वर्नेक्यूलर लिट्रैचर अ0फ हिंदोस्तान, (1888)
5. मिश्र बंधु: मिश्र बंधु विनोद (चार भागों में) भाग 1,2 और 3-(1913 में) भाग 4 (1934 में)
6. एडविन ग्रीव्स: ए स्कैच अ0फ हिंदी लिटरेचर,(1917)
7. एफ. ई. के. महोदय: ए हिस्ट्री अ0फ हिंदी लिटरेचर (1920)
8. रामचंद्र शुक्ल: हिन्दी साहित्य का इतिहास (1929)
9. हजारी प्रसाद द्विवेदी: हिन्दी साहित्य की भूमिका(1940)य हिन्दी साहित्य का आदिकाल(1952), हिन्दी साहित्य रूउद्भव और विकास(1955)
10. रामकुमार वर्मा: हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास(1938)
11. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा: हिन्दी साहित्य (तीन खण्डों में)
12. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास (सोलह खण्डों में) – 1957 से 1984 ई. तक।
13. डॉ. नगेन्द्र: हिन्दी साहित्य का इतिहास (1973)य हिन्दी वाङ्मय 20वीं शती
14. रामस्वरूप चतुर्वेदी: हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986
15. बच्चन सिंह: हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली(1996)
16. डॉ. मोहन अवस्थी: हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास
17. बाबू गुलाब राय: हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास

हिन्दी साहित्य के विकास के विभिन्न काल

हिन्दी साहित्य का आरंभ आठवीं शताब्दी से माना जाता है। यह वह समय है जब सम्राट् हर्ष की मृत्यु के बाद देश में अनेक छोटे छोटे शासनकेन्द्र स्थापित

हो गए थे जो परस्पर संघर्षरत रहा करते थे। विदेशी मुसलमानों से भी इनकी टक्कर होती रहती थी। धार्मिक क्षेत्र अस्तव्यस्त थे। इन दिनों उत्तर भारत के अनेक भागों में बौद्ध धर्म का प्रचार था। बौद्ध धर्म का विकास कई रूपों में हुआ जिनमें से एक वज्रयान कहलाया। वज्रयानी तांत्रिक थे और सिद्ध कहलाते थे। इन्होंने जनता के बीच उस समय की लोकभाषा में अपने मत का प्रचार किया। हिन्दी का प्राचीनतम साहित्य इन्हीं वज्रयानी सिद्धों द्वारा तत्कलीन लोकभाषा पुरानी हिन्दी में लिखा गया। इसके बाद नाथपंथी साधुओं का समय आता है। इन्होंने बौद्ध, शांकर, तंत्र, योग और शैव मतों के मिश्रण से अपना नया पंथ चलाया जिसमें सभी वर्गों और वर्णों के लिए धर्म का एक सामान्य मत प्रतिपादित किया गया था। लोकप्रचलित पुरानी हिन्दी में लिखी इनकी अनेक धार्मिक रचनाएँ उपलब्ध हैं। इसके बाद जैनियों की रचनाएँ मिलती हैं। स्वयंभू का 'imepfjm' अथवा रामायण आठवीं शताब्दी की रचना है। बौद्धों और नाथपंथियों की रचनाएँ मुक्तक और केवल धार्मिक हैं पर जैनियों की अनेक रचनाएँ जीवन की सामान्य अनुभूतियों से भी संबद्ध हैं। इनमें से कई प्रबंधकाव्य हैं। इसी काल में अब्दुर्रहमान का काव्य 'संदेशरासक' भी लिखा गया जिसमें परवर्ती बोलचाल के निकट की भाषा मिलती है। इस प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी तक पुरानी हिन्दी का रूप निर्मित और विकसित होता रहा।

आदिकाल (650ई. से 1375ई.)

ग्यारहवीं सदी के लगभग देशभाषा हिन्दी का रूप अधिक स्फुट होने लगा। उस समय पश्चिमी हिन्दी प्रदेश में अनेक छोटे छोटे राजपूत राज्य स्थापित हो गए थे। ये परस्पर अथवा विदेशी आक्रमणकारियों से प्रायः युद्धरत रहा करते थे। इन्हीं राजाओं के संरक्षण में रहनेवाले चारणों और भाटों का राजप्रशस्तिमूलक काव्य वीरगाथा के नाम से अभिहित किया गया। इन वीरगाथाओं को रासो कहा जाता है। इनमें आश्रयदाता राजाओं के शौर्य और पराक्रम का ओजस्वी वर्णन करने के साथ ही उनके प्रेमप्रसंगों का भी उल्लेख है। रासो ग्रन्थों में संघर्ष का कारण प्रायः प्रेम दिखाया गया है। इन रचनाओं में इतिहास और कल्पना का मिश्रण है। रासो वीरगीत (बीसलदेवरासो और आल्हा आदि) और प्रबंधकाव्य (पृथ्वीराजरासो, खुमानरासो आदि) - इन दो रूपों में लिखे गये। इन रासो ग्रन्थों में से अनेक की उपलब्ध प्रतियाँ चाहे ऐतिहासिक दृष्टि से संदिग्ध हों पर इन वीरगाथाओं की मौखिक परंपरा अंसदिग्ध है। इनमें शौर्य और प्रेम की ओजस्वी और सरस अभिव्यक्ति हुई है।

इसी कालावधि में मैथिल कोकिल विद्यापति हुए जिनकी पदावली में मानवीय सौंदर्य ओर प्रेम की अनुपम व्यंजना मिलती है। कीर्तिलता और कीर्तिपताका इनके दो अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। अमीर खुसरो का भी यही समय है। इन्होंने ठेठ खड़ी बोली में अनेक पहेलियाँ, मुकरियाँ और दो सखुन रचे हैं। इनके गीतों, दोहों की भाषा ब्रजभाषा है। आदिकाल के प्रमुख कवि और उनकी रचनाएँ अक्तूबर 02, 2009 आज हम आदिकालीन कवियों की प्रमुख कृतियों का विवरण प्रस्तुत कर रहें हैं: 1. अब्दुर्रहमान: संदेश रासक 2. नरपति नाल्ह: बीसलदेव रासो (अपभ्रंश हिंदी) 3. चंदबरदायी: पृथ्वीराज रासो (डिंगल-पिंगल हिंदी) 4. दलपति विजय: खुमान रासो (राजस्थानी हिंदी) 5. जगनिक: परमाल रासो 6. शार्गधर: हम्मीर रासो 7. नल्ह सिंह: विजयपाल रासो 8. जल्ह कवि: बुद्धि रासो 9. माधवदास चारण: राम रासो 10. देल्हण: गद्य सुकुमाल रासो 11. श्रीधर: रणमल छंद , पीरीछत रायसा 12. जिनधर्मसूरि: स्थूलिभद्र रास 13. गुलाब कवि: करहिया कौ रायसो 14. शालिभद्रसूरि: भरतेश्वर बाहुअलिरास 15. जोइन्दु: परमात्म प्रकाश 16. केदार: जयचंद प्रकाश 17. मधुकर कवि: जसमयंक चंद्रिका 18. स्वयंभू: पउम चरिउ 19. योगसार रूसानयधम्म दोहा 20. हरप्रसाद शास्त्री: बौद्धगान और दोहा 21. धनपाल: भवियत्त कहा 22. लक्ष्मीधर: प्राकृत पैंगलम 23. अमीर खुसरो: किस्सा चाहा दरवेश, खालिक बारी 24. विद्यापति: कीर्तिलता, कीर्तिपताका, विद्यापति पदावली (मैथिली)

भक्तिकाल (1375 से 1700 ई.)

तेरहवीं सदी तक धर्म के क्षेत्र में बड़ी अस्तव्यस्तता आ गई। जनता में सिद्धों और योगियों आदि द्वारा प्रचलित अंधविश्वास फैल रहे थे, शास्त्रज्ञानसंपन्न वर्ग में भी रूढ़ियों और आडंबर की प्रधानता हो चली थी। मायावाद के प्रभाव से लोकविमुखता और निष्क्रियता के भाव समाज में पनपने लगे थे। ऐसे समय में भक्तिआंदोलन के रूप में ऐसा भारतव्यापी विशाल सांस्कृतिक आंदोलन उठा जिसने समाज में उत्कर्षविधायक सामाजिक और वैयक्तिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की।

भक्ति आंदोलन का आरंभ दक्षिण के आलवार सन्तों द्वारा दसवीं सदी के लगभग हुआ। वहाँ शंकराचार्य के अद्वैतमत और मायावाद के विरोध में चार वैष्णव संप्रदाय खड़े हुए। इन चारों संप्रदायों ने उत्तर भारत में विष्णु के अवतारों का प्रचारप्रसार किया। इनमें से एक के प्रवर्तक रामानुजाचार्य थे, जिनकी शिष्यपरंपरा

में आनेवाले रामानंद ने (पंद्रहवीं सदी) उत्तर भारत में रामभक्ति का प्रचार किया। रामानंद के राम ब्रह्म के स्थानापन्न थे जो राक्षसों का विनाश और अपनी लीला का विस्तार करने के लिए संसार में अवतीर्ण होते हैं। भक्ति के क्षेत्र में रामानंद ने ऊँचनीच का भेदभाव मिटाने पर विशेष बल दिया। राम के सगुण और निर्गुण दो रूपों को माननेवाले दो भक्तों – कबीर और तुलसी को इन्होंने प्रभावित किया। विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैत मत का आधार लेकर इसी समय वल्लभाचार्य ने अपना पुष्टिमार्ग चलाया। बारहवीं से सोलहवीं सदी तक पूरे देश में पुराणसम्मत कृष्णचरित्र के आधार पर कई संप्रदाय प्रतिष्ठित हुए, जिनमें सबसे ज्यादा प्रभावशाली वल्लभ का पुष्टिमार्ग था। उन्होंने शांकर मत के विरुद्ध ब्रह्म के सगुण रूप को ही वास्तविक कहा। उनके मत से यह संसार मिथ्या या माया का प्रसार नहीं है बल्कि ब्रह्म का ही प्रसार है, अतः सत्य है। उन्होंने कृष्ण को ब्रह्म का अवतार माना और उसकी प्राप्ति के लिए भक्त का पूर्ण आत्मसमर्पण आवश्यक बतलाया। भगवान्‌ के अनुग्रह या पुष्टि के द्वारा ही भक्ति सुलभ हो सकती है। इस संप्रदाय में उपासना के लिए गोपीजनवल्लभ, लीलापुरुषोत्तम कृष्ण का मधुर रूप स्वीकृत हुआ। इस प्रकार उत्तर भारत में विष्णु के राम और कृष्ण अवतारों प्रतिष्ठा हुई।

इस प्रकार इन विभिन्न मतों का आधार लेकर हिन्दी में निर्गुण और सगुण के नाम से भक्तिकाव्य की दो शाखाएँ साथ साथ चलीं। निर्गुणमत के दो उपविभाग हुए – ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी। पहले के प्रतिनिधि कबीर और दूसरे के जायसी हैं। सगुणमत भी दो उपधाराओं में प्रवाहित हुआ – रामभक्ति और कृष्णभक्ति। पहले के प्रतिनिधि तुलसी हैं और दूसरे के सूरदास।

ज्ञानश्रयी शाखा के प्रमुख कवि कबीर पर तात्कालिक विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों और दार्शनिक मतों का सम्मिलित प्रभाव है। उनकी रचनाओं में धर्मसुधारक और समाजसुधारक का रूप विशेष प्रखर है। उन्होंने आचरण की शुद्धता पर बल दिया। बाह्याडंबर, रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर उन्होंने तीव्र कशाघात किया। मनुष्य की क्षमता का उद्‌घोष कर उन्होंने निम्नश्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया। इस शाखा के अन्य कवि रैदास, दादू हैं।

प्रेमाश्रयी धारा के सर्वप्रमुख कवि जायसी हैं जिनका 'पदमावत' अपनी मार्मिक प्रेमव्यंजना, कथारस और सहज कलाविन्यास के कारण विशेष प्रशंसित हुआ है। इनकी अन्य रचनाओं में 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' आदि हैं, जिनमें सूफी संप्रदायसंगत बातें हैं। इस धारा के अन्य कवि हैं कुतुबन, मंझन, उसमान, शेख नबी और नूर मुहम्मद आदि।

आज की दृष्टि से इस संपूर्ण भक्तिकाव्य का महत्त्व उसकी धार्मिकता से अधिक लोकजीवनगत मानवीय अनुभूतियों और भावों के कारण है। इसी विचार से भक्तिकाल को हिन्दी काव्य का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

रीतिकाल (1700 से 1900 ई.)

1700 ई. के आस पास हिन्दी कविता में एक नया मोड़ आया। इसे विशेषत: तात्कालिक दरबारी संस्कृति और संस्कृतसाहित्य से उत्तेजना मिली। संस्कृत साहित्यशास्त्र के कतिपय अंशों ने उसे शास्त्रीय अनुशासन की ओर प्रवृत्त किया। हिन्दी में 'रीति' या 'काव्यरीति' शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र के लिए हुआ था। इसलिए काव्यशास्त्रबद्ध सामान्य सृजनप्रवृत्ति और रस, अलंकार आदि के निरूपक बहुसंख्यक लक्षणग्रन्थों को ध्यान में रखते हुए इस समय के काव्य को 'रीतिकाव्य' कहा गया। इस काव्य कीशृंगारी प्रवृत्तियों की पुरानी परंपरा के स्पष्ट संकेत संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, फारसी और हिन्दी के आदिकाव्य तथा कृष्णकाव्य कीशृंगारी प्रवृत्तियों में मिलते हैं।

रीतिकाव्य रचना का आरंभ एक संस्कृतज्ञ ने किया। ये थे आचार्य केशवदास, जिनकी सर्वप्रसिद्ध रचनाएँ कविप्रिया, रसिकप्रिया और रामचंद्रिका हैं। केशव के कई दशक बाद चिन्तामणि से लेकर अठारहवीं सदी तक हिन्दी में रीतिकाव्य का अजस्र स्रोत प्रवाहित हुआ जिसमें नर-नारी-जीवन के रमणीय पक्षों और तत्संबंधी सरस संवेदनाओं की अत्यंत कलात्मक अभिव्यक्ति व्यापक रूप में हुई।

रीतिकाल के कवि राजाओं और रईसों के आश्रय में रहते थे। वहाँ मनोरंजन और कलाविलास का वातावरण स्वाभाविक था। बौद्धिक आनंद का मुख्य साधन वहाँ उक्तिवैचित्र्य समझा जाता था। ऐसे वातावरण में लिखा गया साहित्य अधिकतरशृंगारमूलक और कलावैचित्र्य से युक्त था। पर इसी समय प्रेम के स्वच्छंद गायक भी हुए जिन्होंने प्रेम की गहराइयों का स्पर्श किया है। मात्रा और काव्यगुण दोनों ही दृष्टियों से इस समय का नर-नारी-प्रेम और सौंदर्य की मार्मिक व्यंजना करनेवाला काव्यसाहित्य महत्त्वपूर्ण है।

रीतिकाव्य मुख्यत: मांसलशृंगार का काव्य है। इसमें नर-नारीजीवन के स्मरणीय पक्षों का सुंदर उद्घाटन हुआ है। अधिक काव्य मुक्तक शैली में है, पर प्रबंधकाव्य भी हैं। इन दो सौ वर्षों मेंशृंगारकाव्य का अपूर्व उत्कर्ष हुआ। पर धीरे धीरे रीति की जकड़ बढ़ती गई और हिन्दी काव्य का भावक्षेत्र संकीर्ण होता

गया। आधुनिक युग तक आते आते इन दोनों कमियों की ओर साहित्यकारों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ।

आधुनिक काल (1900 से अब तक)

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल,
आधुनिक हिंदी पद्य का इतिहास,
आधुनिक हिंदी गद्य का इतिहास

उन्नीसवीं शताब्दी

यह आधुनिक युग का आरंभ काल है जब भारतीयों का यूरोपीय संस्कृति से संपर्क हुआ। भारत में अपनी जड़ें जमाने के काम में अँगरेजी शासन ने भारतीय जीवन को विभिन्न स्तरों पर प्रभावित और आंदोलित किया। नई परिस्थितियों के धक्के से स्थितिशील जीवनविधि का ढाँचा टूटने लगा। एक नए युग की चेतना का आरंभ हुआ। संघर्ष और सामंजस्य के नए आयाम सामने आए।

नये युग के साहित्यसृजन की सर्वोच्च संभावनाएँ खड़ी बोली गद्य में निहित थीं, इसलिए इसे गद्य-युग भी कहा गया है। हिन्दी का प्राचीन गद्य राजस्थानी, मैथिली और ब्रजभाषा में मिलता है पर वह साहित्य का व्यापक माध्यम बनने में अशक्त था। खड़ीबोली की परंपरा प्राचीन है। अमीर खुसरो से लेकर मध्यकालीन भूषण तक के काव्य में इसके उदाहरण बिखरे पड़े हैं। खड़ी बोली गद्य के भी पुराने नमूने मिले हैं। इस तरह का बहुत सा गद्य फारसी और गुरुमुखी लिपि में लिखा गया है। दक्षिण की मुसलमान रियासतों में 'दक्खिनी' के नाम से इसका विकास हुआ। अठारहवीं सदी में लिखा गया रामप्रसाद निरंजनी और दौलतराम का गद्य उपलब्ध है। पर नयी युगचेतना के संवाहक रूप में हिन्दी के खड़ी बोली गद्य का व्यापक प्रसार उन्नीसवीं सदी से ही हुआ। कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में, नवागत अँगरेज अफसरों के उपयोग के लिए, लल्लू लाल तथा सदल मिश्र ने गद्य की पुस्तकें लिखकर हिन्दी के खड़ी बोली गद्य की पूर्वपरंपरा के विकास में कुछ सहायता दी। मुंशी सदासुखलाल और इंशा अल्ला खाँ की गद्य रचनाएँ इसी समय लिखी गई। आगे चलकर प्रेस, पत्रपत्रिकाओं, ईसाई धर्मप्रचारकों तथा नवीन शिक्षा संस्थाओं से हिन्दी गद्य के विकास में सहायता मिली। बंगाल, पंजाब, गुजरात आदि विभिन्न प्रान्तों के निवासियों ने भी इसकी उन्नति और प्रसार में योग दिया। हिन्दी का पहला

समाचारपत्र 'उदंत मार्तण्ड' 1826 ई. में कलकत्ते से प्रकाशित हुआ। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मण सिंह हिन्दी गद्य के निर्माण और प्रसार में अपने अपने ढंग से सहायक हुए। आर्यसमाज और अन्य सांस्कृतिक आंदोलनों ने भी आधुनिक गद्य को आगे बढ़ाया।

गद्यसाहित्य की विकासमान परंपरा उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से अग्रसर हुई। इसके प्रवर्तक आधुनिक युग के प्रवर्तक और पथप्रदर्शक भारतेंदु हरिश्चंद्र थे जिन्होंने साहित्य का समकालीन जीवन से घनिष्ठ संबंध स्थापित किया। यह संक्रांति और नवजागरण का युग था। अँगरेजों की कूटनीतिक चालों और आर्थिक शोषण से जनता संत्रस्त और क्षुब्ध थी। समाज का एक वर्ग पाश्चात्य संस्कारों से आक्रांत हो रहा था तो दूसरा वर्ग रूढ़ियों में जकड़ा हुआ था। इसी समय नई शिक्षा का आरंभ हुआ और सामाजिक सुधार के आंदोलन चले। नवीन ज्ञान विज्ञान के प्रभाव से नवशिक्षितों में जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण विकसित हुआ जो अतीत की अपेक्षा वर्तमान और भविष्य की ओर विशेष उन्मुख था। सामाजिक विकास में उत्पन्न आस्था और जाग्रत समुदायचेतना ने भारतीयों में जीवन के प्रति नया उत्साह उत्पन्न किया। भारतेंदु के समकालीन साहित्य में विशेषत: गद्यसाहित्य में तत्कालीन वैचारिक और भौतिक परिवेश की विभिन्न अवस्थाओं की स्पष्ट और जीवन्त अभिव्यक्ति हुई। इस युग की नवीन रचनाएँ देशभक्ति और समाजसुधार की भावना से परिपूर्ण हैं। अनेक नई परिस्थितियों की टकराहट से राजनीतिक और सामाजिक व्यंग की प्रवृत्ति भी उद्‌बुद्ध हुई। इस समय के गद्य में बोलचाल की सजीवता है। लेखकों के व्यक्तित्त्व से संपृक्त होने के कारण उसमें पर्याप्त रोचकता आ गई है। सबसे अधिक निबंध लिखे गए जो व्यक्तिप्रधान और विचारप्रधान तथा वर्णनात्मक भी थे। अनेक शैलियों में कथासाहित्य भी लिखा गया, अधिकतर शिक्षाप्रधान। पर यथार्थवादी दृष्टि और नए शिल्प की विशिष्टता श्रीनिवास दास के 'परीक्षागुरु' में ही है। देवकीनन्दन खत्री का तिलस्मी उपन्यास 'चंद्रकांता' इसी समय प्रकाशित हुआ। पर्याप्त परिमाण में नाटकों और सामाजिक प्रहसनों की रचना हुई। भारतेंदु, प्रतापनारायण मिश्र, श्रीनिवास दास, आदि प्रमुख नाटककार हैं। साथ ही भक्ति औरशृंगार की बहुत सी सरस कविताएँ भी निर्मित हुई। पर जिन कविताओं में सामाजिक भावों की अभिव्यक्ति हुई वे ही नये युग की सृजनशीलता का आरंभिक आभास देती हैं। खड़ी बोली के छिटफुट प्रयोगों को छोड़ शेष कविताएँ ब्रजभाषा में लिखी गयीं। वास्तव में नया युग इस समय के गद्य में ही अधिक प्रतिफलित हो सका।

बीसवीं शताब्दी

इस कालावधि की सबसे महत्त्वपूर्ण घटनाएँ दो हैं – एक तो सामान्य काव्यभाषा के रूप में खड़ी बोली की स्वीकृति और दूसरे हिन्दी गद्य का नियमन और परिमार्जन। इस कार्य में सर्वाधिक सशक्त योग सरस्वती संपादक महावीरप्रसाद द्विवेदी का था। द्विवेदी जी और उनके सहकर्मियों ने हिन्दी गद्य की अभिव्यक्तिक्षमता को विकसित किया। निबंध के क्षेत्र में द्विवेदी जी के अतिरिक्त बालमुकुंद, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, पूर्णसिंह, पद्मसिंह शर्मा जैसे एक से एक सावधान, सशक्त और जीवंत गद्यशैलीकार सामने आए। उपन्यास अनेक लिखे गए पर उसकी यथार्थवादी परंपरा का उल्लेखनीय विकास न हो सका। यथार्थपरक आधुनिक कहानियाँ इसी काल में जनमी और विकासमान हुई। गुलेरी, कौशिक आदि के अतिरिक्त प्रेमचंद और प्रसाद की भी आरंभिक कहानियाँ इसी समय प्रकाश में आई। नाटक का क्षेत्र अवश्य सूना सा रहा। इस समय के सबसे प्रभावशाली समीक्षक द्विवेदी जी थे जिनकी संशोधनवादी और मर्यादानिष्ठ आलोचना ने अनेक समकालीन साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया। मिश्रबंधु, कृष्णबिहारी मिश्र और पद्मसिंह शर्मा इस समय के अन्य समीक्षक हैं पर कुल मिलाकर इस समय की समीक्षा बाह्यपक्षप्रधान ही रही।

सुधारवादी आदर्शों से प्रेरित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अपने 'प्रियप्रवास' में राधा का लोकसेविका रूप प्रस्तुत किया और खड़ीबोली के विभिन्न रूपों के प्रयोग में निपुणता भी प्रदर्शित की। मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत भारती' में राष्ट्रीयता और समाजसुधार का स्वर ऊँचा किया और 'साकेत' में उर्मिला की प्रतिष्ठा की। इस समय के अन्य कवि द्विवेदी जी, श्रीधर पाठक, बालमुकुंद गुप्त, नाथूराम शर्मा 'शंकर', गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि हैं। ब्रजभाषा काव्यपरंपरा के प्रतिनिधि रत्नाकर और सत्यनारायण कविरत्न हैं। इस समय खड़ी बोली काव्यभाषा के परिमार्जन और सामयिक परिवेश के अनुरूप रचना का कार्य संपन्न हुआ। नए काव्य का अधिकांश विचारपरक और वर्णनात्मक है।

सन् 1920–40 के दो दशकों में आधुनिक साहित्य के अंतर्गत वैचारिक और कलात्मक प्रवृत्तियों का अनेक रूप उत्कर्ष दिखाई पड़ा। सर्वाधिक लोकप्रियता उपन्यास और कहानी को मिली। कथासाहित्य में घटनावैचित्य की जगह जीते जागते स्मरणीय चरित्रों की सृष्टि हुई। निम्न और मध्यवर्गीय समाज के यथार्थपरक चित्र व्यापक रूप में प्रस्तुत किए गए। वर्णन की सजीव शैलियों

का विकास हुआ। इस समय के सर्वप्रमुख कथाकार प्रेमचंद हैं। वृंदावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास भी उल्लेख्य है। हिन्दी नाटक इस समय जयशंकर प्रसाद के साथ सृजन के नवीन स्तर पर आरोहण करता है। उनके रोमांटिक ऐतिहासिक नाटक अपनी जीवंत चारित्र्यसृष्टि, नाटकीय संघर्षों की योजना और संवेदनीयता के कारण विशेष महत्त्व के अधिकारी हुए। कई अन्य नाटककार भी सक्रिय दिखाई पड़े। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में रामचंद्र शुक्ल ने सूर, तुलसी और जायसी की सूक्ष्म भावस्थितियों और कलात्मक विशेषताओं का मार्मिक उद्घाटन किया और साहित्य के सामाजिक मूल्यों पर बल दिया। अन्य आलोचक है श्री नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेंद्र तथा डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी।

काव्य के क्षेत्र में यह छायावाद के विकास का युग है। पूर्ववर्ती काव्य वस्तुनिष्ठ था, छायावादी काव्य भावनिष्ठ है। इसमें व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का प्राधान्य है। स्थूल वर्णन विवरण के स्थान पर छायावादी काव्य में व्यक्ति की स्वच्छंद भावनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति हुई। स्थूल तथ्य और वस्तु की अपेक्षा बिंबविधायक कल्पना छायावादियों को अधिक प्रिय है। उनकी सौंदर्यचेतना विशेष विकसित है। प्रकृतिसौंदर्य ने उन्हें विशेष आकृष्ट किया। वैयक्तिक संवेगों की प्रमुखता के कारण छायावादी काव्य मूलत: प्रगीतात्मक है। इस समय खड़ी बोली काव्यभाषा की अभिव्यक्तिक्षमता का अपूर्व विकास हुआ। जयशंकर प्रसाद, माखनलाल, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', महादेवी, नवीन और दिनकर छायावाद के उत्कृष्ट कवि हैं।

सन् 1940 के बाद छायावाद की संवेगनिष्ठ, सौंदर्यमूलक और कल्पनाप्रिय व्यक्तिवाद प्रवृत्तियों के विरोध में प्रगतिवाद का संघबद्ध आंदोलन चला जिसकी दृष्टि समाजबद्ध, यथार्थवादी और उपयोगितावादी है। सामाजिक वैषम्य और वर्गसंघर्ष का भाव इसमें विशेष मुखर हुआ। इसने साहित्य को सामाजिक क्रांति के अस्त्र के रूप में ग्रहण किया। अपनी उपयोगितावादी दृष्टि की सीमाओं के कारण प्रगतिवादी साहित्य, विशेषत: कविता में कलात्मक उत्कर्ष की संभावनाएँ अधिक नहीं थीं, फिर भी उसने साहित्य के सामाजिक पक्ष पर बल देकर एक नई चेतना जाग्रत की।

प्रगतिवादी आंदोलन के आरंभ के कुछ ही बाद नए मनोविज्ञान या मनोविश्लेषणशास्त्र से प्रभावित एक और व्यक्तिवादी प्रवृत्ति साहित्य के क्षेत्र में सक्रिय हुई थी जिसे सन् 1943 के बाद प्रयोगवाद नाम दिया गया। इसी का संशोधित रूप वर्तमानकालीन नई कविता और नई कहानियाँ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वितीय महायुद्ध और उसके उत्तरकालीन साहित्य में जीवन की विभीषिका, कुरूपता और असंगतियों के प्रति अंसतोष तथा क्षोभ ने कुछ आगे पीछे दो प्रकार की प्रवृत्तियों को जन्म दिया। एक का नाम प्रगतिवाद है, जो मार्क्स के भौतिकवादी जीवनदर्शन से प्रेरणा लेकर चलाय दूसरा प्रयोगवाद है, जिसने परंपरागत आदर्शों और संस्थाओं के प्रति अपने अंसतोष की तीव्र प्रतिक्रियाओं को साहित्य के नवीन रूपगत प्रयोगों के माध्यम से व्यक्त किया। इसपर नए मनोविज्ञान का गहरा प्रभाव पड़ा।

प्रगतिवाद से प्रभावित कथाकारों में यशपाल, उपेंद्रनाथ अश्क, अमृतलाल नागर और नागार्जुन आदि विशिष्ट हैं। आलोचकों में रामविलास शर्मा,नामवर सिंह, विजयदेव नारायण साही प्रमुख हैं। कवियों में केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, रांगेय राघव, शिवमंगल सिंह 'सुमन' आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। निबन्ध विधा में इस दौर में आछार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्या निवास मिश्र और कुबेरनाथ राय ने विशेष ख्याति अर्जित की।

नए मनोविज्ञान से प्रभावित प्रयोगों के लिए सचेष्ट कथाकारों में अज्ञेय प्रमुख हैं। मनोविज्ञान से गंभीर रूप में प्रभावित इलाचंद्र जोशी और जैनेंद्र हैं। इन लेखकों ने व्यक्तिमन के अवचेतन का उद्घाटन कर नया नैतिक बोध जगाने का प्रयत्न किया। जैनेंद्र और अज्ञेय ने कथा के परंपरागत ढाँचे को तोड़कर शैलीशिल्प संबंधी नए प्रयोग किए। परवर्ती लेखकों और कवियों में वैयक्तिक प्रतिक्रियाएँ अधिक प्रखर हुईं। समकालीन परिवेश से वे पूर्णत: संसक्त हैं। उन्होंने समाज और साहित्य की मान्यताओं पर गहरा प्रश्नचिह्न लगा दिया है। व्यक्तिजीवन की लाचारी, कुंठा, आक्रोश आदि व्यक्त करने के साथ ही वे वैयक्तिक स्तर पर नए जीवनमूल्यों के अन्वेषण में लगे हुए हैं। उनकी रचनाओं में एक ओर सार्वभौम संत्रास और विभीषिका की छटपटाहट है तो दूसरी ओर व्यक्ति के अस्तित्त्व की अनिवार्यता और जीवन की संभावनाओं को रेखांकित करने का उपक्रम भी। हमारा समकालीन साहित्य आत्यंतिक व्यक्तिवाद से ग्रस्त है और यह उसकी सीमा है। पर उसका सबसे बड़ा बल उसकी जीवनमयता है जिसमें भविष्य की सशक्त संभावनाएँ निहित हैं।

हिन्दी एवं उसके साहित्य का इतिहास

750 ईसा पूर्व – संस्कृत का वैदिक संस्कृत के बाद का क्रमबद्ध विकास।

500 ईसा पूर्व – बौद्ध तथा जैन की भाषा प्राकृत का विकास (पूर्वी भारत)।

400 ईसा पूर्व – पाणिनि ने संस्कृत व्याकरण लिखा (पश्चिमी भारत)। वैदिक संस्कृत से पाणिनि की काव्य संस्कृत का मानकीकरण।

ब्राह्मी लिपि का विकास

पाँचवीं सदी ईसा पूर्व से पहले – भारत में ब्राह्मी लिपि का विकास।

पाँचवीं सदी ई0पू. से 350ई. – ब्राह्मी लिपि का ज्ञात प्रयोग काल।

320 ई. (के आसपास) – ब्राह्मी लिपि से गुप्त लिपि का विकास।

छठी सदी ईस्वी – सिद्धमात्रिका लिपि का गुप्त लिपि की पश्चिमी शाखा की पूर्वी उपशाखा से विकास। इसे न्यूनकोणीय लिपि भी कहा गया है।

अपभ्रंश तथा आदि-हिन्दी का विकास

प्रथम सदी ई0पू0ध्5वीं सदी ई. – कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' में अपभ्रंश का प्रयोग किया।

550ई. – वल्लभी के दर्शन में अपभ्रंश का प्रयोग।

769 – सिद्ध सरहपाद (जिन्हें कई लोग हिन्दी का पहला कवि मानते हैं) ने 'दोहाकोश' लिखा।

779 – उद्योतन सूरि की 'कुवलयमाला' में अपभ्रंश का प्रयोग।

800 – संस्कृत में बहुत सी रचनाएँ लिखी गयीं।

933 – देवसेन की 'सावयधम्म दोहा' (श्रावकधर्म दोहा या श्रावकाचार) ऽकुछ लोग इसे भी हिन्दी की पहली पुस्तक मानते हैंश ।

1100 – आधुनिक देवनागरी लिपि का प्रथम स्वरूप।

1145–1229 – हेमचंद्राचार्य ने सिद्ध हेम शब्दानुशासन नामक अपभ्रंश–व्याकरण की रचना की।

अपभ्रंश का अस्त तथा आधुनिक हिन्दी का विकास

1184 ई. – शालिभद्र सूरि रचित भरतेश्वर बाहुबलि रास 205 छंदों का आकार में छोटा परंतु शब्द–चयन एवं भाव सभी दृष्टियों से अत्यंत उत्तम काव्य है। पुष्ट तर्कों से यही हिंदी की पहली रचना सिद्ध होती है।

1253–1325 – अमीर खुसरो की पहेलियों तथा मुकरियों में 'हिन्दवी' शब्द का सर्वप्रथम उपयोग।

1370 – 'हंसाउली' (हंसावली) के कवि असाइत ने प्रेम कथाओं की शुरुआत की।

1399–1512 – कबीर की रचनाओं ने निर्गुण भक्ति की नींव रखी।

1400–1479 – अपभ्रंश के आखिरी महान् कवि रइधू।

1450 – रामानन्द के साथ 'सगुण भक्ति' की शुरुआत।

1580 – शुरुआती दक्खिनी का कार्य 'कालमितुल हकायतष्कृबुरहानुद्दीन जानम द्वारा।

1585 – नाभादास ने 'भक्तमाल' लिखी।

1601 – बनारसीदास ने हिन्दी की पहली आत्मकथा 'अर्ध कथानक' लिखी।

1604 – गुरु अर्जुन देव ने कई कवियों की रचनाओं का संकलन 'आदि ग्रन्थ' निकाला।

1532–1623 – गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' की रचना की।

1623 – जटमल ने 'गोरा बादल री बात' (कुछ लोगों के विचार से खड़ी बोली की पहली रचना) लिखी।

1643 – आचार्य केशव दास ने 'रीति' के द्वारा काव्य की शुरुआत की।

1645 – उर्दू का आरंभ

आधुनिक हिन्दी

1796 – देवनागरी रचनाओं की शुरुआती छ्पाई।

1826 – 'उदन्त मार्तण्ड' हिन्दी का पहला साप्ताहिक।

1837 – ओम् जय जगदीश के रचयिता श्रद्धाराम फुल्लौरी का जन्म।

1868 – राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' का लिपि सम्बन्धी प्रतिवेदन कृ फारसी लिपि के स्थान पर नागरी लिपि और हिन्दी भाषा के लिए पहला प्रयास राजा शिवप्रसाद का उनके लिपि सम्बन्धी प्रतिवेदन कोर्ट कैरेक्टर इन द अपर प्रोविन्स अ0फ इंडिया से आरम्भ हुआ।

1877 – अयोध्या प्रसाद खत्री का हिन्दी व्याकरण, (बिहार बन्धु प्रेस)

1881 – वर्ष 1881 ई. तक आतेदृआते उत्तर प्रदेश के पड़ोसी प्रान्तों बिहार, मध्य प्रदेश में नागरी लिपि और हिन्दी प्रयोग की सरकारी आज्ञा जारी हो गई तो उत्तर प्रदेश में नागरी आंदोलन को बड़ा नैतिक प्रोत्साहन मिला।

1893 – काशी नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना

1 मई 1910 – नागरी प्रचारिणी सभा के तत्त्वावधान में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हुई।

1950 – हिन्दी भारत की राजभाषा के रूप में स्थापित।

10–14 जनवरी 1975 – नागपुर में प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन आयोजित

दिसम्बर, 1993 – मॉरीशस में चतुर्थ विश्व हिन्दी सम्मेलन तथा उसके बाद विश्व हिन्दी सचिवालय की स्थापना

1997 – वर्धा में महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय की स्थापना का अधिनियम संसद द्वारा पारित

2000 – आधुनिक हिंदी का अनतरराष्ट्रीय विकास

हिंदी साहित्य का इतिहास (पुस्तक)

हिन्दी साहित्य के अब तक लिखे गए इतिहासों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखे गए हिन्दी साहित्य का इतिहास को सबसे प्रामाणिक तथा व्यवस्थित इतिहास माना जाता है। आचार्य शुक्ल जी ने इसे हिन्दी शब्दसागर की भूमिका के रूप में लिखा था जिसे बाद में स्वतंत्र पुस्तक के रूप में 1929 ई. में प्रकाशित आंतरित कराया गया। आचार्य शुक्ल ने गहन शोध और चिन्तन के बाद हिन्दी साहित्य के पूरे इतिहास पर विहंगम दृष्टि डाली है।

इतिहास–लेखन में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक ऐसी क्रमिक पद्धति का अनुसरण करते हैं, जो अपना मार्ग स्वयं प्रशस्त करती चलती है। विवेचन में तर्क का क्रमबद्ध विकास ऐसे है कि तर्क का एक–एक चरण एक–दूसरे से जुड़ा हुआ, एक–दूसरे में से निकलता दिखता है। लेखक को अपने तर्क पर इतना गहन विश्वास है कि आवेश की उसे अपेक्षा नहीं रह जाती।

आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक आचार्य शुक्ल का इतिहास इसी प्रकार तथ्याश्रित और तर्कसम्मत रूप में चलता है। अपनी आरम्भिक उपपत्ति में आचार्य शुक्ल ने बताया है कि साहित्य जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्बित होता है। इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य–परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाने में आचार्य शुक्ल का इतिहास और आलोचना–कर्म निहित है।

इस इतिहास की एक बड़ी विशेषता है कि आधुनिक काल के सन्दर्भ में पहुँचकर शुक्ल जी ने यूरोपीय साहित्य का एक विस्तृत, यद्यपि कि सांकेतिक

ही, परिदृश्य खड़ा किया है। इससे उनके ऐतिहासिक विवेचन में स्रोत, सम्पर्क और प्रभावों की समझ स्पष्टतर होती है।

परिचय

शुक्ल जी ने इतिहास लेखन का यह कार्य कई चरणों में पूरा किया था। सबसे पहले उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में छात्रों को पढ़ाने हेतु साहित्य के इतिहास पर संक्षिप्त नोट तैयार किया था। इस संक्षिप्त नोट के बारे में शुक्लजी ने खुद लिखा है, 'जिनमें (नोट में) परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जनसमूह की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिन्दी साहित्य के इतिहास के कालविभाग और रचना की भिन्न-भिन्न शाखाओं के निरुपण का एक कच्चा ढाँचा खड़ा किया गया था। 'इसी समय के आसपास हिन्दी शब्दसागर का कार्य पूर्ण हुआ और यह निश्चय किया गया कि भूमिका के रूप में 'हिन्दी भाषा का विकास' और 'हिन्दी साहित्य का विकास' दिया जाएगा। आचार्य शुक्ल ने एक नियत समय के भीतर हिन्दी साहित्य का विकास लिखा। कहना न होगा कि इस कार्य में उन्होंने संक्षिप्त नोट से भरपूर मदद ली। इस तरह हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक कच्चा ढाँचा तैयार तो हो गया परन्तु शुक्ल जी इससे पूरी तरह सन्तुष्ट न थे।

आचार्य शुक्ल द्वारा लिखी गई शब्दसागर की भूमिका से पूर्व साहित्येहितासनुमा कुछ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। गार्सा द तासी, शिवसिंह सेंगर, ग्रियर्सन आदि इस क्षेत्र में कुछ प्रयास कर चुके थे। नागरी प्रचारिणी सभा ने 1900 से 1913 ई. तक पुस्तकों की खोज का कार्य व्यापक पैमाने पर किया था। इस कार्य से अनेक ज्ञात-अज्ञात रचनाओं और रचनाकारों का पता चला था। इस सामग्री का उपयोग कर मिश्रबन्धुओं ने 'मिश्रबंधु-विनोद' तैयार किया था। रीतिकालीन कवियों के परिचयात्मक विवरण देने में शुक्ल जी ने मिश्र बन्धुविनोद का भरपूर उपयोग किया था। एक तरह से देखा जाये तो आचार्य शुक्ल के साहित्येतिहास लेखन से पूर्व दो प्रकार के साहित्यिक स्रोत मौजूद थे। एक तो खुद शुक्लजी द्वारा तैयार की गई नोट और भूमिका तथा दूसरे, अन्य विद्वानों द्वारा लिखी गई पुस्तकें। इन सबकी मदद से आचार्य शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा जो 'शब्द सागर' की भूमिका के छह महीने बाद 1929 ई. में प्रकाशित हुआ। आगे चलकर हिंदी साहित्य का इतिहास पुस्तक का ऑनलाइन संपादन प्रमुख लेखक तथा भाषा शिक्षक डॉ. सुरेश कुमार मिश्रा, रंगारेड्डी आंध्र प्रदेश के नेतृत्व दल में संपन्न हुआ।

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' का संशोधित और प्रवर्धित संस्करण सन् 1940 में निकला। यह संस्करण प्रथम संस्करण से भिन्न था। इस संस्करण में अन्य चीजों के अलावा 1940 ई. तक के साहित्य का आलोचनात्मक विवरण भी दे दिया गया था। अब यह साहित्येतिहास की पुस्तक एक मुकम्मल पुस्तक का रूप ले चुकी थी।

संरचना

इस ग्रन्थ में आदिकाल यानी वीरगाथा काल का अपभ्रंश काव्य एवं देश की भाषा काव्य के विवरण के बाद भक्तिकाल की ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी, रामभक्ति शाखा, कृष्णभक्ति शाखा तथा इस काल की अन्य रचनाओं को अपने अध्ययन का केन्द्र बनाया है। इसके बाद के रीतिकाल के सभी लेखक-कवियों के साहित्य को इसमें समाहित किया है। अध्ययन को आगे बढ़ाते हुए आधुनिक काल के गद्य साहित्य, उसकी परंपरा तथा उत्थान के साथ काव्य को अपने विवेचन केन्द्र में रखा है।

प्रथम संस्करण का वक्तव्य
संशोधित और परिवर्धित संस्करण के सम्बन्ध में दो बातें
काल विभाग

आदिकाल (वीरगाथा, काल संवत् 1050-1375)

1. सामान्य परिचय
2. अपभ्रंश काव्य
3. देशभाषा काव्य
4. फुटकर रचनाएँ

पूर्व-मध्यकाल (भक्तिकाल, संवत् 1375-1700)

1. सामान्य परिचय
2. ज्ञानाश्रयी शाखा
3. प्रेममार्गी (सूफी) शाखा
4. रामभक्ति शाखा
5. कृष्णभक्ति शाखा
6. भक्तिकाल की फुटकर रचनाएँ

उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, संवत् 1700-1900)

1. सामान्य परिचय
2. रीति ग्रन्थकार कवि
3. रीतिकाल के अन्य कवि

आधुनिक काल (गद्यकाल, संवत् 1900-1980)

1. सामान्य परिचय: गद्य का विकास
2. गद्य साहित्य का आविर्भाव
3. आधुनिक गद्यसाहित्य परम्परा का प्रवर्तन प्रथम उत्थान (संवत् 1925-1950)
4. गद्य साहित्य परम्परा का प्रवर्तन: प्रथम उत्थान
5. गद्य साहित्य का प्रसार द्वितीय उत्थान (संवत् 1950-1975)
6. गद्य साहित्य का प्रसार
7. गद्य साहित्य की वर्तमान गति तृतीय उत्थान (संवत् 1975 से)
   काव्यखण्ड (संवत् 1900-1925)
   काव्यखण्ड (संवत् 1925-1950)
   काव्यखण्ड (संवत् 1950-1975)

हिन्दी साहित्य के इतिहास का लेखन

हिन्दी के आरंभिक काल से लेकर आधुनिक व आज की भाषा में आधुनिकोत्तर काल तक साहित्य इतिहास लेखकों के शताधिक नाम गिनाये जा सकते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास को शब्दबद्ध करने का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण था। हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन का कार्य विभिन्न कालों में किसी न किसी रूप में अवश्य मिलता है।

आरंभिक काल

आरंभिक काल में मात्र कवियों के सूची संग्रह को इतिहास रूप में प्रस्तुत कर दिया गया। भक्तमाल आदि ग्रन्थों में यदि भक्त कवियों का विवरण दिया भी गया तो धार्मिक दृष्टिकोण तथा श्रद्धातिरेक की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त उसकी और कुछ उपलब्धि नहीं रही। 19वीं सदी में ही हिन्दी भाषा और साहित्य दोनों के विकास की रूपरेखा स्पष्ट करने के प्रयास होने लगे। प्रारंभ में निबंधों में भाषा और साहित्य का मूल्यांकन किया गया जिसे एक अर्थ में साहित्य के

इतिहास की प्रस्तुति के रूप में भी स्वीकार किया गया। डॉ. रूपचंद पारीक, गार्सा-द-तासी के ग्रन्थ इस्त्वार द ल लितरेत्यूर ऐन्दूई ऐन्दूस्तानी को हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास मानते हैं। उन्होंने लिखा है - हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास लेखक गार्सा-द-तासी हैं, इसमें संदेह नहीं है। परंतु डॉ. किशोरीलाल गुप्त का मंतव्य है- तासी ने अपने ग्रन्थ को 'हिन्दुई और हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास' कहा है, पर यह इतिहास नहीं हैं, क्योंकि इसमें न तो कवियों का विवरण काल क्रमानुसार दिया गया है, न काल विभाग किया गया है और अब काल विभाग ही नहीं है तो प्रवृत्ति निरूपण की आशा ही कैसे की जा सकती है।

वैसे तासी और सरोज को हिन्दी साहित्य का प्रथम और द्वितीय इतिहास मानने वालों की संख्या अल्प नहीं है परंतु डॉ. गुप्त का विचार है कि ग्रियर्सन का द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने इसके विपरीत अनुसंधानात्मक प्रवृत्ति की दृष्टि से तासी के प्रयास को अधिक महत्त्वपूर्ण निरूपित किया है।

पाश्चात्य और प्राच्य विद्वानों ने हिन्दी के इतिहास लेखन के आरंभिक काल में प्रशंसनीय भूमिका निभाई है। शिवसिंह सरोज साहित्य इतिहास लेखन के अनन्य सूत्र हैं। हिन्दी के वे पहले विद्वान हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य की परंपरा के सातत्य पर समदृष्टि डाली है। अनन्तर मिश्र बंधुओं ने साहित्यिक इतिहास तथा राजनीतिक परिस्थितियों के पारस्परिक संबंधों का दर्शन कराया। डॉ. सुमन राजे के शब्दों में - काल विभाजन की दृष्टि से भी मिश्रबंधु विनोद प्रगति की दिशा में बढ़ता दिखाई देता है।

नया युग

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का प्रथम व्यवस्थित इतिहास लिखकर एक नये युग का समारंभ किया। उन्होंने लोकमंगल व लोक-धर्म की कसौटी पर कवियों और कवि-कर्म की परख की और लोक चेतना की दृष्टि से उनके साहित्यिक अवदान की समीक्षा की। यहीं से काल विभाजन और साहित्य इतिहास के नामकरण की सुदृढ़ परंपरा का आरंभ हुआ। इस युग में डॉ. 'याम सुन्दर दास, रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', सूर्यकांत शास्त्री, अयोध्या सिंह उपाध्याय, डॉ. रामकुमार वर्मा, राजनाथ शर्मा प्रभृति विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास विषयक ग्रन्थों का प्रणयन कर स्तुत्य योगदान दिया। आचार्य हजारी

प्रसाद द्विवेदी ने शुक्ल युग के इतिहास लेखन के अभावों का गहराई से अध्ययन किया और हिन्दी साहित्य की भूमिका (1940 ई.), हिन्दी साहित्य का आदिकाल (1952 ई.) और हिन्दी साहित्यय उद्‌भव और विकास (1955 ई.) आदि ग्रन्थ लिखकर उस अभाव की पूर्ति की। काल विभाजन में उन्होंने कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया। शैली की समग्रता उनकी अलग विशेषता है।

आधुनिक काल

वर्तमान युग में आचार्य द्विवेदी के अतिरिक्त साहित्येतिहास लेखन में अन्य प्रयास भी हुए परंतु इस दिशा में विकास को अपेक्षित गति नहीं मिल पाई। वैसे डॉ. गणपति चंद्र गुप्त, डॉ. रामखेलावन पांडेय के अतिरिक्त डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, डॉ. कृष्णलाल, भोलानाथ तथा डॉ. शिवकुमार की कृतियों के अतिरिक्त काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हिन्दी साहित्य का इतिहास एवं डॉ. नगेन्द्र के संपादन में प्रकाशित हिन्दी साहित्य का इतिहास आधुनिक युग की उल्लेखनीय उपलब्धियाँ हैं। हरमहेन्द्र सिंह बेदी ने भी हिन्दी साहित्येतिहास दर्शन की भूमिका लिखकर साहित्य के इतिहास और उसके प्रति दार्शनिक दृष्टि को नये ढंग से रेखांकित किया है।

हिन्दी साहित्य के इतिहासकार और उनके ग्रन्थ

हिन्दी साहित्य के मुख्य इतिहासकार और उनके ग्रन्थ निम्नानुसार हैं –

1. गार्सा द तासी: इस्तवार द ला लितेरात्यूर ऐंदुई ऐंदुस्तानी (फ्रेंच भाषा मेंय फ्रेंच विद्वान, हिन्दी साहित्य के पहले इतिहासकार)
2. शिवसिंह सेंगर: शिव सिंह सरोज
3. जार्ज ग्रियर्सन: द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑफ हिंदोस्तान
4. मिश्र बंधु: मिश्र बंधु विनोद
5. रामचंद्र शुक्ल: हिन्दी साहित्य का इतिहास
6. हजारी प्रसाद द्विवेदी: हिन्दी साहित्य की भूमिकाय हिन्दी साहित्य का आदिकालय हिन्दी साहित्य रूउद्‌भव और विकास
7. रामकुमार वर्मा: हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
8. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा: हिन्दी साहित्य
9. डॉ. नगेन्द्र: हिन्दी साहित्य का इतिहासय हिन्दी वाङ्‌मय 20वीं शती
10. रामस्वरूप चतुर्वेदी: हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986

11. बच्चन सिंह: हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

विस्तृत सूची नीचे दी गयी है-

क्र.म.	लेखक	इतिहास ग्रन्थ एवं प्रकाशक
1	गार्सा-द-तासी	इस्त्वार द ला लितरेत्यूर ऐन्दुई ऐन्दुस्तानी
2	मौलवी करीमुद्दीन	तबका तश्शुअहा में तजकिरान्ई जुअहा-ई हिंदी
3	शिवसिंह सेंगर	शिवसिंह सरोज
4	जार्ज ग्रियर्सन	द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान
5	मिश्रबन्धु ('श्यामबिहारी मिश्र , शुकदेव बिहारी मिश्र ,? गणेश बिहारी मिश्र)	मिश्रबन्धु विनोद
6	आचर्य रामचन्द शक्ल	हिंदी साहित्य का इतिहास
7	डॉ. रामकुमार वर्मा	हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
8	बाबू 'यामसुन्दर दास	हिंदी भाषा और साहित्य
9	आचार्य हजारी प्रसाद व्दिवेदी	हिंदी साहित्य की भूमिका
10	डॉ. धीरेन्द्र वर्मा	हिंदी साहित्य
11	डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त	हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास
12	डॉ. नगेन्द्र	हिन्दी साहित्य का इतिहास, रीतिकाव्य की भूमिका
13	डॉ. बच्चन सिंह	हिंदी साहित्य का नवीन इतिहास
14	डॉ. भोला नाथ तिवारी	हिंदी साहित्य
15	विश्वनाथप्रसाद मिश्र	हिंदी साहित्य का अतीत
16	परशुराम चतुर्वेदी	उत्तरी भारत की संत परम्परा
17	प्रभुदयाल मीतल	चौतन्य सम्प्रदाय और उसका साहित्य
18	डॉ. नलिन विलोचन शर्मा	हिंदी साहित्य का इतिहास दर्शन
19	डॉ. मोतीलाल मेंनारिया	राजस्थानी पिंगल साहित्य, राजस्थानी भाषा और साहित्य
20	कृपाशंकर शुक्ल	आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास

21	पं. राम नरेश त्रिपाठी	कविता कौमुदी (दो भाग)
22	सूर्यकान्त शास्त्री	हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास
23	पं. महेश दत्त शुक्ल	हिंदी काव्य संग्रह
24	डॉ. टीकम सिंह तोमर	हिंदी वीर काव्य
25	आचार्य चतुरसेन	हिंदी साहित्य का इतिहास
26	डॉ. रामस्वरुप चतुर्वेदी	हिन्दी साहित्य और संवेदना का इतिहास
27	डॉ. भगीरथ मिश्र	हिंदी काव्य शास्त्र का इतिहास
28	डॉ. रामखेलावन पाण्डेय	हिंदी साहित्य का नया इतिहास
29	डॉ. विजयेन्द्र स्नातक	राधावल्लभ सम्प्रदाय-सिद्धांत और साहित्य
30	पदुमलाल पुन्ना लाल बख्शी	हिंदी साहित्य विमर्श
31	आयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध	हिंदी भाषा और उसके साहित्य का इतिहास
32	डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी	हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
33	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी	हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास
34	सुमन राजे	हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन को यदि आरंभिक, मध्य व आधुनिक काल में विभाजित कर विचार किया जाए तो स्पष्ट होता है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास अत्यंत विस्तृत व प्राचीन है। हिन्दी भाषा के उद्‌भव और विकास के सम्बन्ध में प्रचलित धारणाओं पर विचार करते समय हमारे सामने हिन्दी भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न दसवीं शताब्दी के आसपास की प्राकृताभास भाषा तथा अप्रभंश भाषाओं की ओर जाता है। अपभ्रंश शब्द की व्युत्पत्ति और जैन रचनाकारों की अपभ्रंश कृतियों का हिन्दी से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए जो तर्क और प्रमाण हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में प्रस्तुत किये गये हैं उन पर विचार करना भी आवश्यक है। सामान्यत: प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव स्वीकार किया जाता है। उस समय अपभ्रंश के कई रूप थे और उनमें सातवीं-आठवीं शताब्दी से ही पद्य रचना प्रारम्भ हो गयी थी।

साहित्य की दृष्टि से पद्यबद्ध जो रचनाएँ मिलती हैं वे दोहा रूप में ही हैं और उनके विषय, धर्म, नीति, उपदेश आदि प्रमुख हैं। राजाश्रित कवि और चारण नीति,श्रृंगार, शौर्य, पराक्रम आदि के वर्णन से अपनी साहित्य-रुचि का

परिचय दिया करते थे। यह रचना-परम्परा आगे चलकर शौरसेनी अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी में कई वर्षों तक चलती रही। पुरानी अपभ्रंश भाषा और बोलचाल की देशी भाषा का प्रयोग निरन्तर बढ़ता गया। इस भाषा को विद्यापति ने देसी भाषा कहा है, किन्तु यह निर्णय करना सरल नहीं है कि हिन्दी शब्द का प्रयोग इस भाषा के लिए कब और किस देश में प्रारम्भ हुआ। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में हिन्दी शब्द का प्रयोग विदेशी मुसलमानों ने किया था। इस शब्द से उनका तात्पर्य भारतीय भाषा का था।

आधुनिक काल के पूर्व गद्य की अवस्था

आधुनिक काल के पूर्व हिन्दी का अस्तित्त्व किस परिमाण और किस रूप में था, संक्षेप में इसका विचार कर लेना चाहिए। अब तक साहित्य की भाषा ब्रजभाषा ही रही है, इसे सूचित करने की आवश्यकता नहीं। अतः गद्य की पुरानी रचना जो थोड़ी सी मिलती है वह ब्रजभाषा ही में। हिन्दी पुस्तकों की खोज में हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि से संबंध रखनेवाले कई गोरखपंथी ग्रंथ मिले हैं जिनका निर्माणकाल संवत् 1407 के आसपास है। किसी-किसी पुस्तक में निर्माणकाल दिया हुआ है। एक पुस्तक गद्य में भी है जिसका लिखनेवाला 'पूछिबा', 'कहिबा' आदि प्रयोगों के कारण राजपूताने का निवासी जान पड़ता है। इसके गद्य को हम संवत् 1400 के आसपास के ब्रजभाषा गद्य का नमूना मान सकते हैं। थोड़ा सा अंश उद्धत किया जाता है ,

श्री गुरु परमानंद तिनको दंडवत है। हैं कैसे परमानंद, आनंदस्वरूप है सरीर जिन्हि को, जिन्हि के नित्य गाए तें शरीर चेतन्नि अरु आनंदमय होतु है। मैं जु हौं गोरिष सो मछंदरनाथ को दंडवत करत हौं। हैं कैसे वे मछंदरनाथ! आत्मजोति निश्चल हैं अंतःकरन जिनके अरु मूलद्वार तैं छह चक्र जिनि नीकी तरह जानैं। इसे हम निश्चयपूर्वक गद्य का पुराना रूप मान सकते हैं। साथ ही यह भी ध्यान होता है कि यह किसी संस्कृत लेख का 'कथंभूती' अनुवाद न हो। चाहे जो हो, है यह संवत् 1400 के ब्रजभाषा गद्य का नमूना।

ब्रजभाषा गद्य

1. विट्ठलनाथ इसके उपरांत फिर हमें भक्तिकाल में कृष्णभक्ति शाखा के भीतर गद्यग्रंथ मिलते हैं। श्री बल्लभाचार्य के पुत्र गोसाई विट्ठलनाथ जी ने 'शृंगाररस मंडन' नामक एक ग्रंथ ब्रजभाषा में लिखा। उनकी भाषा का

स्वरूप देखिए , प्रथम की सखी कहतु है। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मंद हास्य न जीते हैं। अमृत समूह ता करि निकुंज विषैशृंगाररस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होतभई यह गद्य अपरिमार्जित और अव्यवस्थित है। पर इसके पीछे दो और सांप्रदायिक ग्रंथ लिखे गए जो बड़े भी हैं और जिनकी भाषा भी व्यवस्थित और चलती है। बल्लभसंप्रदाय में इनका अच्छा प्रसार है। इनके नाम हैं , 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता'। इनमें से प्रथम आचार्य श्री बल्लभाचार्य जी के पौत्र गोसाई विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोसाई गोकुलनाथजी की लिखी कही जाती है, पर गोकुलनाथजी के किसी शिष्य की लिखी जान पड़ती है, क्योंकि इसमें गोकुलनाथजी का कई जगह बड़े भक्तिभाव से उल्लेख है। इसमें वैष्णव भक्तों और आचार्य जी की महिमा प्रकट करनेवाली कथाएँ लिखी गई हैं। इसका रचनाकाल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध्द माना जा सकता है। 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' तो और भी पीछे औरंगजेब के समय के लगभग लिखी प्रतीत होती है। इन वार्ताओं की कथाएँ बोलचाल की ब्रजभाषा में लिखी गई हैं जिसमें कहीं कहीं बहुत प्रचलित अरबी और फारसी शब्द भी निस्संकोच रखे गए हैं। साहित्यिक निपुणता या चमत्कार की दृष्टि से ये कथाएँ नहीं लिखी गई हैं। उदाहरण के लिए यह उद्धत अंश पर्याप्त होगा , सो श्री नंदगाम में रहतो हतो। सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढयो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खंडन करतोय ऐसो वाको नेम हतो। याही तें सब लोगन ने बाको नाम खंडन पारयो हतो। सो एक दिन श्री महाप्रभु जी के सेवक वैष्णव की मंडली में आयो। सो खंडन करन लाग्यौ। वैष्णवन ने कही जो तेरो शास्त्रार्थ करनो होवै तो पंडित के पास जा हमारी मंडली में तेरे आयबो को काम नहीं। इहाँ खंडन मंडन नहीं है। भगवद्वार्ता को काम है भगवद्यश सुननो होवै तो इहाँ आवो।

2. नाभादास जी इन्होंने भी संवत् 1660 के आसपास 'अष्टयाम' नामक एक पुस्तक ब्रजभाषा में लिखी जिसमें भगवान राम की दिनचर्या का वर्णन है। भाषा इस ढंग की है ,

तब श्री महाराज कुमार प्रथम वसिष्ठ महाराज के चरण छुइ प्रनाम करत भए। फिर ऊपर वृद्ध समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिर श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेंद्रनाथ दशरथ जू निकट बैठते भए।

3. वैकुंठमणि शुक्ल संवत् 1680 के लगभग वैकुंठमणि शुक्ल ने, जो ओरछाकेमहाराज जसवंत सिंह के यहाँ थे, ब्रजभाषा गद्य में 'अगहन माहात्म्य' और 'वैशाख माहात्म्य' नाम की दो छोटी छोटी पुस्तकें लिखीं। द्वितीय के संबंध में वे लिखते हैं , सब देवतन की कृपा ते बैकुंठमनि सुकुल श्री महारानी चंद्रावती के धरम पढ़िबे के अरथ यह जसरूप ग्रंथ वैसाख महातम भाषा करत भए। एक समय नारद जू ब्रह्मा की सभा से उठिकै सुमेर पर्वत को गए। ब्रजभाषा गद्य में लिखा एक 'नासिकेतोपाख्यान' मिला है जिसके कर्ता का नाम ज्ञात नहीं। समय संवत् 1760 के उपरांत है। भाषा व्यवस्थित है , हे ऋषीश्वरो! और सुनो, मैं देख्यो है सो कहूँ। कालै वर्ण महादुख के रूप, जम किंकर देखे। सर्प, बिछू, रीछ, व्याघ्र, सिंह बड़े-बड़े ग्रंध्र देखे। पंथ में पाप कर्मी कौ जमदूत चलाइ कै मुदगर अरु लोहे के दंड कर मार देते हैं। आगे और जीवन को त्रास देते देखे हैं। सु मेरो रोम-रोम खरो होत है।
4. सूरति मिश्र इन्होंने संवत् 1767 में संस्कृत से कथा लेकर बैतालपचीसी लिखी, जिसको आगे चलकर लल्लूलाल ने खड़ी बोली हिंदुस्तानी में किया। जयपुर नरेश सवाई प्रतापसिंह की आज्ञा से लाला हीरालाल ने संवत् 1852 में 'आईने अकबरी की भाषा वचनिका' नाम की एक बड़ी पुस्तक लिखी।

भाषा इसकी बोलचाल की है जिसमें अरबी फारसी के कुछ बहुत चलते शब्द भी हैं। नमूना यह है ,

अब शेख अबुलफजल ग्रंथ को करता प्रभु को निमस्कार करि कै अकबर बादशाह की तारीफ लिखने को कसद करै है अरु कहै है , याकी बड़ाई और चेष्टा अरु चिमत्कार कहाँ तक लिखूँ। कही जात नाहीं। तातें याकें पराक्रम अरु भाँति भाँति के दसतूर वा मनसूबा दुनिया में प्रगट भए ताको संखेप लिखत हौं।

इस प्रकार की ब्रजभाषा गद्य की कुछ पुस्तकें इधर उधर पाई जाती हैं जिनमें गद्य का कोई विकास प्रकट नहीं होता। साहित्य की रचना पद्य में ही होती रही। गद्य का भी विकास यदि होता आता तो विक्रम की इस शताब्दी के आरंभ में भाषासंबंधिनी बड़ी विषम समस्या उपस्थित होती। जिस धड़ाके के साथ गद्य के लिए खड़ी बोली ले ली गई उस धड़ाके के साथ न ली जा सकती। कुछ समय सोच विचार और वाद-विवाद में जाता और कुछ समय तक दो प्रकार के गद्य की धाराएँ साथ साथ दौड़ लगातीं। अतः भगवान का यह भी एक अनुग्रह

समझना चाहिए कि यह भाषाविप्लव नहीं संघटित हुआ और खड़ी बोली, जो कभी अलग और कभी ब्रजभाषा की गोद में दिखाई पड़ जाती थी, धीरे धीरे व्यवहार की शिष्ट भाषा होकर गद्य के नये मैदान में दौड़ पड़ी।

गद्य लिखने की परिपाटी का सम्यक् प्रचार न होने के कारण ब्रजभाषा गद्य जहाँ का तहाँ रह गया। उपर्युक्त 'वैष्णववार्ताओं' में उसका जैसा परिष्कृत और सुव्यवस्थित रूप दिखाई पड़ा वैसा आगे चलकर नहीं। काव्यों की टीकाओं आदि में जो थोड़ा बहुत गद्य देखने में आता था वह बहुत ही अव्यवस्थित और अशक्त था। उसमें अर्थों और भावों को भी संबद्ध रूप में प्रकाशित करने तक की शक्ति न थी। ये टीकाएँ संस्कृत की 'इत्यमररू' और 'कथम्भूतम्' वाली टीकाओं की पद्ध ति पर लिखी जाती थीं। इससे इनके द्वारा गद्य की उन्नति की संभावना न थी। भाषा ऐसी अनगढ़ और लद्ध ड़ होती थी कि मूल चाहे समझ में आ जाय पर टीका की उलझन से निकलना कठिन समझिए। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में लिखी 'श्रृंगारशतक' की एक टीका की कुछ पंक्तियाँ देखिए ,

उन्मत्ताप्रेमसंरम्भादालभंते यदंगनाः।
तत्रा प्रत्यूहमाधातुं ब्रह्मापि खलु कातरः

अंगना जु है स्त्री सु। प्रेम के अति आवेश करि। जु कार्य करन चाहति है ता कार्य विषै। ब्रह्माऊ। प्रत्यूहं आधातुं। अंतराउ कीबै कहँ। कातर। काइरु है। काइरु कहावै असमर्थ। जु कछु स्त्री करयो चाहैं सु अवस्य करहिं। ताको अंतराउ ब्रह्मा पहँ न करयो जाई और की कितीक बात। आगे बढ़कर संवत् 1872 की लिखी जानकीप्रसाद वाली रामचंद्रिका की प्रसिद्ध टीका लीजिए तो उसकी भाषा की भी यही दशा है ,

राघव शर लाघव गति छत्रा मुकुट यों हयो।
हंस सबल अंसु सहित मानहु उड़ि कैगयो

सबल कहें अनेक रंग मिश्रित हैं, अंसु कहे किरण जाके ऐसे जे सरू"य हैं तिन सहित मानो कलिंदगिरि शृंग तें हंस कहे हंस समूह उड़ि गयो है। यहाँ जाति विषै एकवचन है। हंसन के सदृश 'वेत छत्रा है और सूर्यन के सदृश अनेक रंग नगजटित मुकुट हैं। इसी ढंग की सारी टीकाओं की भाषा समझिए। सरदार कवि अभी हाल में हुए हैं। कविप्रिया, रसिकप्रिया, सतसई आदि की उनकी टीकाओं की भाषा और भी अनगढ़ और असंबद्ध है। सारांश यह है कि जिस समय गद्य के लिए खड़ी बोली उठ खड़ी हुई उस समय तक गद्य का विकास

नहीं हुआ था, उसका कोई साहित्य नहीं खड़ा हुआ था, इसी से खड़ी बोली के ग्रहण में कोई संकोच नहीं हुआ।

खड़ी बोली का गद्य

देश के भिन्न भिन्न भागों में मुसलमानों के फैलने तथा दिल्ली की दरबारी शिष्टता के प्रचार के साथ ही दिल्ली की खड़ी बोली शिष्ट समुदाय के परस्पर व्यवहार की भाषा हो चली थी। खुसरो ने विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में ही ब्रजभाषा के साथ साथ खालिस खड़ी बोली में कुछ पद्य और पहेलियाँ बनाई थीं। औरंगजेब के समय से फारसी मिश्रित खड़ी बोली या रेखता में शायरी भी शुरू हो गई और उसका प्रचार फारसी पढ़े लिखे लोगों में बराबर बढ़ता गया। इस प्रकार खड़ी बोली को लेकर उर्दू साहित्य खड़ा हुआ, जिसमें आगे चलकर विदेशी भाषा के शब्दों का मेल भी बराबर बढ़ता गया और जिसका आदर्श भी विदेशी होता गया।

मुगल साम्राज्य के ध्वंस से भी खड़ी बोली के फैलने में सहायता पहुँची। दिल्ली, आगरे आदि पछाँही शहरों की समृद्धि नष्ट हो चली थी और लखनऊ, पटना, मुर्शिदाबाद आदि नई राजधानियाँ चमक उठीं। जिस प्रकार उजड़ती हुई दिल्ली को छोड़कर मीर इंशा आदि अनेक उर्दू शायर पूरब की ओर आने लगे, उसी प्रकार दिल्ली के आसपास के प्रदेशों की हिंदू व्यापारी जातियाँ (अगरवाल, खत्री आदि) जीविका के लिए लखनऊ, फैजाबाद, प्रयाग, काशी, पटना आदि पूरबी शहरों में फैलने लगीं। उनके साथ साथ उनकी बोलचाल की भाषा खड़ी बोली भी लगी चलती थी। यह सिद्ध बात है कि उपजाऊ और सुखी प्रदेशों के लोग व्यापार में उद्योगशील नहीं होते। अतः धीरे धीरे पूरब के शहरों में भी इन पश्चिमी व्यापारियों की प्रधानता हो चली। इस प्रकार बड़े शहरों के बाजार की व्यावहारिक भाषा भी खड़ी बोली हुई। यह खड़ी बोली असली और स्वाभाविक भाषा थी, मौलवियों और मुंशियों की उर्दू ए मुअल्ला नहीं। यह अपने ठेठ रूप में बराबर पछाँह से आई जातियों के घरों में बोली जाती है। अतः कुछ लोगों का यह कहना या समझना कि मुसलमानों के द्वारा ही खड़ी बोली अस्तित्त्व में आई और उसका मूल रूप उर्दू है जिससे आधुनिक हिन्दी गद्य की भाषा अरबी फारसी शब्दों को निकालकर गढ़ ली गई, शुद्ध भ्रम या अज्ञान है। इस भ्रम का कारण यही है कि देश के परंपरागत साहित्य की , जो संवत् 1900 के पूर्व तक पद्यमय ही रहा , भाषा ब्रजभाषा

ही रही और खड़ी बोली वैसे ही एक कोने में पड़ी रही जैसे और प्रांतों की बोलियाँ। साहित्य या काव्य में उसका व्यवहार नहीं हुआ।

पर किसी भाषा का साहित्य में व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उस भाषा का अस्तित्त्व ही नहीं था। उर्दू का रूप प्राप्त होने के पहले भी खड़ी बोली अपने देशी रूप में वर्तमान थी और अब भी बनी हुई है। साहित्य में भी कभी कभी कोई इसका व्यवहार कर देता था, यह दिखाया जा चुका है।

भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय तक अपभ्रंश काव्यों की जो परंपरा चलती रही उसके भीतर खड़ी बोली के प्राचीन रूप की भी झलक अनेक पद्यों में मिलती है। जैसे ,

भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि! म्हारा कंतु।
अड़बिहि पत्ती, नइहि जलु, तो बिन बूहा हत्थ।
सोउ जुहिट्ठिर संकट पाआ। देवक लेखिअ कोण मिटाआ

उसके उपरांत भक्तिकाल के आरंभ में निर्गुणधारा के संत कवि जिस प्रकार खड़ी बोली का व्यवहार अपनी सधुक्कड़ी भाषा में किया करते थे, इसका उल्लेख भक्तिकाल के भीतर हो चुका है। कबीरदास के ये वचन लीजिए ,

कबीर मन निर्मल भया जैसा गंगानीर।
कबीर कहता जात हूँ, सुनता है सब कोइ।
राम कहे भला होयगा, नहितर भला न होइ
आऊँगा न जाऊँगा, मरूँगा न जीऊँगा।
गुरु के सबद रम रम रहूँगा

अकबर के समय में गंग कवि ने 'चंद छंद बरनन की महिमा' नामक एक गद्य पुस्तक खड़ी बोली में लिखी थी। उसकी भाषा का नमूना देखिए , सिद्धि श्री 108 श्री श्री पातसाहिजी श्री दलपतिजी अकबरसाहजी आमखास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे। और आमखास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी अपनी मिसल से। जिनकी बैठक नहीं सो रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड़ के खड़े ताजीम में रहे।

इतना सुन के पातसाहिजी, श्री अकबरसाहजी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बंचना पूरन भया। आमखास बरखास हुआ।

इस अवतरण से स्पष्ट लगता है कि अकबर और जहाँगीर के समय में ही खड़ी बोली भिन्न भिन्न प्रदेशों में शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा हो चली थी। यह भाषा उर्दू नहीं कही जा सकतीय यह हिन्दी खड़ी बोली है। यद्यपि पहले से साहित्य भाषा के रूप में स्वीकृत न होने के कारण इसमें अधिक रचना नहीं पाई जाती, पर यह बात नहीं है कि इसमें ग्रंथ लिखे ही नहीं जाते थे। दिल्ली राजधानी होने के कारण जब से शिष्ट समाज के बीच इसका व्यवहार बढ़ा तभी से इधर उधर कुछ पुस्तकें इस भाषा के गद्य में लिखी जाने लगीं।

विक्रम संवत् 1798 में रामप्रसाद 'निरंजनी' ने 'भाषायोगवासिष्ठ' नाम का ग्रंथ साफ सुथरी खड़ी बोली में लिखा। ये पटियाला दरबार में थे और महारानी को कथा बाँचकर सुनाया करते थे। इनके ग्रंथ देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि मुंशी सदासुख और लल्लूलाल से बासठ वर्ष पहले खड़ी बोली का गद्य अच्छे परिमार्जित रूप में पुस्तकें आदि लिखने में व्यवहृत होता था। अब तक पाई गई पुस्तकों में यह 'भाषा योगवासिष्ठ' ही सबसे पुराना है जिसमें गद्य अपने परिष्कृत रूप में दिखाई पड़ता है। अत: जब तक और कोई पुस्तक इससे पुरानी न मिले तब तक इसी को परिमार्जित गद्य की प्रथम पुस्तक और राम प्रसाद निरंजनी को प्रथम प्रौढ़ गद्यलेखक मान सकते हैं। 'भाषायोगवासिष्ठ' से दो उद्धरण आगे दिए जाते हैं–

(क) प्रथम परब्रह्म परमात्मा का नमस्कार है जिससे सब भासते हैं और जिसमें सब लीन और स्थित होते हैं, जिस आनंद के समुद्र के कण से संपूर्ण विश्वआनंदमय है, जिस आनंद से सब जीव जीते हैं। अगस्तजी के शिष्य सुतीक्षण के मन में एक संदेह पैदा हुआ तब वह उसके दूर करने का कारण अगस्त मुनि के आश्रम को जा विधिसहित प्रणाम करके बैठे और बिनती कर प्रश्न किया कि हे भगवान! आप सब तत्त्वों शास्त्रों के जाननहारे हो, मेरे एक संदेह को दूर करो। मोक्ष का कारण कर्म है किज्ञान है अथवा दोनों हैं, समझाय के कहो। इतना सुन अगस्त मुनि बोले कि हे ब्रह्मण्य! केवल कर्म से मोक्ष नहीं होता और न केवल ज्ञान से मोक्ष होता है, मोक्ष दोनों से प्राप्त होता है। कर्म से अंत:करण शुद्ध होता है, मोक्ष नहीं होता और अंत:करण की शुद्धि बिना केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं होती।

(ख) हे रामजी! जो पुरुष अभिमानी नहीं है वह शरीर के इष्ट–अनिष्ट में रागद्वेष नहीं करता क्योंकि उसका शुद्ध वासना है। मलीन वासना

जन्मों का कारण है। ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होगे तब तुम कर्ता होते हुए भी निर्लेप रहोगे। और हर्ष, शोक आदि विकारों से जब तुम अलग रहोगे तब वीतराग, भय, क्रोध से रहित रहोगे। जिसने आत्मतत्त्व पाया है वह जैसे स्थित हो वैसे ही तुम भी स्थित हो। इसी दृष्टि को पाकर आत्मतत्त्व को देखो तब विगतज्वर होगे और आत्मपद को पाकर फिर जन्म मरण के बंधान में न आवोगे। कैसीशृंखलाबद्ध साधु और व्यवस्थित भाषा है।

इसके पीछे संवत् 1818 में बसवा (मध्य प्रदेश) निवासी पं. दौलतराम ने हरिषेणाचार्य कृत 'जैन पुिंराण' का भाषानुवाद किया जो 700 पृष्ठों से ऊपर का एक बड़ा ग्रंथ है। भाषा इसकी उपर्युक्त 'भाषायोगवासिष्ठ' के समान परिमार्जित नहीं है, पर इस बात का पूरा पता देती है कि फारसी उर्दू से कोई संपर्क न रखनेवाली अधिकांश शिष्ट जनता के बीच खड़ी बोली किसी स्वाभाविक रूप में प्रचलित थी। मध्य प्रदेश पर फारसी या उर्दू की तालीम कभी नहीं लादी गई थी और जैन समाज, जिसके लिए यह ग्रंथ लिखा गया, बराबर व्यापार से संबंध रखनेवाला समाज रहा है। खड़ी बोली को मुसलमानों द्वारा जो रूप दिया गया है उससे सर्वथा स्वतंत्र वह अपने प्रकृत रूप में भी दो-ढाई सौ वर्ष से लिखने पढ़ने के काम में आ रही है, यह बात 'भाषायोगवासिष्ठ' और 'पर्पुिराण' अच्छी तरह प्रमाणित कर रहे हैं। अत: यह कहने की गुंजाइश अब जरा भी नहीं रही कि खड़ी बोली गद्य की परंपरा अंग्रेजी की प्रेरणा से चली। 'पर्पुिराण' की भाषा का स्वरूप यह है , जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुंदर है, जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं, इंद्रलोक के समान सदा भोगोपयोग करै हैं और भूमि विषय साँठन के बाड़े शोभायमान हैं। जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं। आगे चलकर संवत् 1830 और 1840 के बीच राजस्थान के किसी लेखक ने 'मंडोवर का वर्णन' लिखा जिसकी भाषा साहित्य की नहीं, साधारण बोलचाल की है, जैसे ,

अवल में यहाँ मांडव्य रिसि का आश्रम था। इस सबब से इस जगे का नाम मांडव्याश्रम हुआ। इस लफ्ज का बिगड़ कर मंडोवर हुआ है। ऊपर जो कहा गया है कि खड़ी बोली का ग्रहण देश के परंपरागत साहित्य में नहीं हुआ था, उसका अर्थ यहाँ स्पष्ट कर देना चाहिए। उक्त कथन में साहित्य से अभिप्राय लिखित साहित्य का है, कथित या मौखिक का नहीं। कोई भाषा हो, उसका कुछ न कुछ साहित्य अवश्य होता है , चाहे वह लिखित न हो, श्रुति परंपरा द्वारा ही

चला आता हो। अत: खड़ी बोली के भी कुछ गीत, कुछ पद्य, कुछ तुकबंदियाँ खुसरो के पहले से अवश्य चली आती होंगी। खुसरो की सी पहेलियाँ दिल्ली के आसपास प्रचलित थीं जिनके नमूने पर खुसरो ने अपनी पहेलियाँ या मुकरियाँ कहीं। हाँ, फारसी पद्य में खड़ी बोली को ढालने का प्रयत्न प्रथम कहा जा सकता है।

खड़ी बोली का रूप रंग जब मुसलमानों ने बहुत कुछ बदल दिया और वे उसमें विदेशी भावों का भंडार भरने लगे तब हिन्दी के कवियों की दृष्टि में वह मुसलमानों की खास भाषा सी जँचने लगी। इससे भूषण, सूदन आदि कवियों ने मुसलमान दरबारों के प्रसंग में या मुसलमान पात्रों के भाषण में ही इस बोली का व्यवहार किया है। पर जैसा कि अभी दिखाया जा चुका है, मुसलमानों के दिए हुए कृत्रिम रूप से स्वतंत्र खड़ी बोली का स्वाभाविक देशी रूप भी देश के भिन्नभिन्न भागों में पछाँह के व्यापारियों आदि के साथ साथ फैल रहा था। उसके प्रचार और उर्दू साहित्य के प्रचार से कोई संबंध नहीं। धीरे धीरे यही खड़ी बोली व्यवहार की सामान्य शिष्ट भाषा हो गई। जिस समय अंग्रेजी राज्य भारत में प्रतिष्ठित हुआ उस समय सारे उत्तरी भारत में खड़ी बोली व्यवहार की शिष्ट भाषा हो चुकी थी। जिस प्रकार उसके उर्दू कहलाने वाले कृत्रिम रूप का व्यवहार मौलवी मुंशी आदि फारसी तालीम पाए हुए कुछ लोग करते थे उसी प्रकार उसके असली स्वाभाविक रूप का व्यवहार हिंदू साधु, पंडित, महाजन आदि अपने शिष्ट भाषण में करते थे। जो संस्कृत पढ़े लिखे या विद्वान होते थे उनकी बोली में संस्कृत के शब्द भी मिले रहते थे। रीतिकाल के समाप्त होते होते अंग्रेजों का राज्य देश में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया था। अत: अंग्रेजों के लिए यहाँ की भाषा सीखने का प्रयत्न स्वाभाविक था। पर शिष्ट समाज के बीच उन्हें दो ढंग की भाषाएँ चलती मिलीं। एक तो खड़ी बोली का सामान्य देशी रूप, दूसरा वह दरबारी रूप जो मुसलमानों ने उसे दिया था और उर्दू कहलाने लगा था।

अंगरेज यद्यपि विदेशी थे पर उन्हें यह स्पष्ट लक्षित हो गया कि जिसे उर्दू कहते हैं वह न तो देश की स्वाभाविक भाषा है, न उसका साहित्य देश का साहित्य है, जिसमें जनता के भाव और विचार रक्षित हों। इसीलिए जब उन्हें देश की भाषा सीखने की आवश्यकता हुई और वे गद्य की खोज में पड़े तब दोनों प्रकार की पुस्तकों की आवश्यकता हुई , उर्दू की भी और हिन्दी (शुद्ध खड़ी बोली) की भी। पर उस समय गद्य की पुस्तकें वास्तव में न उर्दू में थीं न हिन्दी

में। जिस समय फोर्ट विलियम कॉलेज की ओर से उर्दू और हिन्दी गद्य की पुस्तकें लिखने की व्यवस्था हुई उसके पहले हिन्दी खड़ी बोली में गद्य की कई पुस्तकें लिखी जा चुकी थीं।

'भाषायोगवासिष्ठ' और 'पर्पिुराण' का उल्लेख हो चुका है। उसके उपरांत जब अंग्रेजों की ओर से पुस्तकें लिखाने की व्यवस्था हुई उसके दो-एक वर्ष पहले ही मुंशी सदासुख की ज्ञानोपदेशवाली पुस्तक और इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' लिखी जा चुकी थी। अत: यह कहना कि अंग्रेजी की प्रेरणा से ही हिन्दी खड़ी बोली गद्य का प्रादुर्भाव हुआ, ठीक नहीं है। जिस समय दिल्ली के उजड़ने के कारण उधर के हिंदू व्यापारी तथा अन्य वर्ग के लोग जीविका के लिए देश के भिन्नभिन्न भागों में फैल गए और खड़ी बोली अपने स्वाभाविक देशी रूप में शिष्टों की बोलचाल की भाषा हो गई उसी समय में लोगों का ध्यान उसमें गद्य लिखने की ओर गया। तब तक हिन्दी और उर्दू दोनों का साहित्य पद्यमय ही था। हिन्दी कविता में परंपरागत काव्यभाषा ब्रजभाषा का व्यवहार चला आता था और उर्दू कविता में खड़ी बोली के अरबीफारसी मिश्रित रूप का। जब खड़ी बोली अपने असली रूप में भी चारों ओर फैल गई तब उसकी व्यापकता और भी बढ़ गई और हिन्दी गद्य के लिए उसके ग्रहण में सफलता की संभावना दिखाई पड़ी।

इसीलिए जब संवत् 1860 में फोर्ट विलियम कॉलेज (कलकत्ता) के हिन्दी उर्दू अध्यापक जान गिलक्राइस्ट ने देशी भाषा की गद्य पुस्तकें तैयार कराने की व्यवस्था की तब उन्होंने उर्दू और हिन्दी दोनों के लिए अलग अलग प्रबंध किया। इसका मतलब यही है कि उन्होंने उर्दू से स्वतंत्र हिन्दी खड़ी बोली का अस्तित्त्व भाषा के रूप में पाया। फोर्ट विलियम कॉलेज के आश्रय में लल्लूलालजी गुजराती ने खड़ी बोली के गद्य में 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। अत: खड़ी बोली गद्य को एक साथ आगे बढ़ानेवाले चार महानुभाव हुए हैं , मुंशी सदासुख लाल, सैयद इंशाअल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र। ये चारों लेखक संवत् 1860 के आसपास हुए।

1. मुंशी सदासुखलाल 'नियाज' दिल्ली के रहनेवाले थे। इनका जन्म संवत् 1803 और मृत्यु 1881 में हुई। संवत् 1850 के लगभग ये कंपनी की अधीनता में चुनार (जिला , मिर्जापुर) में एक अच्छे पद पर थे। इन्होंने उर्दू और फारसी में बहुत सी किताबें लिखी हैं और काफी शायरी की है। अपनी 'मुंतखबुत्तावारीख' में अपने संबंध में इन्होंने जो कुछ लिखा है उससे पता चलता है कि 65 वर्ष

की अवस्था में ये नौकरी छोड़कर प्रयाग चले गए और अपनी शेष आयु वहीं हरिभजन में बिताई। उक्त पुस्तक संवत् 1875 में समाप्त हुई जिसके छह वर्ष उपरांत इनका परलोकवास हुआ। मुंशीजी ने विष्णुपुराण से कोई उपदेशात्मक प्रसंग लेकर एक पुस्तक लिखी थी, जो पूरी नहीं मिली है। कुछ दूर तक सफाई के साथ चलने वाला गद्य जैसा 'भाषायोगवासिष्ठ' का था वैसा ही मुंशीजी की इस पुस्तक में दिखाई पड़ा। उसका थोड़ा-सा अंश नीचे उ(ृत किया जाता है , इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहींय आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरंत ही ब्राह्मण से चांडाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहना चाहिए कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इसी हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका (जो) सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कह के लोगों को बहकाइए और फुसलाइए और सत्य छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धान द्रव्य इकट्ठा कीजिए और मन को, कि तमोवृत्ति से भर रहा है निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परंतु उसे ज्ञान तो नहीं है।

मुंशीजी ने यह गद्य न तो किसी अंगरेज अधिकारी की प्रेरणा से और न किसी दिए हुए नमूने पर लिखा। वे एक भगवद्भक्त थे। अपने समय में उन्होंने हिंदुओं की बोलचाल की जो शिष्ट भाषा चारों ओर , पूरबी प्रांतों में भी , प्रचलित पाई उसी में रचना की। स्थान स्थान पर शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने उसके भावी साहित्यिक रूप का पूर्ण आभास दिया। यद्यपि वे खास दिल्ली के रहने वाले अ]लेजबान थे पर उन्होंने अपने हिन्दी गद्य में कथावाचकों, पंडितों और साधु संतों के बीच दूर दूर तक प्रचलित खड़ी बोली का रूप रखा, जिसमें संस्कृत शब्दों का पुट भी बराबर रहता था। इसी संस्कृतमिश्रित हिन्दी को उर्दूवाले 'भाषा' कहते थे जिसका चलन उर्दू के कारण कम होते देख मुंशी सदासुख ने इस प्रकार खेद प्रकट किया था ,

रस्मौ रिवाज भाखा का दुनिया से उठ गया।

सारांश यह कि मुंशीजी ने हिंदुओं की शिष्ट बोलचाल की भाषा ग्रहण की, उर्दू से अपनी भाषा नहीं ली। इन प्रयोगों से यह बात स्पष्ट हो जाती है , स्वभाव करके वे दैत्य कहलाए। बहुत जाधा चूक हुई। उन्हीं लोगों से बन आवै है। जो बात सत्य होय। काशी पूरब में है पर यहाँ के पंडित सैकड़ों वर्ष से 'होयगा',

श्आवता है', श्इस करके' आदि बोलते चले आते हैं। ये सब बातें उर्दू से स्वतंत्र खड़ी बोली के प्रचार की सूचना देती हैं।

इंशाअल्ला खाँ उर्दू के बहुत प्रसिद्ध शायर थे जो दिल्ली के उजड़ने पर लखनऊ चले आए थे। इनके पिता मीर माशाअल्ला खाँ कश्मीर से दिल्ली आए थे जहाँ वे शाही हकीम हो गए थे। मोगल सम्राट की अवस्था बहुत गिर जाने पर हकीम साहब मुर्शिदाबाद के नवाब के यहाँ चले गए थे। मुर्शिदाबाद ही में इंशा का जन्म हुआ। जब बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला मारे गए और बंगाल में अंधेर मचा तब इंशा, जो पढ़ लिखकर अच्छे विद्वान और प्रतिभाशाली कवि हो चुके थे, दिल्ली चले आए और शाहआलम दूसरे के दरबार में रहने लगे। वहाँ जब तक रहे अपनी अद्भुत प्रतिभा के बल से अपने विरोधी, बड़े बड़े नामी शायरों को ये बराबर नीचा दिखाते रहे। जब गुलामकादिर बादशाह को अंधा करके शाही खजाना लूटकर चल दिया तब इंशा का निर्वाह दिल्ली में कठिन हो गया और वे लखनऊ चले आए। जब संवत् 1855 में नवाब सआदतअली खाँ गद्दी पर बैठे तब ये उनके दरबार में आने जाने लगे। बहुत दिनों तक इनकी बड़ी प्रतिष्ठा रही पर अंत में एक दिल्लगी की बात पर इनका वेतन आदि सब बंद हो गया था और इनके जीवन का अंतिम भाग बड़े कष्ट में बीता। संवत् 1875 में इनकी मृत्यु हुई।

इंशा ने 'उदयभानचरित या रानी केतकी की कहानी' संवत् 1855 और 1860 के बीच लिखी होगी। कहानी लिखने का कारण इंशा साहब यों लिखते हैं ,

एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जा के मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो।...अपने मिलनेवालों में से एक कोई बड़े पढ़े लिखे, पुराने धुराने डाँग, बूढ़े घाघ यह खटराग लाए...और लगे कहने, यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस, जैसे भले लोग , अच्छों से अच्छे , आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न हो। यह नहीं होने का। इससे स्पष्ट है कि इंशा का उद्देश्य ठेठ हिन्दी लिखने का था जिसमें हिन्दी को छोड़कर और किसी बोली का पुट न रहे। उ(ृत अंश में 'भाखापन' शब्द ध्यान देने योग्य है। मुसलमान लोग भाषा शब्द का व्यवहार साहित्यिक हिन्दी भाषा के लिए किया करते थे जिसमें

आवश्यकतानुसार संस्कृत के शब्द आते थे , चाहे वह ब्रजभाषा हो, चाहे खड़ी बोली। तात्पर्य यह कि संस्कृतमिश्रित हिन्दी को ही उर्दूफारसी वाले 'भाषा' कहा करते थे। 'भाखा' से खास ब्रजभाषा का अभिप्राय उनका नहीं होता था, जैसा कुछ लोग भ्रमवश समझते हैं। जिस प्रकार वे अपनी अरबी फारसी मिली हिन्दी को उर्दू कहते थे उसी प्रकार संस्कृत मिली हिन्दी को 'भाखा'। भाषा का शास्त्रीय दृष्टि से विचार न करने वाले या उर्दू की ही तालीम खासतौर पर पाने वाले कई नए पुराने हिन्दी लेखक इस 'इस भाखा' शब्द के चक्कर में पड़कर ब्रजभाषा को हिन्दी कहने में संकोच करते हैं। 'खड़ी बोली पद्य' का झंडा लेकर घूमनेवाले स्वर्गीय बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री चारों ओर घूम घूमकर कहा करते थे कि अभी हिन्दी में कविता हुई कहाँ, सूर, तुलसी, बिहारी आदि ने जिसमें कविता की है वह तो 'भाखा' है 'हिन्दी' नहीं। संभव है इस सड़े गड़े खयाल को लिए अब भी कुछ लोग पड़े हों। इंशा ने अपनी भाषा को तीन प्रकार के शब्दों से मुक्त रखने की प्रतिज्ञा की है , बाहर की बोली = अरबी, फारसी, तुरकी। गँवारी = ब्रजभाषा, अवधी आदि। भाखापन = संस्कृत के शब्दों का मेल।

इस बिलगाव से, आशा है, ऊपर लिखी बात स्पष्ट हो गई होगी। इंशा ने 'भाखापन' और 'मुअल्लापन' दोनों को दूर रखने का प्रयत्न किया, पर दूसरी बला किसी न किसी सूरत में कुछ लगी रह गई। फारसी के ढंग का वाक्यविन्यास कहींकहीं, विशेषत: बड़े वाक्यों में आ ही गया है, पर बहुत कम। जैसे ,

'सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ अपने बनाने वाले के सामने जिसने हम सबको बनाया।'

'इस सिर झुकाने के साथ ही दिन रात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को।'

'यह चिट्ठी जो बिसभरी कुँवर तक जा पहुँची।'

आरंभकाल के चारों लेखकों में इंशा की भाषा सबसे चटकीली, मटकीली, मुहावरेदार और चलती है। पहली बात यह है कि खड़ी बोली उर्दू कविता में पहले बहुत कुछ मँज चुकी थी जिससे उर्दूवालों के सामने लिखते समय मुहावरे आदि बहुतायत से आया करते थे। दूसरी बात यह है कि इंशा रंगीन और चुलबुली भाषा द्वारा अपना लेखन कौशल दिखाना चाहते थे। 1 मुंशी सदासुखलाल भी दिल्ली खास के थे और उर्दू साहित्य का अभ्यास भी पूरा रखते थे, पर वे धर्मभाव से जानबूझकर अपनी भाषा गंभीर और संयत रखना चाहते थे।

सानुप्रास विराम भी इंशा के गद्य में बहुत स्थलों पर मिलते हैं, जैसे ,

जब दोनों महाराजों में लड़ाई होने लगी, रानी केतकी सावन भादों के रूप रोने लगी और दोनों के जी में यह आ गई , यह कैसी चाहत जिनमें लहू बरसने लगा और अच्छी बातों को जी तरसने लगा।

इंशा के समय तक वर्तमान कृदंत या विशेषण और विशेष्य के बीच का समानाधिकरण कुछ बना हुआ था, जो उनके गद्य में जगह-जगह पाया जाता है, जैसे ,

आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं। उसके बिना ध्यान यह सब फाँसेहैं।

घरवालियाँ जो किसी डौल से बहलातियाँ हैं।

इन विचित्रताओं के होते हुए भी इंशा ने जगह जगह बड़ी प्यारी घरेलू ठेठ भाषा का व्यवहार किया है और वर्णन भी सर्वथा भारतीय रखे हैं। इनकी चलती चटपटी भाषा का नमूना देखिए ,

इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछताओगी और अपना किया पाओगी। मुझसे कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती तो मेरे मुँह से जीतेजी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कहकर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा भूत, मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवाकर छिनवा लूँगी। 3. लल्लूलालजी ये आगरे के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इनका जन्म संवत् 1820 में और मृत्यु संवत् 1882 में हुई। संस्कृत के विशेष जानकार तो ये नहीं जान पड़ते, पर भाषा कविता का अभ्यास इन्हें था। उर्दू भी कुछ जानते थे। संवत् 1860 में कलकत्ता के फोर्टविलियम कॉलेज के अध्यापक जान गिलक्राइस्ट के आदेश से इन्होंने खड़ी बोली गद्य में 'प्रेमसागर' लिखा जिसमें भागवत दशमस्कंध की कथा वर्णन की गई है। इंशा के समान इन्होंने केवल ठेठ हिन्दी लिखने का संकल्प तो नहीं किया था पर विदेशी शब्दों के न आने देने की प्रतिज्ञा अवश्य लक्षित होती है। यदि ये उर्दू न जानते होते तो अरबी फारसी के शब्द बचाने में उतने कृतकार्य कभी न होते जितने हुए। बहुतेरे अरबी फारसी के शब्द बोलचाल की भाषा में इतने मिल गए थे कि उन्हें केवल संस्कृत हिन्दी जानने वाले के लिए पहचानना भी कठिन था। मुझे एक पंडितजी का स्मरण है, जो श्लाल' शब्द तो बराबर बोलते थे, पर 'कलेजा' और 'बैगन' शब्दों को म्लेच्छ भाषा के समक्ष बचाते थे। लल्लूलाल जी अनजान में कहीं कहीं ऐसे शब्द लिख गए हैं, जो फारसी या तुरकी के हैं। जैसे 'बैरख'

शब्द तुरकी का 'बैरक' है, जिसका अर्थ झंडा है। प्रेमसागर में यह शब्द आया है देखिए ,

शिवजी ने एक धवजा बाणासुर को दे के कहा इस बैरख को ले जाय।

पर ऐसे शब्द दो ही चार जगह आए हैं।

यद्यपि मुंशी सदासुखलाल ने भी अरबीफारसी के शब्दों का प्रयोग न कर संस्कृतमिश्रित साधु भाषा लिखने का प्रयत्न किया है पर लल्लूलाल की भाषा से उसमें बहुत कुछ भेद दिखाई पड़ता है। मुंशीजी की भाषा साफसुथरी खड़ी बोली है पर लल्लूलाल की भाषा कृष्णोपासक व्यासों की-सी ब्रजरंजित खड़ी बोली है। 'सम्मुख जाय', 'सिर नाय', 'सोई', 'भई', 'कीजै', 'निरख', 'लीजौ' ऐसे शब्द बराबर प्रयुक्त हुए हैं। अकबर के समय में गंग कवि ने जैसी खड़ी बोली लिखी थी वैसी ही खड़ी बोली लल्लूलाल ने भी लिखी। दोनों की भाषाओं में अंतर इतना ही है कि गंग ने इधर उधर फारसी अरबी के प्रचलित शब्द भी रखे हैं पर लल्लूलालजी ने ऐसे शब्द बचाए हैं। भाषा की सजावट भी प्रेमसागर में पूरी है। विरामों पर तुकबंदी के अतिरिक्त वर्णन वाक्य भी बड़े बड़े आए हैं और अनुप्रास भी यत्रा-तत्रा हैं। मुहावरों का प्रयोग कम है। सारांश यह कि लल्लूलालजी का 'काव्याभास' गद्यभक्तों की कथावार्ता के काम का ही अधिकतर है, न नित्य व्यवहार के अनुकूल है, न संबद्ध विचारधारा के योग्य। प्रेमसागर से दो नमूने नीचे दिए जाते हैं ,

श्रीशुकदेव मुनि बोले , महाराज! ग्रीष्म की अति अनीति देख, नृप पावस प्रचंड पशु पक्षी, जीव जंतुओं की दशा विचार चारों ओर से दल बादल साथ ले लड़ने को चढ़ आया। तिस समय घन जो गरजता था सोई तौ धौंसा बजता था और वर्ण वर्ण की घटा जो घिर आई थी सोई शूर वीर रावत थे, तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्रा की सी चमकती थी, बगपाँत ठौर ठौर धवज-सी फहराय रही थी, दादुर, मोर, कड़खैतों की सी भाँति यश बखानते थे और बड़ी बड़ी बूँदों की झड़ी बाणों की सी झड़ी लगी थी।

इतना कह महादेव जी गिरजा को साथ ले गंगा तीर पर जाय, नीर में न्हाय न्हिलाय, अति लाड़ प्यार से लगे पार्वतीजी को वस्त्र आभूषण पहिराने। निदान अति आनंद में मग्न हो डमरू बजाय बजाय तांडव नाच नाच, संगीतशास्त्र की रीति से गाय गाय लगे रिझाने।

जिस काल ऊषा बारह वर्ष की हुई तो उसके मुखचंद्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चंद्रमा छबिछीन हुआ, बालों की 'यामता के आगे अमावस्या की

अंधेरी फीकी लगने लगी। उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचुली छोड़ सटक गई। भौंह की बँकाई निरख धानुष धकधकाने लगाय ऑखों की बड़ाई चंचलाई पेख मृग मीन खंजन खिसाय रहे।

लल्लूलाल ने उर्दू, खड़ी बोली हिन्दी और ब्रजभाषा तीनों में गद्य की पुस्तकें लिखीं। ये संस्कृत नहीं जानते थे। ब्रजभाषा में लिखी हुई कथाओं और कहानियों को उर्दू और हिन्दी गद्य में लिखने के लिए इनसे कहा गया था जिसके अनुसार इन्होंने सिंहासनबत्तीसी, बैतालपचीसी, शकुंतला नाटक, माधोनल और प्रेमसागर लिखे। प्रेमसागर के पहले की चारों पुस्तकें बिल्कुल उर्दू में हैं। इनके अतिरिक्त संवत् 1869 में इन्होंने 'राजनीति' के नाम से हितोपदेश की कहानियाँ (जो पद्य में लिखी जा चुकी थीं) ब्रजभाषा गद्य में लिखी। 'माधवविलास' और 'सभाविलास' नाम से ब्रजभाषा पद्य के संग्रह ग्रंथ भी इन्होंने प्रकाशित किए थे। इनकी 'लालचंद्रिका' नाम की बिहारी सतसई की टीका भी प्रसिद्ध है। इन्होंने अपना एक निज का प्रेस कलकत्तो में (पटलडाँगे) में खोला था जिसे ये संवत् 1881 में फोर्टविलियम कॉलेज की नौकरी से पेंशन लेने पर, आगरे लेते गए। आगरे में प्रेस जमाकर ये एक बार फिर कलकत्ते गए जहाँ इनकी मृत्यु हुई। अपने प्रेस का नाम इन्होंने 'संस्कृत प्रेस' रखा था, जिसमें अपनी पुस्तकों के अतिरिक्त ये रामायण आदि पुरानी पोथियाँ भी छापा करते थे। इनके प्रेस की छपी पुस्तकों की लोग बहुत आदर करते थे।

4. सदल मिश्र ये बिहार के रहनेवाले थे। फोर्टविलियम कॉलेज में काम करते थे। जिस प्रकार उक्त कॉलेज के अधिकारियों की प्रेरणा से लल्लूलाल ने खड़ी बोली गद्य की पुस्तक तैयार की उसी प्रकार इन्होंने भी। इनका 'नासिकेतोपाख्यान' भी उसी समय लिखा गया जिस समय 'प्रेमसागर'। पर दोनों की भाषा में बहुत अंतर है। लल्लूलाल के समान इनकी भाषा में न तो ब्रजभाषा के रूपों की वैसी भरमार है और न परंपरागत काव्य भाषा की पदावली का स्थान स्थान पर समावेश। इन्होंने व्यवहारोपयोगी भाषा लिखने का प्रयत्न किया है और जहाँ तक हो सकता है खड़ी बोली का ही व्यवहार किया है। पर इनकी भाषा भी साफ सुथरी नहीं। ब्रजभाषा के भी कुछ रूप हैं और पूरबी बोली के शब्द तो स्थान स्थान पर मिलते हैं। 'फूलन्ह के बिछौने', 'चहुँदिस', 'सुनि', 'सोनन्ह के थंभ' आदि प्रयोग ब्रजभाषा के हैं, 'इहाँ', 'मतारी', 'बरते थे', 'जुड़ाई', श्बाजने', श्लगा', श्जौन' आदि पूरबी शब्द हैं। भाषा के नमूने के लिए 'नासिकेतोपाख्यान' से थोड़ा सा अवतरण नीचे दिया जाता है ,

इस प्रकार के नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन जौन कर्म किए से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, माता पिता, मित्र, बालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध गुरु इनका जो बधा करते हैं वो झूठी साक्षी भरते, झूठ ही कर्म में दिन रात लगे रहते हैं, अपनी भार्या को त्याग दूसरे की स्त्री को ब्याहते, औरों की पीड़ा देख प्रसन्न होते हैं और जो अपने धर्म से हीन पाप ही में गड़े रहते हैं वो माता-पिता की हित की बात को नहीं सुनते, सबसे बैर करते हैं, ऐसे जो पापी जन हैं सो महा डेरावने दक्षिण द्वार से जा नरकों में पड़ते हैं। गद्य की एक साथ परंपरा चलाने वाले उपर्युक्त चार लेखकों में से आधुनिक हिन्दी का पूरा पूरा आभास मुंशी सदासुखलाल और सदल मिश्र की भाषा में ही मिलता है। व्यवहारोपयोगी इन्हीं की भाषा ठहरती है। इन दो में मुंशी सदासुख की साधु भाषा अधिक महत्त्व की है। मुंशी सदासुख ने लेखनी भी चारों में पहले उठाई अत: गद्य का प्रवर्तन करनेवालों में उनका विशेष स्थान समझना चाहिए।

संवत् 1860 के लगभग हिन्दी गद्य का प्रवर्तन तो हुआ पर उसके साहित्य की अखंड परंपरा उस समय से नहीं चली। इधर उधर दो-चार पुस्तकें अनगढ़ भाषा में लिखी गई हों तो लिखी गई हों पर साहित्य के योग्य स्वच्छ सुव्यवस्थित भाषा में लिखी कोई पुस्तक संवत् 1915 के पूर्व की नहीं मिलती। संवत् 1881 में किसी ने 'गोरा बादल री बात' का, जिसे राजस्थानी पद्यों में जटमल ने संवत् 1680 में लिखा था, खड़ी बोली के गद्य में अनुवाद किया। अनुवाद का थोड़ासा अंश देखिए ,

गोरा बादल की कथा गुरु के बल, सरस्वती के मेहरबानगी से पूरन भई। तिस वास्ते गुरु कूँ व सरस्वती कूँ नमस्कार करता हूँ। ये कथा सोलह से असी के साल में फागुन सुदी पूनम के रोज बनाई। ये कथा में दो रस हैं वीररस व सिंगाररस है, सो कथा मोरछड़ो नाँव गाँव का रहने वाला कबेसर। उस गाँव के लोग भोहोत सुखी हैं। घर घर में आनंद होता है, कोई घर में फकीर दीखता नहीं।

संवत् 1860 और 1915 के बीच का काल गद्यरचना की दृष्टि से प्राय: शून्य ही मिलता है। संवत् 1914 के बलवे के पीछे ही हिन्दी गद्य साहित्य की परंपरा अच्छी तरह चली।

संवत् 1860 के लगभग हिन्दी गद्य की जो प्रतिष्ठा हुई उसका उस समय यदि किसी ने लाभ उठाया तो ईसाई धर्मप्रचारकों ने, जिन्हें अपने मत को साधारण जनता के बीच फैलाना था। सिरामपुर उस समय पादरियों का प्रधान

अड्डा था। विलियम केरे तथा और कई अंगरेज पादरियों के उद्योग से इंजील का अनुवाद उत्तर भारत की कई भाषाओं में हुआ। कहा जाता है कि बाइबिल का हिन्दी अनुवाद स्वयं केरे साहब ने किया। संवत् 1866 में उन्होंने 'नए धर्म नियम' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया और संवत् 1875 में समग्र ईसाई धर्म पुस्तक का अनुवाद पूरा हुआ। इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि इन अनुवादकों ने सदासुख और लल्लूलाल की विशुद्ध भाषा को ही आदर्श माना, उर्दूपन को बिल्कुल दूर रखा, इससे यही सूचित होता है कि फारसीअरबी मिली भाषा से साधारण जनता का लगाव नहीं था जिसके बीच मत का प्रचार करना था। जिस भाषा में साधारण हिन्दू जनता अपने कथापुराण कहतीसुनती आती थी उसी भाषा का अवलंबन ईसाई उपदेशकों को आवश्यक दिखाई पड़ा। जिस संस्कृत मिश्रित भाषा का विरोध करना कुछ लोग एक फैशन समझते हैं उससे साधारण जनसमुदाय उर्दू की अपेक्षा कहीं अधिक परिचित रहा है और है। जिन अंग्रेजों को उत्तर भारत में रहकर केवल मुंशियों और खानसामों की ही बोली सुनने का अवसर मिलता है वे अब भी उर्दू या हिंदुस्तानी को यदि जनसाधारण की भाषा समझा करें तो कोई आश्चर्य नहीं। पर उन पुराने पादरियों ने जिस शिष्ट भाषा में जनसाधारण को धर्म और ज्ञान आदि के उपदेश सुनतेसुनाते पाया उसी को ग्रहण किया।

ईसाइयों ने अपनी धर्मपुस्तक के अनुवाद की भाषा में फारसी और अरबी के शब्द जहाँ तक हो सका है नहीं लिए हैं और ठेठ ग्रामीण शब्द तक बेधाड़क रखे गए हैं। उनकी भाषा सदासुख और लल्लूलाल के ही नमूने पर चली है। उसमें जो कुछ विलक्षणतासी दिखाई पड़ती है वह मूल विदेशी भाषा की वाक्यरचना और शैली के कारण। 'प्रेमसागर' के समान ईसाई धर्मपुस्तक में भी 'करने वाले' के स्थानपर 'करनहारे', 'तक' के स्थान पर 'लौ', 'कमरबंद' के स्थान पर 'पटुका' प्रयुक्त हुए हैं। पर लल्लूलाल के इतना ब्रजभाषापन नहीं आने पाया है। 'आय', 'जाय' का व्यवहार न होकर 'आके', 'जाके' व्यवहृत हुए हैं। सारांश यह कि ईसाई मतप्रचारकों ने विशुद्ध हिन्दी का व्यवहार किया है। एक नमूना नीचे दिया जाता है , तब यीशु योहन से बपतिस्मा लेने को उस पास शालील से यर्दन के तीर पर आया। परंतु योहन यह कह कर उसे बर्जने लगा कि मुझे आपके हाथ से बपतिस्मा लेना अवश्य है और क्या आप मेरे पास आते हैं! यीशु ने उसको उत्तर दिया कि अब ऐसा होने दे क्योंकि इसी रीति से सब धर्म को पूरा करना चाहिए। यीशु बपतिस्मा लेके तुरन्त जल के ऊपर आया और

देखो उसके लिए स्वर्ग खुल गया और उसने ईश्वर के आत्मा को कपोत के नाई उतरते और अपने ऊपर आते देखा, और देखो यह आकाशवाणी हुई कि यह मेरा प्रिय पुत्र है जिससे मैं अति प्रसन्न हूँ। इसके आगे ईसाइयों की पुस्तकें और पंफलेट बराबर निकलते रहे। उक्त 'सिरामपुर प्रेस' से संवत् 1893 में 'दाऊद के गीतें' नाम की पुस्तक छपी जिसकी भाषा में कुछ फारसी अरबी के बहुत चलते शब्द भी रखे मिलते हैं। पर इसके पीछे अनेक नगरों से बालकों की शिक्षा के लिए ईसाइयों के छोटे मोटे स्कूल खुलने लगे और शिक्षा संबंधी पुस्तकें भी निकलने लगीं। इन पुस्तकों की हिन्दी भी वैसी ही सरल और विशुद्ध होती थी जैसी 'बाइबिल' के अनुवाद की थी। आगरा, मिर्जापुर, मुंगेर आदि जिले उस समय ईसाइयों के प्रचार के मुख्य केंद्र थे।

अंग्रेजी की शिक्षा के लिए कई स्थानों पर स्कूल और कॉलेज खुल चुके थे जिनमें अंग्रेजी के साथ हिन्दी, उर्दू की पढ़ाई भी कुछ चलती थी। अतः शिक्षा संबंधी पुस्तकों की माँग संवत् 1900 के पहले ही पैदा हो गई थी। शिक्षा संबंधिनी पुस्तकों के प्रकाशन के लिए संवत् 1890 के लगभग आगरा में पादरियों की एक 'स्कूल बुक सोसाइटी' स्थापित हुई थी जिसमें संवत् 1894 में इंग्लैंड के एक इतिहास का और संवत् 1896 में मार्शमैन साहब के 'प्राचीन इतिहास का अनुवाद', 'कथासार' के नाम से प्रकाशित किया। 'कथासार' के लेखक या अनुवादक पं. रतनलाल थे। इसके संपादक पादरी मूर साहब ने अपने छोटे से अंग्रेजी वक्तव्य में लिखा था कि यदि सर्वसाधारण से इस पुस्तक को प्रोत्साहन मिला तो इसका दूसरा भाग 'वर्तमान इतिहास' भी प्रकाशित किया जायगा। भाषा इस पुस्तक की विशुद्ध और पंडिताऊ है। 'की' के स्थान पर 'करी' और 'पाते हैं' के स्थान पर 'पावते हैं' आदि प्रयोग बराबर मिलते हैं। भाषा का नमूना यह है,

परंतु सोलन की इन अत्युत्ताम व्यवस्थाओं से विरोधभंजन न हुआ। पक्षपातियों के मन का क्रोध न गया। फिर कुलीनों में उपद्रव मचा और इसलिए प्रजा की सहायता से पिसिसट्रेटस नामक पुरुष सबों पर पराक्रमी हुआ। इसने सब उपाधियों को दबाकर ऐसा निष्कंटक राज्य किया कि जिसके कारण वह अनाचारी कहाया, तथापि यह उस काल में दूरदर्शी और बुद्धि मानों में अग्रगण्य था। आगरे की उक्त सोसाइटी के लिए संवत् 1897 में पंडित ओंकार भट्ट ने 'भूगोल सार' और संवत् 1904 में पं. बद्रीलाल शर्मा ने 'रसायन प्रकाश' लिखा। कलकत्तो में भी ऐसी ही एक स्कूल बुक सोसाइटी थी जिसने 'पदार्थ

विद्यासागर' (संवत् 1903) आदि कई वैज्ञानिक पुस्तकें निकाली थीं। इसी प्रकार कुछ रीडरें भी मिशनरियों के छापेखाने से निकली थीं , जैसे 'आजमगढ़ रीडर' जो इलाहाबाद मिशन प्रेस से संवत् 1897 में प्रकाशित हुई थी।

बलवे के कुछ पहले ही मिर्जापुर में ईसाइयों का एक 'आरफेन प्रेस' खुला था जिससे शिक्षा संबंधिनी कई पुस्तकें शेरिंग साहब के संपादन में निकली थीं, जैसे , भूचरित्रदर्पण, भूगोलविद्या, मनोरंजक वृत्तांत, जंतुप्रबंध, विद्यासार, विद्वान संग्रह। ये पुस्तकें संवत् 1912 और 1919 के बीच की हैं। तब से मिशन सोसाइटियों के द्वारा बराबर, विशुद्ध हिन्दी में पुस्तकें और पंफलेट आदि छपते आ रहे हैं जिनमें कुछ खंडन मंडन, उपदेश और भजन आदि रहा करते थे। 'आसी' और 'जान' के भजन देशी ईसाइयों में बहुत प्रचलित हुए और अब तक गाए जाते हैं। सारांश यह कि हिन्दी गद्य के प्रसार में ईसाइयों का बहुत कुछ योग रहा है। शिक्षा संबंधिनी पुस्तकें तो पहले पहल उन्होंने तैयार कीं। इन बातों के लिए हिन्दी प्रेमी उनके सदा कृतज्ञ रहेंगे।

कहने की आवश्यकता नहीं कि ईसाइयों के प्रचारकार्य का प्रभाव हिंदुओं की जनसंख्या पर ही पड़ रहा था। अत: हिंदुओं के शिक्षित वर्ग के बीच स्वधर्म रक्षा की आकुलता दिखाई पड़ने लगी। ईसाई उपदेशक हिंदू धर्म की स्थूल और बाहरी बातों को लेकर ही अपना खंडन-मंडन चलाते आ रहे थे। यह देखकर बंगाल में राजा राममोहन राय उपनिषद् और वेदांत का ब्रह्मज्ञान लेकर उसका प्रचार करने खड़े हुए। नूतन शिक्षा के प्रभाव से पढ़े लिखे लोगों में से बहुतों के मन में मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, जातिपाँति, छुआछूत आदि के प्रति अश्र(ा हो रही थी। अत: राममोहन राय ने इन बातों को अलग करके शुद्ध ब्रह्मोपासना का प्रवर्तन करने के लिए 'ब्रह्मसमाज' की नींव डाली। संवत् 1872 में उन्होंने वेदांत सूत्रों के भाष्य का हिन्दी अनुवाद करके प्रकाशित कराया था। संवत् 1886 में उन्होंने 'बंगदूत' नाम का एक संवाद पत्र भी हिन्दी में निकाला। राजा साहब की भाषा में एकआधा जगह कुछ बँग्लापन जरूर मिलता है, पर उसका रूप अधिकांश में वही है, जो शास्त्रज्ञ विद्वानों के व्यवहार में आता था। नमूना देखिए , जो सब ब्राह्मण सांग वेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य हैं, यह प्रमाण करने की इच्छा करके ब्राह्मण धर्मपरायण श्री सुब्रह्मण्य शास्त्रीजी ने जो पत्र सांगवेदाध्ययनहीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप पठाया है, उसमें देखा जो उन्होंने लिखा है , वेदाध्ययनहीन मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं।

कई नगरों में, जिनमें कलकत्ता मुख्य था, अब छापेखाने हो गए थे। बंगाल से कुछ अंग्रेजी और कुछ बँग्ला के पत्र भी निकलने लगे थे जिनके पढ़नेवाले भी हो गए थे। इस परिस्थिति में पं. जुगुलकिशोर ने, जो कानपुर के रहनेवाले थे, संवत् 1883 में 'उदंत मार्तंड' नाम का एक संवाद पत्र निकाला जिसे हिन्दी का पहला समाचार पत्र समझना चाहिए जैसा कि उसके इस लेख से प्रकट होता है , यह उदंत मार्तंड अब पहिले पहल हिंदुस्तानियों के हित के हेत जो आज तक किसी ने नहीं चलाया, पर अंग्रेजी ओ पारसी ओ बँगले में जो समाचार का कागज छपता है उसका सुख उन बोलियों के जान्ने ओ पढ़ने वालों को ही होता है। इससे सत्य समाचार हिंदुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ ओ समझ लेयँ ओ पराई अपेक्षा न करें ओ अपने भाषे की उपज न छोड़ें इसलिए श्रीमान गवरनर जनरल बहादुर की आयस से ऐसे साहस में चित्त लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाट ठाटा। जो कोई प्रशस्त लोग इस खबर के कागज के लेने की इच्छा करें तो अमड़ा तला की गली 37 अंक मार्तंड छापाघर में अपना नाम ओ ठिकाना भेजने ही से सतवारे के सतवारे यहाँ के रहने वाले घर बैठे ओ बाहिर के रहने वाले डाक पर कागज पाया करेंगे।

यह पत्र एक ही वर्ष चलकर सहायता के अभाव में बंद हो गया। इसमें 'खड़ी बोली' का 'मध्यदेशीय भाषा' के नाम से उल्लेख किया गया है। भाषा का स्वरूप दिखाने के लिए कुछ और उदाहरण दिए जाते हैं ,

एक यशी वकील वकालत का काम करते करते बुङ्ढा होकर अपने दामाद को यह काम सौंप के आप सुचित हुआ। दामाद कई दिन काम करके एक दिन आया ओ प्रसन्न होकर बोला , हे महाराज! आपने जो फलाने का पुराना वो संगीन मोकद्दमा हमें सौंपा था सो आज फैसला हुआ। यह सुनकर वकील पछता करके बोला , तुमने सत्यानाश किया। उस मोकद्दमे से हमारे बाप बड़े थे तिस पीछे हमारे बाप मरती समय हमें हाथ उठाकर के दे गए ओ हमने भी उसको बना रखा ओ अब तक भलीभाँति अपना दिन कटा ओ वही मोकद्दमा तुमको सौंप कर समझा था कि तुम भी अपने बेटे पोते परोतों तक पलोगे पर तुम थोड़े से दिनों में उसे खो बैठे।

19 नवंबर को अवधबिहारी बादशाह के आवने की तोपें छूटीं। उस दिन तीसरे पहर को पर्टांलग साहिब ओ हेल साहिब ओ मेजर फिडल लार्ड साहिब की ओर से अवधबिहारी की छावनी में जा करके बड़े साहिब का सलाम कहा और भोर होके लार्ड साहिब के साथ हाजिरी करने का नेवता किया। फिर

अवधबिहारी बादशाह के जाने के लिए कानपुर के तले गंगा में नावों की पुलबंदी हुई और बादशाह बड़े ठाट से गंगा पार हो गवरनर जेनरल बहादुर के सन्निद्ध गए।

रीतिकाल के समाप्त होते होते अंग्रेजी राज्य देश में पूर्ण रूप में स्थापित हो गया। इस राजनीतिक घटना के साथ देशवासियों की शिक्षाविधि में भी परिवर्तन हो चला। अंगरेज सरकार ने अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार की व्यवस्था की। संवत् 1854 में ही ईस्ट इंडिया कंपनी के डाइरेक्टरों के पास अंग्रेजी की शिक्षा द्वारा भारतवासियों को शिक्षित बनाने का परामर्श भेजा गया था। पर उस समय उस पर कुछ न हुआ। पीछे राजा राममोहन राय प्रभृति कुछ शिक्षित और प्रभावशाली सज्जनों के उद्योग से अंग्रेजी की पढ़ाई के लिए कलकत्ता में हिंदू कॉलेज की स्थापना हुई जिसमें से लोग अंग्रेजी पढ़ पढ़कर निकलने और सरकारी नौकरियाँ पाने लगे। देशी भाषा पढ़कर भी कोई शिक्षित हो सकता है, यह विचार उस समय तक लोगों को न था। अंग्रेजी के सिवाय यदि किसी भाषा पर ध्यान जाता था तो संस्कृत या अरबी पर। संस्कृत की पाठशालाओं और अरबी के मदरसों को कंपनी की सरकार से थोड़ी बहुत सहायता मिलती आ रही थी पर अंग्रेजी के शौक के सामने इन पुरानी संस्थाओं की ओर से लोग उदासीन होने लगे। इनको जो सहायता मिलती थी धीरे धीरे वह भी बंद हो गई। कुछ लोगों ने इन प्राचीन भाषाओं की शिक्षा का पक्ष ग्रहण किया था पर मेकाले ने अंग्रेजी भाषा की शिक्षा का इतने जोरों के साथ समर्थन किया और पूरबी साहित्य के प्रति ऐसी उपेक्षा प्रकट की कि अंत में संवत् 1892 (मार्च 7, सन् 1835) में कंपनी की सरकार ने अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार का प्रस्ताव पास कर दिया और धीरे धीरे अंग्रेजी के स्कूल खुलने लगे। अंग्रेजी शिक्षा की व्यवस्था हो जाने पर अंग्रेजी सरकार का ध्यान अदालती भाषा की ओर गया। मोगलों के समय में अदालती कार्रवाइयाँ और दफ्तर के सारे काम फारसी भाषा में होते थे जब अंग्रेजों का आधिपत्य हुआ तब उन्होंने भी दफ्तरों में वही परंपरा जारी रखी। दफ्तरों की भाषा फारसी रहने तो दी गई, पर उस भाषा और लिपि से जनता के अपरिचित रहने के कारण लोगों को जो कठिनता होती थी उसे कुछ दूर करने के लिए संवत् 1860 में, एक नया कानून जारी होने पर, कंपनी सरकार की ओर से यह आज्ञा निकाली गई ।

किसी को इस बात का उजूर नहीं होए कि ऊपर के दफे का लीखा हुकुम सभसे वाकीफ नहीं है, हरी एक जिले के कलीकटर साहेब को लाजीम है कि इस आईन के पावने पर एक केता इसतहारनामा निचे के तरह से फारसी व नागरी

भाखा के अच्छर में लिखाय कै...कचहरी में लटकावही। अदालत के जजसाहिब लोग के कचहरी में भी तमामी आदमी के बुझने के वास्ते लटकावही (अंग्रेजी सन् 1803 साल, 31 आईन 20 दफा)।

फारसी के अदालती भाषा होने के कारण जनता को कठिनाइयाँ होती थीं, उनका अनुभव अधिकाधिक होने लगा। अतः सरकार ने संवत् 1893 (सन् 1836ई) में 'इश्तहारनामे' निकाले कि अदालती सब काम देश की प्रचलित भाषाओं में हुआ करें। हमारे संयुक्त प्रदेश के सदर बोर्ड की तरफ से जो 'इश्तहारनामा' हिन्दी में निकलता था उसकी नकल नीचे दी जाती है ,

इश्तहारनामा: बोर्ड सदर

पच्छाँह के सदर बोर्ड के साहिबों ने यह ध्यान किया है कि कचहरी के सब काम फारसी जबान में लिखा पढ़ा होने से सब लोगों का बहुत हर्ज पड़ता है और बहुत कलप होता है, और जब कोई अपनी अर्जी अपनी भाषा में लिख के सरकार में दाखिल करने पावे तो बड़ी बात होगी। सबको चैन आराम होगा। इसलिए हुक्म दिया गया है कि 1244 की कुवार बदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर व बोर्ड में हो सो अपना अपना सवाल अपनी हिन्दी को बोली में और पारसी के नागरी अच्छरन में लिखे दाखिल करे कि डाक पर भेजे और सवाल जौन अच्छरन में लिखा हो तौने अच्छरन में और हिन्दी बोली में उस पर हुक्म लिखा जायगा। मिति 29 जुलाई, सन् 1836 ई.।

इस इश्तहारनामे में स्पष्ट कहा गया है कि बोली 'हिन्दी' ही हो, अक्षर नागरी के स्थान पर फारसी भी हो सकते हैं। खेद की बात है कि यह उचित व्यवस्था चलने न पाई। मुसलमानों की ओर से इस बात का घोर प्रयत्न हुआ कि दफ्तरों में हिन्दी रहने न पाए, उर्दू चलाई जाय। उनका चक्र बराबर चलता रहा यहाँ तक कि एक वर्ष बाद ही अर्थात् संवत् 1894 (सन् 1837 ई.) में उर्दू हमारे प्रांत के सब दफ्तरों की भाषा कर दी गई।

सरकार की कृपा से खड़ी बोली का अरबी फारसीमय रूप लिखने पढ़ने की अदालती भाषा होकर सबके सामने आ गया। जीविका और मान मर्यादा की दृष्टि से उर्दू सीखना आवश्यक हो गया। देश भाषा के नाम पर लड़कों को उर्दू ही सिखाई जाने लगी। उर्दू पढ़े लिखे लोग ही शिक्षित कहलाने लगे। हिन्दी की काव्यपरंपरा यद्यपि राजदरबारों के आश्रय में चली चलती थी पर उसके पढ़नेवालों की संख्या भी घटती जा रही थी। नवशिक्षित लोगों का लगाव उसके

साथ कम होता जा रहा था। ऐसे प्रतिकूल समय में साधारण जनता के साथ उर्दू पढ़े लिखे लोगों की जो भी थोड़ी बहुत दृष्टि अपने पुराने साहित्य की बनी हुई थी, वह धर्मभाव से। तुलसीकृत रामायण की चौपाइयाँ और सूरदास जी के भजन आदि ही उर्दूग्रस्त लोगों का कुछ लगाव 'भाखा' से भी बनाए हुए थे। अन्यथा अपने परंपरागत साहित्य के नवशिक्षित लोगों का मन अधिकांश कालचक्र के प्रभाव से विमुख हो रहा था।शृंगाररस की भाषा कविता का अनुशीलन भी गाने बजाने आदि के शौक की तरह इधर उधर बना हुआ था। इस स्थिति का वर्णन करते हुए स्वर्गीय बाबू बालमुकुंद गुप्त लिखते हैं,

जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे फारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिन्दी भाषा हिन्दी न रहकर उर्दू बन गई।...हिन्दी उस भाषा का नाम रहा जो टूटीफूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी।

संवत् 1902 में यद्यपि राजा शिवप्रसाद शिक्षा विभाग में नहीं आए थे पर विद्याव्यसनी होने के कारण अपनी भाषा हिन्दी की ओर उनका ध्यान था। अत: इधर उधर दूसरी भाषाओं में समाचार पत्र निकलते देख उन्होंने उक्त संवत् में उद्योग करके काशी से 'बनारस अखबार' निकलवाया। पर अखबार पढ़नेवाले पहले पहल नवशिक्षितों में मिल सकते थे जिनकी लिखने पढ़ने की भाषा उर्दू ही हो रही थी। अत: इस पत्र की भाषा भी उर्दू ही रखी गई, यद्यपि अक्षर देवनागरी के थे। यह पत्र बहुत ही घटिया कागज पर लीथो में छपता था। भाषा इसकी यद्यपि गहरी उर्दू होती थी पर हिन्दी की कुछ सूरत पैदा करने के लिए बीच में 'धार्मात्मा', 'परमेश्वर', 'दया' ऐसे कुछ शब्द भी रख दिए जाते थे। इसमें राजा साहब भी कभी कभी कुछ लिख दिया करते थे। इस पत्र की भाषा का अंदाजा नीचे उद्धत अंश से लग सकता है ,

यहाँ जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहिब बहादुर के इहतिमाम और धार्मात्माओं के मदद से बनता है उसका हाल कई दफा जाहिर हो चुका है।...देखकर लोग उस पाठशाले के किते के मकानों की खूबियाँ अकसर बयान करते हैं और उनके बनने के खर्च की तजबीज करते हैं कि जमा से जियादा लगा होगा और हर तरह से लायक तारीफ के हैं। सो यह सब दानाई साहिब ममदूह की है।

इस भाषा को लोग हिन्दी कैसे समझ सकते थे? अत: काशी से ही एक दूसरा पत्र 'सुधाकर' बाबू तारामोहन मित्र आदि कई सज्जनों के उद्योग से संवत् 1907 में निकला। कहते हैं कि काशी के प्रसिद्ध ज्योतिषी सुधाकरजी का

नामकरण इसी पत्र के नाम पर हुआ था। जिस समय उनके चाचा के हाथ में डाकिए ने यह पत्र दिया था ठीक उसी समय भीतर से उनके पास सुधाकरजी के उत्पन्न होने की खबर पहुँची थी। इस पत्र की भाषा बहुत कुछ सुधारी हुई थी तथा ठीक हिन्दी थी, पर यह पत्र कुछ दिन चला नहीं। इसी समय के लगभग अर्थात् संवत् 1909 में आगरे से मुंशी सदासुखलाल के प्रबंध और संपादन में 'बुद्धि प्रकाश' निकला जो कई वर्ष तक चलता रहा। 'बुद्धि प्रकाश' की भाषा उस समय को देखते हुए बहुत अच्छी होती थी। नमूना देखिए–

कलकत्ते के समाचार

इस पश्चिमीय देश में बहुतों को प्रगट है कि बंगाले की रीति के अनुसार उस देश के लोग आसन्नमृत्यु रोगी को गंगातट पर ले जाते हैं और यह तो नहीं करते कि उस रोगी के अच्छे होने के लिए उपाय करने में काम करें और उसे यत्न से रक्षा में रक्खें वरन् उसके विपरीत रोगी को जल के तट पर ले जाकर पानी में गोते देते हैं और 'हरी बोल', श्हरी बोल' कहकर उसका जीव लेते हैं।

स्त्रियों की शिक्षा के विषय

स्त्रियों में संतोष और नम्रता और प्रीत यह सब गुण कर्ता ने उत्पन्न किए हैं, केवल विद्या की न्यूनता है, जो यह भी हो तो स्त्रियाँ अपने सारे ऋण से चुक सकती हैं और लड़कों को सिखानापढ़ाना जैसा उनसे बन सकता है वैसा दूसरों से नहीं। यह काम उन्हीं का है कि शिक्षा के कारण बाल्यावस्था में लड़कों को भूलचूक से बचावें और सरलसरल विद्या उन्हें सिखाएँ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अदालती भाषा उर्दू बनाई जाने पर भी विक्रम की बीसवीं शताब्दी के आरंभ के पहले से ही हिन्दी खड़ी बोली गद्य की परंपरा हिन्दी साहित्य में अच्छी तरह चल पड़ी, उसमें पुस्तकें छपने लगीं, अखबार निकलने लगे। पद्य की भाषा ब्रजभाषा ही बनी रही। अब अंगरेज सरकार का ध्यान देशी भाषाओं की शिक्षा की ओर गया और उसकी व्यवस्था की बात सोची जाने लगी। हिन्दी को अदालतों से निकलवाने में मुसलमानों को सफलता हो चुकी थी। अब वे इस प्रयत्न में लगे कि हिन्दी को शिक्षाक्रम में भी स्थान न मिले, उसकी पढ़ाई का भी प्रबंध न होने पाए। अतः सर्वसाधारण की शिक्षा के लिए जब जगहजगह मदरसे खुलने की बात उठी और सरकार यह विचारने लगी कि हिन्दी का पढ़ना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक रखा जाय तब

प्रभावशाली मुसलमानों की ओर से गहरा विरोध खड़ा किया गया। यहाँ तक कि तंग आकर सरकार को अपना विचार छोड़ना पड़ा और उसने संवत् 1905 (सन् 1848) में यह सूचना निकाली ,

ऐसी भाषा का जानना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक ठहराना जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी जबान नहीं है, हमारी राय में ठीक नहीं है। इसके सिवाय मुसलमान विद्यार्थी, जिनकी संख्या देहली कॉलेज में बड़ी है, इसे अच्छी नजर से नहीं देखेंगे। हिन्दी के विरोध की यह चेष्टा बराबर बढ़ती गई। संवत् 1911 के पीछे जब शिक्षा का पक्का प्रबंध होने लगा तब यहाँ तक कोशिश की गई कि वर्नाक्यूलर स्कूलों में हिन्दी की शिक्षा जारी ही न होने पाए। विरोध के नेता थे सर सैयद अहमद साहब जिनका अंग्रेजों के बीच बड़ा मान था। वे हिन्दी को एक गँवारी बोली बताकर अंग्रेजों को उर्दू की ओर झुकाने की लगातार चेष्टा करते आ रहे थे। इस प्रांत के हिंदुओंमेंराजाशिवप्रसाद अंग्रेजों के उसी ढंग के कृपापात्र थे जिस ढंग से सर सैयद अहमद। अत: हिन्दी की रक्षा के लिए उन्हें खड़ा होना पड़ा और वे बराबर इस संबंध में यत्नशील रहे। इससे हिन्दी उर्दू का झगड़ा बीसों वर्ष तक , भारतेंदु के समय तक , चलता रहा।

'गार्सां द तासी' एक फरांसीसी विद्वान थे जो पेरिस में हिंदुस्तानी या उर्दू के अध्यापक थे। उन्होंने संवत् 1896 में 'हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास' लिखा था जिसमें उर्दू के कवियों के साथ हिन्दी के भी कुछ विद्वान कवियों का उल्लेख था। संवत् 1909 (5 दिसंबर, सन् 1852) के अपने व्याख्यान में उन्होंने उर्दू और हिन्दी दोनों भाषाओं की युगपद् सत्ता इन शब्दों में स्वीकार की थी ,

उत्तर के मुसलमानों की भाषा यानी हिंदुस्तानी उर्दू पश्चिमोत्तार प्रदेश (अब संयुक्त प्रांत) की सरकारी भाषा नियत की गई है। यद्यपि हिन्दी भी उर्दू के साथसाथ उसी तरह बनी हुई है जिस तरह वह फारसी के साथ थी। बात यह है कि मुसलमान बादशाह सदा से एक हिन्दी सेक्रेटरी, जो हिन्दीनवीस कहलाता था और एक फारसी सेक्रेटरी, जिसको फारसीनवीस कहते थे, रखा करते थे, जिससे उनकी आज्ञाएँ दोनों भाषाओं में लिखी जायँ। इस प्रकार अंगरेज सरकार पश्चिमोत्तार प्रदेश में हिंदू जनता के लिए प्राय: सरकारी कानूनों का नागरी अक्षरों में हिन्दी अनुवाद भी उर्दू कानूनी पुस्तकों के साथ देती है।

तासी के व्याख्यानों से पता लगता है कि उर्दू के अदालती भाषा नियत हो जाने पर कुछ दिन सीधी भाषा और नागरी अक्षरों में भी कानूनों और सरकारी आज्ञाओं के हिन्दी अनुवाद छपते रहे। जान पड़ता है कि उर्दू के पक्षपातियों का

जोर जब बढ़ा तब उनका छपना एकदम बंद हो गया। जैसा कि अभी कह आए हैं राजा शिवप्रसाद और भारतेंदु के समय तक हिन्दीउर्दू का झगड़ा चलता रहा। गार्सां द तासी ने भी फ्रांस में बैठेबैठे इस झगड़े में योग दिया। ये अरबीफारसी के अभ्यासी और हिंदुस्तानीया उर्दू के अध्यापक थे। उस समय के अधिकांश और यूरोपियनों के समानउनका भी मजहबी संस्कार प्रबल था। यहाँ जब हिन्दी–उर्दू का सवाल उठा तब सर सैयद अहमद, जो अंग्रेजों से मेलजोल रखने की विद्या में एक ही थे, हिन्दी विरोध में और बल लाने के लिए मजहबी नुसखा भी काम में लाए। अंग्रेजों को सुझाया गया कि हिन्दी हिंदुओं की जबान है, जो 'बुतपरस्त' हैं और उर्दू मुसलमानों की जिनके साथ अंग्रेजों का मजहबी रिश्ता है , दोनों 'सामी' या 'पैगंबरी' मत के माननेवाले हैं।

जिस गार्सां द तासी ने संवत् 1909 के आसपास हिन्दी और उर्दू दोनों का रहना आवश्यक समझा था और कभी कहा था कि ,

यद्यपि मैं खुद उर्दू का बड़ा भारी पक्षपाती हूँ, लेकिन मेरे विचार में हिन्दी को विभाषा या बोली कहना उचित नहीं।

वही गार्सां द तासी आगे चलकर, मजहबी कट्टरपन की प्रेरणा से, सर सैयद अहमद की भरपेट तारीफ करके हिन्दी के संबंध में फरमाते हैं , इस वक्त हिन्दी की हैसियत भी एक बोली (डायलेक्ट) की सी रह गई है, जो हर गाँव में अलग अलग ढंग से बोली जाती है।

हिन्दी उर्दू का झगड़ा उठने पर आपने महजबी रिश्ते के खयाल से उर्दू का पक्ष ग्रहण किया और कहा ,

हिन्दी में हिंदू धर्म का आभास है , वह हिंदू धर्म जिसके मूल में बुतपरस्ती और उसके आनुषंगिक विधान हैं। इसके विपरीत उर्दू में इसलामी संस्कृति और आचार व्यवहार का संचय है। इस्लाम भी 'सामी' मत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सि(ांत है, इसीलिए इसलामी तहजीब में ईसाई या मसीही तहजीब की विशेषताएँ पाई जाती हैं।

संवत् 1927 के अपने व्याख्यान में गार्सां द तासी ने साफ खोलकर कहा,

मैं सैयद अहमद खाँ जैसे विख्यात मुसलमान विद्वान की तारीफ में और ज्यादा नहीं कहना चाहता हूँ। उर्दू भाषा और मुसलमानों के साथ मेरा जो लगाव है वह कोई छिपी हुई बात नहीं है। मैं समझता हूँ कि मुसलमान लोग कुरान को तो आसमानी किताब मानते ही हैं, इंजील की शिक्षा को भी अस्वीकार नहीं करतेय पर हिंदू लोग मूर्तिपूजक होने के कारण इंजील की शिक्षा नहीं मानते।

परंपरा से चली आती हुई देश की भाषा का विरोध और उर्दू का समर्थन कैसे कैसे भावों की प्रेरणा से किया जाता रहा है, यह दिखाने के लिए इतना बहुत है। विरोध प्रबल होते हुए भी जैसे देश भर में प्रचलित अक्षरों और वर्णमाला को छोड़ना असंभव था वैसे ही परंपरा से चले आते हुए हिन्दी साहित्य को भी। अत: अदालती भाषा उर्दू होते हुए भी शिक्षा विधान में देश की असली भाषा हिन्दी को भी स्थान देना ही पड़ा। काव्यसाहित्य तो प्रचुर परिमाण में भरा पड़ा था। अत: जिस रूप में वह था उसी रूप में उसे लेना ही पड़ा। गद्य की भाषा को लेकर खींचतान आरंभ हुई। इसी खींचतान के समय में राजा लक्ष्मण और राजा शिवप्रसाद मैदान में आए।

संदर्भ

1. अपनी कहानी का आरंभ ही उन्होंने इस ढंग से किया है , जैसे लखनऊ के भाँड़ घोड़ा कुदाते हुए महिफल में आते हैं।

प्रकरण 2 गद्य साहित्य का आविर्भाव

किस प्रकार हिन्दी के नाम से नागरी अक्षरों में उर्दू ही लिखी जाने लगी थी, इसकी चर्चा 'बनारस अखबार' के संबंध में कर आए हैं। संवत् 1913 में अर्थात् बलवे के एक वर्ष पहले राजा शिवप्रसाद शिक्षाविभाग में इंस्पेक्टर पद पर नियुक्त हुए। उस समय दूसरे विभागों के समान शिक्षाविभाग में भी मुसलमानों का जोर था जिनके मन में 'भाखापन' का डर बराबर समाया रहता था। वे इस बात से डरा करते थे कि कहीं नौकरी के लिए 'भाखा' संस्कृत से लगाव रखनेवाली 'हिन्दी', न सीखनी पड़े। अत: उन्होंने पहले तो उर्दू के अतिरिक्त हिन्दी की पढ़ाई की व्यवस्था का घोर विरोध किया। उनका कहना था कि जब अदालती कामों में उर्दू ही काम में लाई जाती है तब एक और जबान का बोझ डालने से क्या लाभ? 'भाखा' में हिंदुओं की कथावार्ता आदि कहते सुन वे हिन्दी को 'गँवारी' बोली भी कहा करते थे। इस परिस्थिति में राजा शिवप्रसाद को हिन्दी की रक्षा के लिए बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ा। हिन्दी का सवाल जब आता तब मुसलमान उसे 'मुश्किल जबान' कहकर विरोध करते। अत: राजा साहब के लिए उस समय यही संभव दिखाई पड़ा कि जहाँ तक हो सके ठेठ हिन्दी का आश्रय लिया जाय जिसमें कुछ फारसीअरबी के चलते शब्द भी आएँ। उस समय साहित्य के कोर्स के लिए पुस्तकें नहीं थीं। राजा साहब स्वयं तो पुस्तकें तैयार करने में लग ही गए, पं. श्रीलाल और पं. वंशीधार आदि अपने कई

मित्रों को भी उन्होंने पुस्तकें लिखने में लगाया। राजा साहब ने पाठयक्रम में उपयोगी कई कहानियाँ आदि लिखीं , जैसे राजा भोज का सपना, वीरसिंह का वृत्तांत, आलसियों को कोड़ा इत्यादि। संवत् 1909 और 1919 के बीच शिक्षा संबंधी अनेक पुस्तकें हिन्दी में निकलीं जिनमें से कुछ का उल्लेख किया जाता है , पं. वंशीधार ने, जो आगरा नार्मल स्कूल के मुदर्रिस थे, हिन्दी उर्दू का एक पत्र निकाला था जिसके हिन्दी कॉलम का नाम 'भारतखंडामृत' और उर्दू कॉलम का नाम 'आबेहयात' था।

उनकी लिखी पुस्तकों के नाम ये हैं , 1. पुष्पवाटिका (गुलिस्ताँ के एक अंग का अनुवाद, संवत् 1909) 2. भारतवर्षीय इतिहास (संवत् 1913) 3. जीविका परिपाटी (अर्थशास्त्र की पुस्तक, संवत् 1913) 4. जगत् वृत्तांत (संवत् 1915) पं. श्रीलाल ने, संवत् 1909 में 'पत्रमालिका' बनाई। गार्सां द तासी ने इन्हें कई पुस्तकों का लेखक कहा है। बिहारीलाल ने गुलिस्ताँ के आठवें अध्याय का हिन्दी अनुवाद संवत् 1919 में किया। पं. बद्रीलाल ने डॉ. बैलंटाइन के परामर्श के अनुसार संवत् 1919 में 'हितोपदेश' का अनुवाद किया जिसमें बहुत सी कथाएँ छाँट दी गई थीं। उसी वर्ष 'सिद्धांतसंग्रह' (न्यायशास्त्र) और 'उपदेश पुष्पावती' नाम की दो पुस्तकें और निकली थीं। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि प्रारंभ में राजा साहब ने जो पुस्तकें लिखीं वे बहुत ही चलती सरल हिन्दी में थीं, उनमें उर्दूपन नहीं भरा था जो उनकी पिछली किताबों (इतिहासतिमिरनाशक आदि) में दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए 'राजा भोज का सपना' से कुछ अंश उद्धत किया जाता है , वह कौन सा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी महाराज भोज का नाम न सुना हो।

उसकी महिमा और कीर्ति तो सारे जगत् में ब्याप रही है। बड़ेबड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते। सेना उसकी समुद्र के तरंगों का नमूना और खजाना उसका सोने चाँदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया। अपने 'मानवधर्मसार' की भाषा उन्होंने अधिक संस्कृतगर्भित रखी है। इसका पता इस उद्धत अंश से लगेगा , मनुस्मृति हिंदुओं का मुख्य धर्मशास्त्र है। उसको कोई भी हिंदू अप्रामाणिक नहीं कह सकता। वेद में लिखा है कि मनु जी ने जो कुछ कहा है उसे जीव के लिए औषधि समझना, और बृहस्पति लिखते हैं कि धर्म शास्त्राचार्यों में मनु जी सबसे प्रधान और अति मान्य हैं क्योंकि उन्होंने अपने धर्मशास्त्र में संपूर्ण वेदों का तात्पर्य

लिखा है।...खेद की बात है कि हमारे देशवासी हिंदू कहलाके अपने मानवधर्मशास्त्र को न जानें और सारे कार्य उसके विरुद्ध करें। 'मानवधर्मसार' की भाषा राजा शिवप्रसाद की स्वीकृत भाषा नहीं है। प्रारंभकाल से ही वे ऐसी चलती ठेठ हिन्दी के पक्षपाती थे जिसमें सर्वसाधारण के बीच प्रचलित अरबीफारसी शब्दों का भी स्वच्छंद प्रयोग हो। यद्यपि अपने 'गुटका' में जो साहित्य की पाठयपुस्तक थी उन्होंने थोड़ी संस्कृत मिली ठेठ और सरल भाषा का ही आदर्श बनाए रखा, पर संवत् 1917 के पीछे उनका झुकाव उर्दू की ओर होने लगा जो बराबर बना क्या रहा, कुछ न कुछ बढ़ता ही गया।

इसका कारण चाहे जो समझिए। या तो यह कहिए कि अधिकांश शिक्षित लोगों की प्रवृत्ति देखकर उन्होंने ऐसा किया अथवा अंगरेज अधिाकारियों का रुख देखकर। अधिकतर लोग शायद पिछले कारण को ही ठीक समझेंगे। जो हो, संवत् 1917 के उपरांत जो इतिहास, भूगोल आदि की पुस्तकें राजा साहब ने लिखीं उनकी भाषा बिल्कुल उर्दूपन लिए है। 'इतिहासतिमिरनाशक' भाग–2 की अंग्रेजी भूमिका में, जो संवत् 1864 की लिखी है, राजा साहब ने साफ लिखा है कि मैंने 'बैताल पचीसी' की भाषा का अनुकरण किया है। यह कहा जा चुका है कि 'बैताल पचीसी' की भाषा बिल्कुल उर्दू है। राजा साहब ने अपने इस उर्दूवाले पिछले सिद्धांत का 'भाषा का इतिहास' नामक जिस लेख में निरूपण किया है, वही उनकी उस समय की भाषा का एक खास उदाहरण है, अतः उसका कुछ अंश नीचे दिया जाता है , हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए कि जो आम फहम और खासपसंद हों अर्थात् जिनको जियादा आदमी समझ सकते हैं और जो यहाँ के पढ़े लिखे, आलिमफाजिल, पंडित, विद्वान की बोलचाल में छोड़े नहीं गए हैं और जहाँ तक बन पड़े हम लोगों को हरगिज गैरमुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिए और न संस्कृत की टकसाल कायम करके नए नए ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिए, जब तक कि हम लोगों को उसके जारी करने की जरूरत न साबित हो जाय अर्थात् यह कि उस अर्थ का कोई शब्द हमारी जबान में नहीं है, या जो है अच्छा नहीं है, या कविताई की जरूरत या इल्मी जरूरत या कोई और खास जरूरत साबित हो जाय। भाषा संबंधी जिस सिद्धांत का प्रतिपादन राजा साहब ने किया है उसके अनुकूल उनकी यह भाषा कहाँ तक ठीक है, पाठक आप समझ सकते हैं। 'आमफहम', 'खासपसंद', 'इल्मी जरूरत' जनता के बीच प्रचलित शब्द कदापि नहीं हैं। फारसी के 'आलिमफाजिल' चाहे ऐसे शब्द बोलते हों पर संस्कृत हिन्दी

के 'पंडित विद्वान' तो ऐसे शब्दों से कोसों दूर हैं। किसी देश के साहित्य का संबंध उस देश की संस्कृति परंपरा से होता है। अत: साहित्य की भाषा उस संस्कृति का त्याग करके नहीं चल सकती। भाषा में जो रोचकता या शब्दों में जो सौंदर्य का भाव रहता है वह देश की प्रकृति के अनुसार होता है। इस प्रवृत्ति के निर्माण में जिस प्रकार देश के प्राकृतिक रूप रंग, आचार व्यवहार आदि का योग रहता है उसी प्रकार परंपरा से चले आते हुए साहित्य का भी। संस्कृत शब्दों में थोड़े बहुत मेल से भाषा का जो रुचिकर साहित्यिक रूप हजारों वर्षों से चला आता था उसके स्थान पर एक विदेशी रूप रंग की भाषा गले में उतारना देश की प्रकृति के विरुद्ध था।

यह प्रकृतिविरुद्ध भाषा खटकी तो बहुत लोगों को होगी, पर असली हिन्दी का नमूना लेकर उस समय राजा लक्ष्मण सिंह ही आगे बढ़े। उन्होंने संवत् 1918 में 'प्रजाहितैषी' नाम का एक पत्र आगरे से निकाला और 1919 में 'अभिज्ञान शाकुंतल' का अनुवाद बहुत ही सरस और विशुद्ध हिन्दी में प्रकाशित किया। इस पुस्तक की बड़ी प्रशंसा हुई और भाषा के संबंध में मानो फिर से लोगों की ऑख खुली। राजा साहब ने उस समय इस प्रकार की भाषा जनता के सामने रखी , अनसूया , (हौले प्रियंवदा से) सखी! मैं भी इसी सोच विचार में हूँ। अब इससे कुछ पूछूँगी। (प्रगट) महात्मा! तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो? क्या कारन है जिससे तुमने अपने कोमल गात को कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है? यह भाषा ठेठ और सरल होते हुए भी साहित्य में चिरकाल से व्यवहृत संस्कृत के कुछ रसिक शब्द लिए हुए है। रघुवंश के गद्यानुवाद के प्राक्कथन में राजा लक्ष्मण सिंहजी ने भाषा के संबंध में अपना मत स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है। हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं।

हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और पारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल है। हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी पारसी के। परंतु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी पारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी पारसी के शब्द भरे हों। अब भारत की देशभाषाओं के अध्ययन की ओर इंगलैंड के लोगों का भी ध्यान अच्छी तरह जा चुका था। उनमें जो अध्ययनशील और विवेकी थे, जो अखंड भारतीय साहित्य परंपरा और भाषा परंपरा से अभिज्ञ हो

गए थे, उन पर अच्छी तरह प्रकट हो गया था कि उत्तरीय भारत की असली स्वाभाविक भाषा का स्वरूप क्या है। इन अंगरेज विद्वानों में फ्रेडरिक पिंकाट का स्मरण हिन्दी प्रेमियों को सदा बनाए रखना चाहिए। इनका जन्म संवत् 1893 में इंगलैंड में हुआ। उन्होंने प्रेस के कामों का बहुत अच्छा अनुभव प्राप्त किया और अंत में लंदन की प्रसिद्ध ऐलन ऐंड कंपनी के विशालछापेखाने के मैनेजर हुए। वहीं वे अपने जीवन के अंतिम दिनों के कुछ पहले तक शांतिपूर्वक रहकर भारतीय साहित्य और भारतीय जनहित के लिए बराबर उद्योग करते रहे। संस्कृत की चर्चा पिंकाट साहब लड़कपन से ही सुनते आते थे, इससे उन्होंने बहुत परिश्रम के साथ उसका अध्ययन किया।

इसके उपरांत उन्होंने हिन्दी और उर्दू का अभ्यास किया। इंगलैंड में बैठे ही बैठे उन्होंने इन दोनों भाषाओं पर ऐसा अधिकार प्राप्त कर लिया कि इनमें लेख और पुस्तकें लिखने और अपने प्रेस में छपाने लगे। यद्यपि उन्होंने उर्दू का भी अच्छा अभ्यास किया था, पर उन्हें इस बात का अच्छी तरह निश्चय हो गया था कि यहाँ की परंपरागत प्रकृत भाषा हिन्दी है, अतः जीवन भर ये उसी की सेवा और हितसाधना में तत्पर रहे। उनके हिन्दी लेखों, कविताओं और पुस्तकों की चर्चा आगे चलकर भारतेंदुकाल के भीतर की जाएगी। संवत् 1947 में उन्होंने उपर्युक्त ऐलन कंपनी से संबंध तोड़ा और गिलवर्ट ऐंड रिविंगटन नामक विख्यात व्यवसाय कार्यालय में पूर्वीय मंत्री नियुक्त हुए। उक्त कंपनी की ओर से एक व्यापार पत्र 'आईन सौदागरी' उर्दू में निकलता था जिसका संपादन पिंकाट साहब करते थे। उन्होंने उसमें कुछ पृष्ठ हिन्दी के लिए भी रखे। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी के लेख वे ही लिखते थे।

लेखों के अतिरिक्त हिंदुस्तान में प्रकाशित होनेवाले हिन्दी समाचार पत्रों (जैसे हिंदोस्तान, आर्यदर्पण, भारतमित्र) से उद्धरण भी उस पत्र के हिन्दी विभाग में रहते थे। भारत का हित वे सच्चे हृदय से चाहते थे। राजा लक्ष्मणसिंह, भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, कार्तिकप्रसाद खत्री इत्यादि हिन्दी लेखकों से उनका बराबर हिन्दी में पत्रव्यवहार रहता था। उस समय के प्रत्येक हिन्दी लेखक के घर में पिंकाट साहब के दो-चार पत्र मिलेंगे। हिन्दी के लेखकों और ग्रंथकारों का परिचय इंगलैंडवालों को वहाँ के पत्रों में लेख लिखकर वे बराबर दिया करते थे। संवत् 1952 में (नवंबर सन् 1895) में वे रीआ घास (जिसके रेशों से अच्छे कपड़े बनते थे) की खेती का प्रचार करने हिंदुस्तान में आए, पर साल भर से कुछ ऊपर ही यहाँ रह पाए थे कि लखनऊ में उनका देहांत (7 फरवरी, 1896)

हो गया। उनका शरीर भारत की मिट्टी में ही मिला। संवत् 1919 में जब राजा लक्ष्मणसिंह ने 'शकुंतला नाटक' लिखा तब उसकी भाषा देख वे बहुत ही प्रसन्न हुए और उसका एक बहुत सुंदर परिचय उन्होंने लिखा। बात यह थी कि यहाँ के निवासियों पर विदेशी प्रकृति और रूप-रंग की भाषा का लादा जाना वे बहुत अनुचित समझते थे। अपना यह विचार उन्होंने अपने उस अंग्रेजी लेख में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है, जो उन्होंने बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री के 'खड़ी बोली का पद्य' की भूमिका के रूप में लिखा था।

देखिए, उसमें वे क्या कहते हैं , फारसी मिश्रित हिन्दी (अर्थात् उर्दू या हिंदुस्तानी) के अदालती भाषा बनाए जाने के कारण उसकी बड़ी उन्नति हुई। इससे साहित्य की एक नई भाषा ही खड़ी हो गई। पश्चिमोत्तार प्रदेश के निवासी, जिनकी यह भाषा कही जाती है, इसे एक विदेशी भाषा की तरह स्कूलों में सीखने के लिए विवश किये जाते हैं। पहले कहा जा चुका है कि शिवप्रसाद ने उर्दू की ओर झुकाव हो जाने पर भी साहित्य की पाठयपुस्तक 'गुटका' में भाषा का आदर्श हिन्दी ही रखा। उक्त गुटका में उन्होंने 'राजा भोज का सपना', श्रानी केतकी की कहानी' के साथ ही राजा लक्ष्मणसिंह के 'शकुंतला नाटक' का भी बहुत सा अंश रखा। पहला गुटका शायद संवत् 1924 में प्रकाशित हुआ था। संवत् 1919 और 1924 के बीच कई संवाद पत्र हिन्दी में निकले। 'प्रजाहितैषी' का उल्लेख हो चुका है। संवत् 1920 में 'लोकमित्र' नाम का एक पत्र ईसाईधर्म प्रचार के लिए आगरे (सिकंदरे) से निकला था जिसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती थी। लखनऊ से जो 'अवध अखबार' (उर्दू) निकलने लगा था उसके कुछ भाग में हिन्दी के लेख भी रहते थे।

जिस प्रकार इधर संयुक्त प्रांत में राजा शिवप्रसाद शिक्षाविभाग में रहकर हिन्दी की किसी न किसी रूप में रक्षा कर रहे थे उसी प्रकार पंजाब में बाबू नवीनचंद्र राय महाशय कर रहे थे। संवत् 1920 और 1937 के बीच नवीन बाबू ने भिन्नभिन्न विषयों की बहुत सी हिन्दी पुस्तकें तैयार कीं और दूसरों से तैयार कराईं। ये पुस्तकें बहुत दिनों तक वहाँ कोर्स में रहीं। पंजाब में स्त्री शिक्षा का प्रचार करनेवालों में ये मुख्य थे। शिक्षा प्रचार के साथ साथ समाज सुधार आदि के उद्योग में भी बराबर रहा करते थे। ईसाइयों के प्रभाव को रोकने के लिए किस प्रकार बंगाल में ब्रह्मसमाजकी स्थापना हुई थी और राजा राममोहन राय ने हिन्दी के द्वारा भी उसके प्रचार की व्यवस्था की थी, इसका उल्लेख पहले हो चुका है। नवीनचंद्र ने ब्रह्मसमाज के सिद्धांतों के प्रचार के उद्देश्य से समय समय पर

कई पत्रिकाएँ भी निकालीं। संवत1924 (मार्च, सन् 1867) में उनकी 'ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका' निकली जिसमें शिक्षासंबंधी तथा साधारण ज्ञान विज्ञानपूर्ण लेख भी रहा करते थे। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि शिक्षा विभाग द्वारा जिस हिन्दी गद्य के प्रचार में ये सहायक हुए वह शुद्ध हिन्दी गद्य था। हिन्दी को उर्दू के झमेले में पड़ने से ये सदा बचाते रहे। हिन्दी की रक्षा के लिए उन्हें उर्दू के पक्षपातियों से उसी प्रकार लड़ना पड़ता था जिस प्रकार यहाँ राजा शिवप्रसाद को। विद्या की उन्नति के लिए लाहौर में 'अंजुमन लाहौर' नाम की एक सभा स्थापित थी। संवत् 1923 के उसके एक अधिवेशन में किसी सैयद हादी हुसैन खाँ ने एक व्याख्यान देकर उर्दू को ही देश में प्रचलित होने के योग्य कहा, उस सभा की दूसरी बैठक में नवीनबाबू ने खाँ साहब के व्याख्यान का पूरा खंडन करते हुए कहा , उर्दू के प्रचलित होने से देशवासियों को कोई लाभ न होगा क्योंकि वह भाषा खास मुसलमानों की है। उसमें मुसलमानों ने व्यर्थ बहुत से अरबी फारसी के शब्द भर दिए हैं। पद्य या छंदोबद्ध रचना के भी उर्दू उपयुक्त नहीं।

हिंदुओं का यह है कि ये अपनी परंपरागत भाषा की उन्नति करते चलें। उर्दू में आशिकी कविता के अतिरिक्त किसी गंभीर विषय को व्यक्त करने की शक्ति ही नहीं है। नवीन बाबू के इस व्याख्यान की खबर पाकर इसलामी तहबीज के पुराने हामी, हिन्दी के पक्के दुश्मन गार्सा द तासी फ्रांस में बैठे बैठे बहुत झल्लाए और अपने एक प्रवचन में उन्होंने बड़े जोश के साथ हिन्दी का विरोध और उर्दू का पक्षमंडन किया तथा नवीन बाबू को कट्टर हिंदू कहा। अब यह फरांसीसी हिन्दी से इतना चिढ़ने लगा था कि उसके मूल पर ही उसने कुठार चलाना चाहा और बीम्स साहब का हवाला देते हुए कह डाला कि हिन्दी तो एक पुरानी भाषा थी जो संस्कृत से बहुत पहले प्रचलित थी, आर्यों ने आकर उसका नाश किया, और जो बचे खुचे शब्द रह गए उनकी व्युत्पत्ति भी संस्कृत से सिद्ध करने का रास्ता निकाला। इसी प्रकार जब जहाँ कहीं हिन्दी का नाम लिया जाता तब तासी बड़े बुरे ढंग से विरोध में कुछ न कुछ इस तरह की बातें कहता। सर सैयद अहमद का अंगरेज अधिकारियों पर कितना प्रभाव था, यह पहले कहा जा चुका है। संवत् 1925 में इस प्रांत के शिक्षा विभाग के अधयक्ष हैवेल साहब ने अपनी यह राय जाहिर की कि , यह अधिक अच्छा होता यदि हिंदू बच्चों को उर्दू सिखाई जाती न कि एक ऐसी 'बोली' में विचार प्रकट करने का अभ्यास कराया जाता जिसे अंत में एक दिन उर्दू के सामने सिर झुकाना पड़ेगा। इस राय को गार्सा द तासी ने बड़ी खुशी के साथ अपने प्रवचन में शामिल किया। इसी

प्रकार इलाहाबाद इंस्टीटयूट के एक अधिवेशन में (संवत् 1925) जब यह विवाद हुआ था कि 'देसी जबान' हिन्दी को मानें या उर्दू को, तब हिन्दी के पक्ष में कई वक्ता उठकर बोले थे। उन्होंने कहा था कि अदालतों में उर्दू जारी होने का यह फल हुआ है कि अधिकांश जनता , विशेषत: गाँवों की , जो उर्दू से सर्वथा अपरिचित है, बहुत कष्ट उठाती है, इससे हिन्दी का जारी होना बहुत आवश्यक है। बोलने वालों में से किसी किसी ने कहा कि केवल अक्षर नागरी के रहें और कुछ लोगों ने कहा कि भाषा भी बदलकर सीधी सादी की जाय। इस पर भी गार्सां द तासी ने हिन्दी के पक्ष में बोलने वालों का उपहास किया था। उसी काल में इंडियन डेली न्यूज के एक लेख में हिन्दी प्रचलित किए जाने की आवश्यकता दिखाई गई थी। उसका भी जवाब देने तासी साहब खड़े हुए थे। 'अवध अखबार' में जब एक बार हिन्दी के पक्ष में लेख छपा था तब भी उन्होंने उसके संपादक की राय का जिक्र करते हुए हिन्दी को एक 'भद्दी बोली' कहा था जिसके अक्षर भी देखने में सुडौल नहीं लगते। शिक्षा के आंदोलन के साथ ही साथ ईसाई मत का प्रचार रोकने के लिए मतमतांतर संबंधी आंदोलन देश के पश्चिमी भागों में भी चल पड़े।

पैगंबरी एकेश्वरवाद की ओर नवशिक्षित लोगों को खिंचते देख स्वामी दयानंद सरस्वती वैदिक एकेश्वरवाद लेकर खड़े हुए और संवत् 1920 से उन्होंने अनेक नगरों में घूम घूम कर व्याख्यान देना आरंभ किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये व्याख्यान देश में बहुत दूरतक प्रचलित साधु हिन्दी भाषा में ही होते थे। स्वामी जी ने अपना 'सत्यार्थप्रकाश' तो हिन्दी या आर्यभाषा में प्रकाशित ही किया, वेदों के भाष्य भी संस्कृत और हिन्दी दोनों में किए। स्वामी जी के अनुयायी हिन्दी को 'आर्यभाषा' कहते थे। स्वामी जी ने संवत् 1922 में 'आर्यसमाज' की स्थापना की और सब आर्यसमाजियों के लिए हिन्दी या आर्यभाषा का पढ़ना आवश्यक ठहराया। संयुक्त प्रांत के पश्चिमी जिलों और पंजाब में आर्य समाज के प्रभाव से हिन्दी गद्य का प्रचार बड़ी तेजी से हुआ। पंजाबी बोली में लिखित साहित्य न होने से और मुसलमानों के बहुत अधिक संपर्क में पंजाबवालों की लिखने पढ़ने की भाषा उर्दू हो रही थी। आज जो पंजाब में हिन्दी की पूरी चर्चा सुनाई देती है इन्हीं की बदौलत है। संवत् 1920 के लगभग ही विलक्षण प्रतिभाशाली विद्वान श्रीराम फुल्लौरी के व्याख्यानों और कथाओं की धूम पंजाब में आरंभ हुई। जालंधार के पादरी गोकुलनाथ के व्याख्यानों के प्रभाव से कपूरथला नरेश महाराज रणबीरसिंह ईसाई मत की ओर

झुक रहे थे। पं. श्र(ाराम जी तुरंत संवत् 1920 में कपूरथले पहुँचे और उन्होंने महाराज के सब संशयों का समाधान करके प्राचीन वर्णाश्रम धर्म का ऐसा सुंदर निरूपण किया कि सब लोग मुग्ध हो गए। पंजाब में सब छोटे बड़े स्थानों में घूमकर पं. श्रीराम जी उपदेश और वक्तृताएँ देते तथा रामायण, महाभारत आदि की कथाएँ सुनाते। उनकी कथाएँ सुनने के लिए दूर दूर से लोग आते और सहस्त्रों आदमियों की भीड़ लगती थी। उनकी वाणी में अद्‌भुत आकर्षण था और उनकी भाषा बहुत जोरदार होती थी। स्थान स्थान पर उन्होंने धर्मसभाएँ स्थापित कीं और उपदेशक तैयार किए। उन्होंने पंजाबी और उर्दू में भी कुछ पुस्तकें लिखी हैं। पर अपनी मुख्य पुस्तकें हिन्दी में ही लिखी हैं।?

अपना सिद्धांतग्रंथ 'सत्यामृतप्रवाह' उन्होंने बड़ी प्रौढ़ भाषा में लिखा है। वे बड़े ही स्वतंत्र विचार के मनुष्य थे और वेदशास्त्र के यथार्थ अभिप्राय को किसी उद्देश्य से छिपाना अनुचित समझते थे। इसी से स्वामी दयानंद की बहुत सी बातों का विरोध वे बराबर करते रहे। यद्यपि वे बहुत सी बातें कह और लिख जाते थे जो कट्टर अंधविश्वासियों को खटक जाती थीं और कुछ लोग इन्हें नास्तिक तक कह देते थे पर जब तक वे जीवित रहे सारे पंजाब के हिंदू उन्हें धर्म का स्तंभ समझते रहे। पं. श्रीरामजी कुछ पद्यरचना भी करते थे। हिन्दी गद्य में तो उन्होंने बहुत कुछ लिखा और वे हिन्दी भाषा के प्रचार में बराबर लगे रहे। संवत् 1924 में उन्होंने 'आत्मचिकित्सा' नाम की एक अध्यात्मसंबंधी पुस्तक लिखी जिसे संवत् 1928 में हिन्दी में अनुवाद करके छपाया। इसके पीछे 'तत्त्वदीपक', 'धर्मरक्षा', 'उपदेश संग्रह', (व्याख्यानों का संग्रह), 'शतोपदेश' (दोहे) इत्यादि धर्मसंबंधी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने अपना एक बड़ा जीवनचरित (1400 पृष्ठों के लगभग) लिखा था जो कहीं खो गया। 'भाग्यवती' नाम का एक सामाजिक उपन्यास भी संवत् 1934 में उन्होंने लिखा, जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई। अपने समय के वे सच्चे हितैषी और सिद्ध हस्त लेखक थे।

संवत् 1938 में उनकी मृत्यु हुई। जिस दिन उनका देहांत हुआ उस दिन उनके मुँह से सहसा निकला कि 'भारत में भाषा के लेखक दो हैं , एक काशी में दूसरा पंजाब में। परंतु आज एक ही रह जाएगा।' कहने की आवश्यकता नहीं कि काशी के लेखक से अभिप्राय हरिश्चंद्र से था। राजा शिवप्रसाद 'आमफहम' और 'खासपसंद' भाषा का उपदेश ही देते रहे, उधर हिन्दी अपना रूप आप स्थिर कर चली। इस बात में धार्मिक और सामाजिक आंदोलनों ने भी बहुत कुछ सहायता पहुँचाई। हिन्दी गद्य की भाषा किस दिशा की ओर स्वभावत: जाना

चाहती है, इसकी सूचना तो काल अच्छी तरह दे रहा था। सारी भारतीय भाषाओं का साहित्य चिरकाल से संस्कृत की परिचित और भावपूर्ण पदावली का आश्रय लेता चला आ रहा था। अत: गद्य के नवीन विकास में उस पदावली का त्याग और किसी विदेशी पदावली का सहसा ग्रहण कैसे हो सकता था? जब कि बँग्ला, मराठी आदि अन्य देशी भाषाओं का गद्य परंपरागत संस्कृत पदावली का आश्रय लेता हुआ चल पड़ा था तब हिन्दी गद्य उर्दू के झमेले में पड़कर कब तक रुका रहता? सामान्य संबंधसूत्र को त्यागकर दूसरी देशी भाषाओं से अपना नाता हिन्दी कैसे तोड़ सकती थी? उनकी सगी बहन होकर एक अजनबी के रूप में उनके साथ वह कैसे चल सकती थी जबकि यूनानी और लैटिन के शब्द यूरोप के भिन्न भिन्न मूलों से निकली हुई देशी भाषाओं के बीच एक प्रकार का साहित्यिक संबंध बनाए हुए हैं तब एक ही मूल से निकली हुई आर्य भाषाओं के बीच उस मूल भाषा के साहित्यिक शब्दों की परंपरा यदि संबंधसूत्र के रूप में चली आ रही है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? कुछ अंगरेज विद्वान संस्कृतगर्भित हिन्दी की हँसी उड़ाने के लिए किसी अंग्रेजी वाक्य में उसी भाषा में लैटिन के शब्द भरकर पेश करते हैं। उन्हें यह समझना चाहिए कि अंग्रेजी का लैटिन के साथ मूल संबंध नहीं है, पर हिन्दी, बँग्ला, मराठी, गुजराती आदि भाषाएँ संस्कृत के ही कुटुंब की हैं , उसी के प्राकृत रूपों से निकली हैं। इन आर्यभाषाओं का संस्कृत के साथ बहुत घनिष्ठ संबंध है। इन भाषाओं के साहित्य की परंपरा को भी संस्कृत साहित्य की परंपरा का विस्तार कह सकते हैं। देशभाषा के साहित्य को उत्तराधिकार में जिस प्रकार संस्कृत साहित्य के कुछ संचित शब्द मिले हैं उसी प्रकार विचार और भावनाएँ भी मिली हैं। विचार और वाणी की इस धारा से हिन्दी अपने को विच्छिन्न कैसे कर सकती थी? राजा लक्ष्मणसिंह के समय में ही हिन्दी गद्य की भाषा अपने भावी रूप का आभास दे चुकी थी। अब आवश्यकता ऐसे शक्तिसम्पन्न लेखकों की थी जो अपनी प्रतिभा और उद्‌भावना के बल से उसे सुव्यवस्थित और परिमार्जित करते और उसमें ऐसे साहित्य का विधान करते जो शिक्षित जनता की रुचि के अनुकूल होता। ठीक इसी परिस्थिति में भारतेंदु का उदय हुआ।

आधुनिक गद्य साहित्य परंपरा का प्रवर्तन प्रथम उत्थान (संवत् 1925 – 1950) प्रकरण 1 सामान्य परिचय

भारतेंदु हरिश्चंद्र का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा पड़ा। उन्होंने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता,

मधुर और स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य को भी नए मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। उनके भाषासंस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया और वे वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रवर्तक माने गए। मुंशी सदासुख की भाषा साधु होते हुए भी पंडिताऊपन लिए थी, लल्लूलाल में ब्रजभाषापन और सदल मिश्र में पूरबीपन था। राजा शिवप्रसाद का उर्दूपन शब्दों तक ही परिमित न था वाक्यविन्यास तक में घुसा था, राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा विशुद्ध और मधुर तो अवश्य थी, पर आगरे की बोलचाल का पुट उसमें कम न था। भाषा का निखरा हुआ सामान्य रूप भारतेंदु की कला के साथ ही प्रकट हुआ। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने पद्य की ब्रजभाषा का भी बहुत कुछ संस्कार किया। पुराने पड़े हुए शब्दों को हटाकर काव्यभाषा में भी वे बहुत कुछ चलतापन और सफाई लाए।

इससे भी बड़ा काम उन्होंने यह किया कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया और वे उसे शिक्षित जनता के साहचर्य में ले आए। नई शिक्षा के प्रभाव से लोगों की विचारधारा बदल चली थी। उनके मन में देशहित, समाजहित आदि की नई उमंगें उत्पन्न हो रही थीं। काल की गति के साथ साथ उनके भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गए थे, पर साहित्य पीछे ही पड़ा था। भक्ति,शृंगारादि की पुराने ढंग की कविताएँ ही होती चली आ रही थीं। बीच बीच में कुछ शिक्षासंबंधिनी पुस्तकें अवश्य निकल जाती थीं, पर देशकाल के अनुकूल साहित्यनिर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न तब तक नहीं हुआ था। बंग देश में नए ढंग के नाटकों और उपन्यासोंकासूत्रपात हो चुका था जिनमें देश और समाज की नई रुचि और भावना का प्रतिबिंब आने लगा था। पर हिन्दी साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेंदु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने दूर किया। हमारे साहित्य को नए नए विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाले हरिश्चंद्र ही हुए।

उर्दू के कारण अब तक हिन्दी गद्य की भाषा का स्वरूप ही झंझट में पड़ा था। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह ने जो कुछ लिखा था वह एक प्रकार से प्रस्ताव के रूप में था। जब भारतेंदु अपनी मँजी हुई परिष्कृत भाषा सामने लाए तब हिन्दी बोलनेवाली जनता को गद्य के लिए खड़ी बोली का प्राकृत साहित्यिक रूप मिल गया और भाषा के स्वरूप का प्रश्न न रह गया। प्रस्तावकाल समाप्त हुआ और भाषा का स्वरूप स्थिर हुआ।

भाषा का स्वरूप स्थिर हो जाने पर जब साहित्य की रचना कुछ परिमाण में हो लेती है तभी शैलियों का भेद, लेखकों की व्यक्तिगत विशेषताएँ आदि लक्षित होती हैं। भारतेंदु के प्रभाव से उनके अल्प जीवनकाल के बीच ही लेखकों का एक खासा मंडल तैयार हो गया जिसके भीतर पं. प्रतापनारायण मिश्र, उपाधयाय बदरीनारायण चौधारी, ठाकुर जगमोहन सिंह, पं. बालकृष्ण भट्ट मुख्य रूप से गिने जा सकते हैं। इन लेखकों की शैलियों में व्यक्तिगत विभिन्नता स्पष्ट लक्षित हुई। भारतेंदु में ही हम दो प्रकार की शैलियों का व्यवहार पाते हैं। उनकी भावावेश की शैली दूसरी है और तथ्यनिरूपण की दूसरी। भावावेश के कथनों में वाक्य प्रायः बहुत छोटे छोटे होते हैं और पदावली सरल बोलचाल की होती है जिसमें बहुत प्रचलित अरबीफारसी के शब्द भी कभी कभी, पर बहुत कम आ जाते हैं। जहाँ किसी ऐसे प्रकृतिस्थ भाव की व्यंजना होती है, जो चिंतन का अवकाश भी बीच बीच में छोड़ता है, वहाँ की भाषा कुछ अधिक साधु और गंभीर होती है, वाक्य भी कुछ लंबे होते हैं, पर उनका अन्वय जटिल नहीं होता। तथ्यनिरूपण या सि(ांतकथन के भीतर संस्कृत शब्दों का कुछ अधिक मेल दिखाई पड़ता है। एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की है। वस्तुवर्णन या दृश्यवर्णन में विषयानुकूल मधुर या कठोर वर्णवाले संस्कृत शब्दों की योजनाओं की, जो प्रायः समस्त और सानुप्रास होती हैं, चाल सी चली आई है। भारतेंदु में यह प्रवृत्ति हम सामान्यतः नहीं पाते।

पं. प्रतापनारायण मिश्र की प्रकृति विनोदशील थी अतः उनकी भाषा बहुत स्वच्छंद गति से बोलचाल की चपलता और भावभंगिमा लिए चलती है। हास्य विनोद की उमंग में वह कभी कभी मर्यादा का अतिक्रमण करती, पूरबी कहावतों और मुहावरों की बौछार भी छोड़ती चलती है। उपाधयाय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के लेखों में गद्य काव्य के पुराने ढंग की झलक, रंगीन इमारत की चमक दमक बहुत कुछ मिलती है। बहुत से वाक्यखंडों की लड़ियों से गँथे हुए उनके वाक्य अत्यंत लंबे होते थे , इतने लंबे कि उनका अन्वय कठिन होता था। पदविन्यास में तथा कहीं कहीं वाक्यों के बीच विरामस्थलों पर भी, अनुप्रास देख इंशा और लल्लूलाल का स्मरण होता है। इस दृष्टि से देखें तो 'प्रेमघन' में पुरानी परंपरा का निर्वाह अधिक दिखाई पड़ता है।

पं. बालकृष्ण भट्ट की भाषा अधिकतर वैसी ही होती थी जैसी खरी खरी सुनाने में काम में लाई जाती है। जिन लेखों में उनकी चिड़चिड़ाहट झलकती है वे विशेष मनोरंजक हैं। नूतन पुरातन का वह संघर्षकाल था इसमें भट्टजी को

चिढ़ाने की पर्याप्त सामग्री मिल जाया करती थी। समय के प्रतिकूल पुराने बद्ध मूल विचारों को उखाड़ने और परिस्थिति के अनुकूल नए विचारों को जमाने में उनकी लेखनी सदा तत्पर रहती थी। भाषा उनकी चटपटी, तीखी और चमत्कारपूर्ण होती थी।

ठाकुर जगमोहन सिंह की शैली शब्दशोधन और अनुप्रास की प्रवृत्ति के कारण चौधरी बदरीनारायण की शैली से मिलती जुलती है पर उसमें लंबे वाक्यों की जटिलता नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में जीवन की मधुर रंगस्थलियों को मार्मिक ढंग से हृदय में जमाने वाले प्यारे शब्दों का चयन अपनी अलगविशेषता रखता है।

हरिश्चंद्रकाल के सब लेखकों में अपनी भाषा की प्रकृति की पूरी परख थी। संस्कृत के ऐसे शब्दों और रूपों का व्यवहार वे करते थे जो शिष्ट समाज के बीच प्रचलित चले आते हैं। जिन शब्दों या उनके जिन रूपों से केवल संस्कृतभाषी ही परिचित होते हैं और जो भाषा प्रवाह के साथ ठीक चलते नहीं, उनका प्रयोग वे बहुत औचट में पड़कर ही करते थे। उनकी लिखावट में न 'उवेयमान' और 'अवसाद' ऐसे शब्द मिलते हैं, न 'औदार्य', 'सौकर्य' और 'मौख्य' ऐसे रूप।

भारतेंदु के समय में ही देश के कोने कोने में हिन्दी लेखक तैयार हुए जो उनके निधान के उपरांत भी बराबर साहित्य सेवा में लगे रहे। अपने अपने विषयक्षेत्र के अनुकूल रूप हिन्दी को देने में सबका हाथ रहा। धर्म संबंधी विषयों पर लिखनेवालों (जैसे पं. अंबिकादत्त व्यास) ने शास्त्रीय विषयों को व्यक्त करने में, संवाद पत्रों में राजनीतिक बातों को सफाई के साथ सामने रखने में हिन्दी को लगाया। सारांश यह कि उस काल में हिन्दी का शुद्ध साहित्योपयोगी रूप ही नहीं, व्यवहारोपयोगी रूप भी निखरा।

यहाँ तक तो भाषा और शैली की बात हुई। अब लेखकों की दृष्टिक्षेत्र और उनका मानसिक अवस्थान लीजिए। हरिश्चंद्र तथा उनके समसामयिक लेखकों में जो एक सामान्य गुण लक्षित होता है वह है सजीवता या जिंदादिली। सब में हास्य या विनोद की मात्रा थोड़ी या बहुत पाई जाती है। राजा शिवप्रसाद या राजा लक्ष्मणसिंह भाषा पर अधिकार रखनेवाले पर झंझटों से दबे हुए स्थिर प्रकृति के लेखक थे। उनमें वह चपलता, स्वच्छंदता और उमंग नहीं पाई जाती जो हरिश्चंद्र मंडल के लेखकों में दिखाई पड़ती है। शिक्षित समाज में संचरित भावों को भारतेंदु के सहयोगियों ने बड़े अनुरंजनकारी रूप में ग्रहण किया।

सबसे बड़ी बात स्मरण रखने की यह है कि उन पुराने लेखकों के हृदय का मार्मिक संबंध भारतीय जीवन के विविधा रूपों के साथ पूरा पूरा बना था। भिन्न-भिन्न ऋतुओं में पड़नेवाले त्योहार उनके मन में उमंग उठाते, परंपरा से चले आते हुए आमोद प्रमोद के मेले उनमें कुतूहल जगाते और प्रफुल्लता लाते थे। आजकल के समान उनका जीवन देश के सामान्य जीवन से विच्छिन्न न था। विदेशी अंधाड़ों ने उनकी ऑखों में इतनी धूल नहीं झोंकी थी कि अपने देश का रूप रंग उन्हें सुझाई ही न पड़ता। काल की गति वे देखते थे, सुधार के मार्ग भी उन्हें सूझते थे, पर पश्चिम की एक एक बात के अभिनय को ही वे उन्नति का पर्याय नहीं समझते थे। प्राचीन और नवीन संधिस्थल पर खड़े होकर वे दोनों का जोड़ इस प्रकार मिलाना चाहते थे कि नवीन प्राचीन का प्रवर्धित रूप प्रतीत हो, न कि ऊपर लपेटी हुई वस्तु।

विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परंपरा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ। भारतेंदु के पहले 'नाटक' के नाम से जो दो-चार ग्रंथ ब्रजभाषा में लिखे गए थे उनमें महाराज विश्वनाथ सिंह के 'आनंद रघुनंदन नाटक' को छोड़ और किसी में नाटकत्व न था। हरिश्चंद्र ने सबसे पहले 'विद्यासुंदर नाटक' का बँग्ला से सुंदर हिन्दी में अनुवाद करके संवत् 1925 में प्रकाशित किया। उसके पहले वे 'प्रवास नाटक' लिख रहे थे पर वह पूरा न हुआ। उन्होंने आगे चलकर भी अधिकतर नाटक ही लिखे। पं. प्रतापनाराण और बदरीनारायण चौधरी ने भी उन्हीं का अनुसरण किया।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि भारतेंदु के समय में धूम से चली हुई नाटकों की वह परंपरा आगे चलकर बहुत शिथिल पड़ गई। बा. रामकृष्ण वर्मा बंगभाषा के नाटकों का, जैसे , वीर नारी पद्मावती, कृष्णकुमारी , अनुवाद करके नाटकों का सिलसिला कुछ चलाते रहे। इस उदासीनता का कारण उपन्यासों की ओर दिनदिन बढ़ती हुई रुचि के अतिरिक्त अभिनयशालाओं का अभाव भी कहा जा सकता है। अभिनय द्वारा नाटकों की ओर रुचि बढ़ती है और उनका अच्छा प्रसार होता है। नाटक दृश्य काव्य हैं। उनका बहुत कुछ आकर्षण अभिनय पर अवलंबित रहता है। उस समय नाटक खेलनेवाली जो व्यवसायी पारसी कंपनियाँ थीं, वे उर्दू छोड़ हिन्दी नाटक खेलने को तैयार न थीं। ऐसी दशा में नाटकों की ओर हिन्दी प्रेमियों का उत्साह कैसे रह सकता था?

भारतेंदुजी, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी उद्योग करके अभिनय का प्रबंध किया करते थे और कभी कभी स्वयं भी पार्ट लेते थे। पं. शीतलाप्रसाद

त्रिपाठीकृत 'जानकीमंगल नाटक' का जो धूमधाम से अभिनय हुआ था उसमें भारतेंदु जी ने पार्ट लिया था। यह अभिनय देखने काशीनरेश महाराजा ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह भी पधारे थे और इसका विवरण 8 मई, 1868 के इंडियन मेल में प्रकाशित हुआ था। प्रतापनारायण मिश्र का अपने पिता से अभिनय के लिए मूँछ मुड़ाने की आज्ञा माँगना प्रसिद्ध ही है।

'कश्मीरकुसुम' (राजतरंगिणी का कुछ अंश) और 'बादशाहदर्पण' लिखकर इतिहास की पुस्तकों की ओर और जयदेव का जीवनवृत्त लिखकर जीवनचरित की पुस्तकों की ओर भी हरिश्चंद्र ध्यान ले गए पर उस समय इन विषयों की ओर लेखकों की प्रवृत्ति न दिखाई पड़ी।

पुस्तक रचना के अतिरिक्त पत्रिकाओं में प्रकाशित अनेक प्रकार के फुटकल लेख और निबंध अनेक विषयों पर मिलते हैं, राजनीति, समाजदशा, देशदशा, ऋतुछटा, पर्वत्योहार, जीवनचरित, ऐतिहासिक प्रसंग, जगत् और जीवन से संबंध रखनेवाले सामान्य विषय (जैसे आत्मनिर्भरता, मनोयोग, कल्पना)। लेखों और निबंधों की अनेकरूपता को देखते हुए उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। समाजदशा और देशदशा संबंधी लेख कुछ विचारात्मक पर अधिकांश भावात्मक मिलेंगे। जीवनचरितों और ऐतिहासिक प्रसंगों में इतिवृत्ति के साथ भावव्यंजना भी गुंफित पाई जाएगी। ऋतुछटा और पर्वत्योहारों पर अलंकृत भाषा में वर्णनात्मक प्रबंध सामने आते हैं। जगत् और जीवन से संबंध रखनेवाले सामान्य विषयों के निरूपण में विरल विचारखंड कुछ उक्तिवैचित्रय के साथ बिखरे मिलेंगे। पर शैली की व्यक्तिगत विशेषताएँ थोड़ी बहुत लेखकों में पाई जाएँगी।

जैसा कि कहा जा चुका है हास्यविनोद की प्रवृत्ति इस काल के प्रायः सब लेखकों में थी। प्राचीन और नवीन के संघर्ष के कारण उन्हें हास्य के अवलंबन दोनोंपक्षोंमें मिलते थे। जिस प्रकार बात बात में बाप दादों की दुहाई देनेवाले, धर्मकेआडंबर की आड़ में दुराचार छिपानेवाले पुराने खूसट उनके विनोद के लक्ष्य थे, उसी प्रकार पश्चिमी चाल ढाल की ओर मुँह के बल गिरनेवाले फैशन के गुलाम भी।

नाटकों और निबंधों की ओर विशेष झुकाव रहने पर भी बंगभाषा की देखादेखी नए ढंग के उपन्यासों की ओर भी ध्यान जा चुका था। अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास पहले पहल हिन्दी में लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरु' ही निकला था। उसके पीछे बा. राधाकृष्णदास ने 'निस्सहाय हिंदू, और पं. बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान और एक सुजान' नामक छोटे छोटे

उपन्यास लिखे। उस समय तक बंगभाषा में बहुत से अच्छे उपन्यास निकल चुके थे। अतः साहित्य के इस विभाग की शून्यता शीघ्र हटाने के लिए अनुवाद आवश्यक प्रतीत हुए। हरिश्चंद्र ने ही अपने पिछले जीवन में बंगभाषा के एक उपन्यास के अनुवाद में हाथ लगाया था, पर पूरा न कर सके थे। पर उनके समय में ही प्रतापनाराण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी ने कई उपन्यासों के अनुवाद किए। तदनंतर बाबू गदाधार सिंह ने बंगविजेता और दुर्गेशनंदिनी का अनुवाद किया। संस्कृत की कादंबरी की कथा भी उन्होंने बँग्ला के आधार पर लिखी। पीछे तो बा. राधाकृष्णदास, बा. कार्तिकप्रसाद खत्री, बा. रामकृष्ण वर्मा आदि ने बँग्ला के उपन्यासों के अनुवाद की जो परंपरा चलाई वह बहुत दिनों तक चलती रही। इन उपन्यासों में देश के सर्वसामान्य जीवन के बड़े मार्मिक चित्र रहते थे।

प्रथम उत्थान का अंत होते होते तो अनुदित उपन्यासों का ताँता बँधा गया। पर पिछले अनुवादकों का अपनी भाषा पर वैसा अधिकार न हुआ था। अधिकांश अनुवादक प्रायः भाषा का ठीक हिन्दी रूप देने में असमर्थ रहे। कहीं कहीं तो बँग्ला के शब्द और मुहावरे तक ज्यों के त्यों रख दिए जाते थे, जैसे , 'काँदना', 'सिहरना', 'धू धू करके आग जलना', 'छल छल आँसू गिराना' इत्यादि। इन अनुवादों से बड़ा भारी काम यह हुआ कि नए ढंग के सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के ढंग का अच्छा परिचय हो गया और स्वतंत्र उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति और योग्यता उत्पन्न हो गई।

हिन्दी गद्य की सर्वतोन्मुखी गति का अनुमान इसी से हो सकता है कि पचीसों पत्र पत्रिकाएँ हरिश्चंद्रजी के जीवनकाल में निकलीं जिनके नाम नीचे दिए जाते हैं ,

1. अल्मोड़ा अखबार (संवत् 1928, संपादक पं. सदानंद सलवास)
2. हिन्दी दीप्तिप्रकाश (कलकत्ता 1929, कार्तिक प्रसाद खत्री)
3. बिहार बंधु (संवत् 1929, केशवराम भट्ट)
4. सदादर्श (दिल्ली 1931, ला. श्रीनिवासदास)
5. काशीपत्रिका (1933, बा. बलदेव प्रसाद बी.ए. शिक्षासंबंधी मासिक)
6. भारतबंधु (1933, तोताराम, अलीगढ़)
7. भारतमित्र (कलकत्ता, संवत् 1934, रुद्रदत्ता)
8. मित्रविलास (लाहौर, 1934, कन्हैलाल)
9. हिन्दी प्रदीप (प्रयाग, 1934, पं. बालकृष्ण भट्ट, मासिक)
10. आर्यदर्पण (शाहजहाँपुर, 1934, मुं. बख्तावरसिंह)

11. सार सुधानिधि (कलकत्ता, 1935, सदानंद मिश्र)
12. उचित वक्ता (कलकत्ता, 1935, दुर्गाप्रसाद मिश्र)
13. सज्जन कीर्ति सुधाकर (उदयपुर, 1936, वंशीधर)
14. भारत सुदशाप्रवर्तक (फर्रुखाबाद 1936, गणेशप्रसाद)
15. आनंदकादंबिनी (मिर्जापुर, 1938, उपाधयाय बदरीनारायण चौधरी, मासिक)
16. देशहितैषी (अजमेर, 1936)
17. दिनकर प्रकाश (लखनऊ, 1940 रामदास वर्मा)
18. धर्मदिवाकर (कलकत्ता, 1940, देवीसहाय)
19. प्रयाग समाचार (1940, देवकीनंदन त्रिपाठी)
20. ब्राह्मण (कानपुर, 1940, प्रतापनारायण मिश्र)
21. शुभचिंतक (जबलपुर, 1940, सीताराम)
22. सदाचार मार्तड (जयपुर, 1940, लालचंद शास्त्री)
23. हिंदोस्थान (इंगलैंड, 1940, राजा रामपाल सिंह, दैनिक)
24. पीयूष प्रवाह (काशी, 1941, अम्बिकादत्ता व्यास)
25. भारत जीवन (काशी, 1941, रामकृष्ण वर्मा)
26. भारतेंदु (वृंदावन, 1941, राधाचरण गोस्वामी)
27. कविकुलकंज दिवाकर (बस्ती, 1941, रामनाथ शुक्ल)

इनमें से अधिकांश पत्र पत्रिकाएँ तो थोड़े ही दिन चलकर बंद हो गई, पर कुछ ने लगातार बहुत दिनों तक लोकहितसाधन और हिन्दी की सेवा की है, जैसे , बिहारबंधु, भारतमित्र, भारतजीवन, उचितवक्ता, दैनिक हिंदोस्थान, आर्यदर्पण, ब्राह्मण, हिन्दीप्रदीप। 'मित्रविलास' सनातन धर्म का समर्थक पत्र था जिसने पंजाब में हिन्दी प्रचार का बहुत कुछ कार्य किया था। 'ब्राह्मण', 'हिन्दीप्रदीप' और 'आनंदकादंबिनी' साहित्यिक पत्र थे जिनमें बहुत सुंदर मौलिक गद्य प्रबंध और कविताएँ निकला करती थीं। इन पत्र पत्रिकाओं को बराबर आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। 'हिन्दी प्रदीप' को कई बार बंद होना पड़ा था। 'ब्राह्मण' संपादक पं. प्रतापनारायण मिश्र को ग्राहकों से चंदा माँगते माँगते थककर कभी कभी पत्र में इस प्रकार याचना करनी पड़ती थी ,

आठ मास बीते, जजमान! अब तौ करौ दच्छिना दान

बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री ने हिन्दी संवादपत्रों के प्रचार के लिए बहुत उद्योग किया था, उन्होंने संवत् 1928 में 'हिन्दी दीप्ति प्रकाश' नाम का एक

संवादपत्र और 'प्रेमविलासिनी' नाम की एक पत्रिका निकाली थी। उस समय हिन्दी संवादपत्र पढ़ने वाले थे ही नहीं। पाठक उत्पन्न करने के लिए बाबू कार्तिकप्रसाद ने बहुत दौड़ धूप की थी। लोगों के घर जा जाकर वे पत्र सुना तक आते थे। इतना सब करने पर भी उनका पत्र थोड़े दिन चलकर बंद हो गया। संवत् 1934 तक कोई अच्छा और स्थायी साप्ताहिक पत्र नहीं निकला था। अत: संवत् 1935 में पं. दुर्गाप्रसाद मिश्र, पं. छोटूलाल मिश्र, पं. सदानंद मिश्र और बाबू जगन्नाथप्रसाद खन्ना के उद्योग से कलकत्तो में 'भारतमित्र कमेटी' बनी और 'भारतमित्र' पत्र बड़ी धूमधाम से निकला जो बहुत दिनों तक हिन्दी संवाद पत्रों में एक ऊँचा स्थान ग्रहण किए रहा। प्रारंभकाल में जब पं. छोटूलाल मिश्र इसके संपादक थे तब भारतेंदुजी कभी कभी इसमें लेख दिया करते थे।

उसी संवत् में लाहौर से 'मित्रविलास' नामक पत्र पं. गोपीनाथ के उत्साह से निकला। इसके पहले पंजाब में कोई हिन्दी का पत्र न था। केवल 'ज्ञानप्रदायनी' नाम की एक पत्रिका उर्दू हिन्दी में बाबू नवीनचंद्र द्वारा निकलती थी जिसमें शिक्षा और सुधारसंबंधी लेखों के अतिरिक्त ब्राह्मोमत की बातें रहा करती थीं। उसके पीछे जो 'हिन्दूबांधव' निकला उसमें भी उर्दू और हिन्दी दोनों रहती थीं। केवल हिन्दी का एक पत्र न था। 'कवि वचनसुधा' की मनोहर लेखशैली और भाषा पर मुग्ध होकर ही पं. गोपीनाथ ने 'मित्रविलास' निकाला था जिसकी भाषा बहुत सुष्ठु और ओजस्विनी होती थी। भारतेंदु के गोलोकवास पर बड़ी ही मार्मिक भाषा में इस पत्र ने शोकप्रकाश किया था और उनके नाम का संवत् चलाने का आंदोलन उठाया था।

इसके उपरांत संवत् 1935 में पं. दुर्गाप्रसाद मिश्र के संपादन में 'उचितवक्ता' और पं. सदानंद मिश्र के संपादन में 'सारसुधानिधि' ये दो पत्र कलकत्ता से निकले। इन दोनों महाशयों ने बड़े समय पर हिन्दी के एक बड़े अभाव की पूर्ति में योग दिया था। पीछे कालाकाँकर के मनस्वी और देशभक्त राजा रामपाल सिंहजी अपनी मातृभाषा की सेवा के लिए खड़े हुए और संवत् 1940 में उन्होंने 'हिंदोस्थान' नामक पत्र इंगलैंड से निकाला जिसमें हिन्दी और अंग्रेजी दोनों रहती थीं। भारतेंदु के गोलोकवास के पीछे संवत् 1942 में यह हिन्दी दैनिक के रूप में निकला और बहुत दिनों तक चलता रहा। इसके संपादकों में देशपूज्य पं. मदनमोहन मालवीय, पं. प्रतापनारायण मिश्र, बाबू बालमुकुंद गुप्त ऐसे लोग रह चुके हैं। बाबू हरिश्चंद के जीवनकाल में ही अर्थात् मार्च, सन् 1884

ई. में बाबू रामकृष्ण वर्मा ने काशी से 'भारतीय जीवन' पत्र निकाला। इस पत्र का नामकरण भारतेंदु ने ही किया।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास

हिंदी साहित्य का आधुनिक काल भारत के इतिहास के बदलते हुए स्वरूप से प्रभावित था। स्वतंत्रता संग्राम और राष्ट्रीयता की भावना का प्रभाव साहित्य में भी आया। भारत में औद्योगीकरण का प्रारंभ होने लगा था। आवागमन के साधनों का विकास हुआ। अंग्रेजी और पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव बढ़ा और जीवन में बदलाव आने लगा। ईश्वर के साथ साथ मानव को समान महत्त्व दिया गया। भावना के साथ साथ विचारों को पर्याप्त प्रधानता मिली। पद्य के साथ साथ गद्य का भी विकास हुआ और छापेखाने के आते ही साहित्य के संसार में एक नयी क्रांति हुई।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में गद्य का विकास

आधुनिक हिन्दी गद्य का विकास केवल हिन्दी भाषी क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रहा। पूरे देश में और हर प्रदेश में हिन्दी की लोकप्रियता फैली और अनेक अन्य भाषी लेखकों ने हिन्दी में साहित्य रचना करके इसके विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

हिन्दी गद्य के विकास को विभिन्न सोपानों में विभक्त किया जा सकता है।

1.	भारतेंदु पूर्व युग	1800 ईस्वी से 1850 ईस्वी तक
2.	भारतेंदु युग	1850 ईस्वी से 1900 ईस्वी तक
3.	द्विवेदी युग	1900 ईस्वी से 1920 ईस्वी तक
4.	रामचंद्र शुक्ल व प्रेमचंद युग	1920 ईस्वी से 1936 ईस्वी तक
5.	अद्यतन युग	1936 ईस्वी से आजतक

भारतेंदु पूर्व युग

हिन्दी में गद्य का विकास 19वीं शताब्दी के आसपास हुआ। इस विकास में कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलेज की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इस कॉलेज के दो विद्वानों लल्लूलाल जी तथा सदल मिश्र ने गिलक्राइस्ट के निर्देशन में क्रमशः प्रेमसागर तथा नासिकेतोपाख्यान नामक पुस्तकें तैयार कीं। इसी समय

सदासुखलाल ने सुखसागर तथा मुंशी इंशा अल्ला खां ने रानी केतकी की कहानी की रचना की इन सभी ग्रंथों की भाषा में उस समय प्रयोग में आनेवाली खड़ी बोली को स्थान मिला।

आधुनिक खड़ी बोली के गद्य के विकास में विभिन्न धर्मों की परिचयात्मक पुस्तकों का खूब सहयोग रहा जिसमें ईसाई धर्म का भी योगदान रहा। बंगाल के राजा राम मोहन राय ने 1815 ईस्वी में वेदांतसूत्र का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवाया। इसके बाद उन्होंने 1829 में बंगदूत नामक पत्र हिन्दी में निकाला। इसके पहले ही 1826 में कानपुर के पं जुगल किशोर ने हिन्दी का पहला समाचार पत्र उदंतमार्तंड कलकत्ता से निकाला। इसी समय गुजराती भाषी आर्यसमाज संस्थापक स्वामी दयानंद ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश हिन्दी में लिखा।

भारतेंदु युग

भारतेंदु हरिश्चंद्र को हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग का प्रतिनिधि माना जाता है। उन्होंने कविवचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन और हरिश्चंद्र पत्रिका निकाली। साथ ही अनेक नाटकों की रचना की। उनके प्रसिद्ध नाटक हैं - चंद्रावली, भारत दुर्दशा, अंधेर नगरी। ये नाटक रंगमंच पर भी बहुत लोकप्रिय हुए। इस काल में निबंध नाटक उपन्यास तथा कहानियों की रचना हुई। इस काल के लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, राधा चरण गोस्वामी, उपाध्याय बदरीनाथ चौधरी 'प्रेमघन', लाला श्रीनिवास दास, बाबू देवकी नंदन खत्री, और किशोरी लाल गोस्वामी आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश लेखक होने के साथ साथ पत्रकार भी थे।

श्रीनिवासदास के उपन्यास परीक्षागुरू को हिन्दी का पहला उपन्यास कहा जाता है। कुछ विद्वान श्रद्धाराम फुल्लौरी के उपन्यास भाग्यवती को हिन्दी का पहला उपन्यास मानते हैं। बाबू देवकीनंदन खत्री का चंद्रकांता तथा चंद्रकांता संतति आदि इस युग के प्रमुख उपन्यास हैं। ये उपन्यास इतने लोकप्रिय हुए कि इनको पढ़ने के लिये बहुत से अहिंदी भाषियों ने हिंदी सीखी। इस युग की कहानियों में 'शिवप्रसाद सितारे हिन्द' की राजा भोज का सपना महत्त्वपूर्ण है।

द्विवेदी युग

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के नाम पर ही इस युग का नाम 'द्विवेदी युग' रखा गया। सन् 1903 ईस्वी में द्विवेदी जी ने सरस्वती पत्रिका के संपादन

का भार संभाला। उन्होंने खड़ी बोली गद्य के स्वरूप को स्थिर किया और पत्रिका के माध्यम से रचनाकारों के एक बड़े समुदाय को खड़ी बोली में लिखने को प्रेरित किया। इस काल में निबंध, उपन्यास, कहानी, नाटक एवं समालोचना का अच्छा विकास हुआ।

इस युग के निबंधकारों में पं महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, 'याम सुंदर दास, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बाल मुकंद गुप्त और अध्यापक पूर्ण सिंह आदि उल्लेखनीय हैं। इनके निबंध गंभीर, ललित एवं विचारात्मक हैं, किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू गोपाल राम गहमरी के उपन्यासों में मनोरंजन और घटनाओं की रोचकता है। हिंदी कहानी का वास्तविक विकास 'द्विवेदी युग' से ही शुरू हुआ। किशोरी लाल गोस्वामी की इंदुमती कहानी को कुछ विद्वान हिंदी की पहली कहानी मानते हैं। अन्य कहानियों में बंग महिला की दुलाई वाली, शुक्ल जी की ग्यारह वर्ष का समय, प्रसाद जी की ग्राम और चंद्रधर शर्मा गुलेरी की उसने कहा था महत्त्वपूर्ण हैं। समालोचना के क्षेत्र में पद्मसिंह शर्मा उल्लेखनीय हैं। 'हरिऔध', शिवनंदन सहाय तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण द्वारा कुछ नाटक लिखे गए।

रामचंद्र शुक्ल एवं प्रेमचंद युग

गद्य के विकास में इस युग का विशेष महत्त्व है। पं रामचंद्र शुक्ल (1884–1941) ने निबंध, हिन्दी साहित्य के इतिहास और समालोचना के क्षेत्र में गंभीर लेखन किया। उन्होंने मनोविकारों पर हिंदी में पहली बार निबंध लेखन किया। साहित्य समीक्षा से संबंधित निबंधों की भी रचना की। उनके निबंधों में भाव और विचार अर्थात् बुद्धि और हृदय दोनों का समन्वय है। हिंदी शब्दसागर की भूमिका के रूप में लिखा गया उनका इतिहास आज भी अपनी सार्थकता बनाए हुए है। जायसी, तुलसीदास और सूरदास पर लिखी गयी उनकी आलोचनाओं ने भावी आलोचकों का मार्गदर्शन किया। इस काल के अन्य निबंधकारों में जैनेन्द्र कुमार जैन, सियारामशरण गुप्त, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और जयशंकर प्रसाद आदि उल्लेखनीय हैं।

कथा साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचंद ने क्रांति ही कर डाली। अब कथा साहित्य केवल मनोरंजन, कौतूहल और नीति का विषय ही नहीं रहा बल्कि सीधे जीवन की समस्याओं से जुड़ गया। उन्होंने सेवा सदन, रंगभूमि, निर्मला, गबन एवं गोदान आदि उपन्यासों की रचना की। उनकी तीन सौ से अधिक कहानियां

मानसरोवर के आठ भागों में तथा गुप्तधन के दो भागों में संग्रहित हैं। पूस की रात, कफन, शतरंज के खिलाड़ी, पंच परमेश्वर, नमक का दरोगा तथा ईदगाह आदि उनकी कहानियां खूब लोकप्रिय हुयीं। इसकाल के अन्य कथाकारों में विश्वंभर शर्मा 'कौशिक', वृंदावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', उपेन्द्रनाथ अश्क, जयशंकर प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

नाटक के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद का विशेष स्थान है। इनके चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी जैसे ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास और कल्पना तथा भारतीय और पाश्चात्य नाट्य पद्यतियों का समन्वय हुआ है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, जगदीशचंद्र माथुर आदि इस काल के उल्लेखनीय नाटककार हैं।

अद्यतन काल

इस काल में गद्य का चहुंमुखी विकास हुआ। पं हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, नंददुलारे वाजपेयी, नगेंद्र, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा डा रामविलास शर्मा आदि ने विचारात्मक निबंधों की रचना की है। हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, कन्हैया,लाल मिश्र प्रभाकर, विवेकी राय, और कुबेरनाथ राय ने ललित निबंधों की रचना की है। हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, रवीन्द्रनाथ त्यागी, तथा के पी सक्सेना, के व्यंग्य आज के जीवन की विद्रूपताओं के उद्घाटन में सफल हुए हैं।

जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचंद्र जोशी, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव और भगवती चरण वर्मा ने उल्लेखनीय उपन्यासों की रचना की। नागार्जुन, फणीश्वर नाथ रेणु, अमृतराय, तथा राही मासूम रजा ने लोकप्रिय आंचलिक उपन्यास लिखे हैं। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, भैरव प्रसाद गुप्त, आदि ने आधुनिक भाव बोध वाले अनेक उपन्यासों और कहानियों की रचना की है। अमरकांत, निर्मल वर्मा तथा ज्ञानरंजन आदि भी नए कथा साहित्य के महत्त्वपूर्ण स्तंभ हैं।

प्रसादोत्तर नाटकों के क्षेत्र में लक्ष्मीनारायण लाल, लक्ष्मीकांत वर्मा, तथा मोहन राकेश के नाम उल्लेखनीय हैं। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा बनारसीदास चतुर्वेदी आदि ने संस्मरण रेखाचित्र व जीवनी आदि की रचना की है। शुक्ल जी के बाद पं हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा तथा नामवर सिंह ने हिंदी समालोचना को समृद्ध किया।

आज गद्य की अनेक नयी विधाओं जैसे यात्रा वृत्तांत, रिपोर्ताज, रेडियो रूपक, आलेख आदि में विपुल साहित्य की रचना हो रही है और गद्य की विधाएं एक दूसरे से मिल रही हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में पद्य का विकास

आधुनिक काल की कविता के विकास को निम्नलिखित धाराओं में बांट सकते हैं।

1.	नवजागरण काल (भारतेंदु युग)	1850 ईस्वी से 1900 ईस्वी तक
2.	सुधार काल (द्विवेदी युग)	1900 ईस्वी से 1920 ईस्वी तक
3.	छायावाद	1920 ईस्वी से 1936 ईस्वी तक
4.	प्रगतिवाद प्रयोगवाद	1936 ईस्वी से 1953 ईस्वी तक
5.	नई कविता व समकालीन कविता	1953 ईस्वी से आजतक

नवजागरण काल (भारतेंदु युग)

इस काल की कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह पहली बार जन-जीवन की समस्याओं से सीधे जुड़ती है। इसमें भक्ति और श्रृंगार के साथ साथ समाज सुधार की भावना भी अभिव्यक्त हुई। पारंपरिक विषयों की कविता का माध्यम ब्रजभाषा ही रही लेकिन जहां ये कविताएं नव जागरण के स्वर की अभिव्यक्ति करती हैं, वहां इनकी भाषा हिन्दी हो जाती है। कवियों में भारतेंदु हरिश्चंद्र का व्यक्तित्त्व प्रधान रहा। उन्हें नवजागरण का अग्रदूत कहा जाता है। प्रताप नारायण मिश्र ने हिंदी हिंदू हिंदुस्तान की वकालत की। अन्य कवियों में उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'पेमघन' के नाम उल्लेखनीय हैं।

सुधार काल (द्विवेदी युग)

हिंदी कविता को नया रंगरूप देने में श्रीघर पाठक का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्हें प्रथम स्वच्छंदतावादी कवि कहा जाता है। उनकी एकांत योगी और कश्मीर सुषमा खड़ी बोली की सुप्रसिद्ध रचनाएं हैं। रामनरेश द्विवेदी ने अपने पथिक मिलन और स्वप्न महाकाव्यों में इस धारा का विकास किया। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के प्रिय प्रवास को खड़ी बोली का पहला महाकाव्य माना गया है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से मैथिलीशरण गुप्त ने खड़ी बोली में अनेक काव्यों की रचना की। इन काव्यों में भारत भारती, साकेत, जयद्रथ वध पंचवटी और जयभारत आदि उल्लेखनीय हैं। उनकी 'भारत भारती' में स्वाधीनता आंदोलन की ललकार है। राष्ट्रीय प्रेम उनकी कविताओं का प्रमुख स्वर है।

इस काल के अन्य कवियों में सियाराम शरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, नाथूराम शंकर शर्मा तथा गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

छायावाद

कविता की दृष्टि से यह मह इस काल में एक दूसरी धारा भी थी जो सीधे सीधे स्वाधीनता आंदोलन से जुड़ी थी। इसमें माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', नरेन्द्र शर्मा, रामधारी सिंह दिनकर, श्रीकृष्ण सरल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस युग की प्रमुख कृतियों में जय शंकर प्रसाद की कामायनी और आंसू, सुमित्रानंदन पंत का पल्लव, गुंजन और वीणा, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की गीतिका और अनामिका, तथा महादेवी वर्मा की यामा, दीपशिखा और सांध्यगीत आदि कृतियां महत्त्वपूर्ण हैं। कामायनी को आधुनिक काल का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य कहा जाता है।

छायावादोत्तर काल में हरिवंशराय बच्चन का नाम उल्लेखनीय है। छायावादी काव्य में आत्मपरकता, प्रकृति के अनेक रूपों का सजीव चित्रण, विश्व मानवता के प्रति प्रेम आदि की अभिव्यक्ति हुई है। इसी काल में मानव मन सूक्ष्म भावों को प्रकट करने की क्षमता हिंदी भाषा में विकसित हुई।

प्रगतिवाद

सन 1936 को आसपास से कविता के क्षेत्र में बड़ा परिवर्तन दिखाई पड़ा प्रगतिवाद ने कविता को जीवन के यथार्थ से जोड़ा। प्रगतिवादी कवि कार्ल मार्क्स की समाजवादी विचारधारा से प्रभावित हैं।

युग की मांग के अनुरूप छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत और सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने अपनी बाद की रचनाओं में प्रगतिवाद का साथ दिया। नरेंद्र शर्मा और दिनकर ने भी अनेक प्रगतिवादी रचनाएं कीं। प्रगतिवाद के प्रति समर्पित कवियों में केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, शमशेर बहादुर सिंह, रामविलास शर्मा, त्रिलोचन शास्त्री और मुक्तिबोध के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस धारा में समाज के शोषित वर्ग –मजदूर और किसानों–के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गयी, धार्मिक रूढ़ियों और सामाजिक विषमता पर चोट की गयी और हिंदी कविता एक बार फिर खेतों और खलिहानों से जुड़ी।

प्रयोगवाद

प्रगतिवाद के समानांतर प्रयोगवाद की धारा भी प्रवाहित हुई। अज्ञेय को इस धारा का प्रवर्तक स्वीकर किया गया। सन् 1943 में अज्ञेय ने तार सप्तक का प्रकाशन किया। इसके सात कवियों में प्रगतिवादी कवि अधिक थे। रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, नेमिचंद जैन, गजानन माधव मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर और भारतभूषण अग्रवाल ये सभी कवि प्रगतिवादी हैं। इन कवियों ने कथ्य और अभिव्यक्ति की दृष्टि से अनेक नए नए प्रयोग किये। अतः तारसप्तक को प्रयोगवाद का आधार ग्रंथ माना गया। अज्ञेय द्वारा संपादित प्रतीक में इन कवियों की अनेक रचनाएं प्रकाशित हुई।

नई कविता और समकालीन कविता

सन 1953 ईस्वी में इलाहाबाद से 'नई कविता' पत्रिका का प्रकाशन हुआ। इस पत्रिका में नई कविता को प्रयोगवाद से भिन्न रूप में प्रतिष्ठित किया गया। दूसरा सप्तक(1951), तीसरा सप्तक(1959) तथा चौथे सप्तक के कवियों को भी नए कवि कहा गया। वस्तुतः नई कविता को प्रयोगवाद का ही भिन्न रूप माना जाता है। इसमें भी दो धराएं परिलक्षित होती हैं।

वैयक्तिकता को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करने वाली धारा जिसमें अज्ञेय, धर्मवीर भारती, कुंवर नारायण, श्रीकांत वर्मा, जगदीश गुप्त प्रमुख हैं तथा प्रगतिशील धारा जिसमें गजानन माधव मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा, नागार्जुन, शमशेर बहादुर सिंह, त्रिलोचन शास्त्री, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह तथा सुदामा पांडेय धूमिल आदि उल्लेखनीय हैं। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना में इन दोनों धराओं का मेल दिखाई पड़ता है। इन दोनो ही धाराओं में अनुभव की प्रामाणिकता, लघुमानव की प्रतिष्ठा तथा बौधिकता का आग्रह आदि प्रमुख प्रवृत्तियां हैं। साधारण बोलचाल की शब्दावली में असाधारण अर्थ भर देना इनकी भाषा की विशेषता है।

समकालीन कविता में गीत नवगीत और गजल की ओर रूझान बढ़ा है। आज हिंदी की निरंतर गतिशील और व्यापक होती हुई काव्यधारा में संपूर्ण भारत के सभी प्रदेशों के साथ ही साथ संपूर्ण विश्व में लोकिप्रिय हो रही है। इसमें आज देश विदेश में रहने वाले अनेक नागरिकताओं के असंख्य विद्वानों और प्रवासी भारतीयों का योगदान निरंतर जारी है।

3

आदिकाल

हिन्दी साहित्य के इतिहास में लगभग 8वीं शताब्दी से लेकर 14वीं शताब्दी के मध्य तक के काल को आदिकाल कहा जाता है। इस युग को यह नाम डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी से मिला है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'वीरगाथा काल' तथा विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे 'वीरकाल' नाम दिया है। इस काल की समय के आधार पर साहित्य का इतिहास लिखने वाले मिश्र बंधुओं ने इसका नाम प्रारंभिक काल किया और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बीजवपन काल। डॉ. रामकुमार वर्मा ने इस काल की प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर इसको चारण-काल कहा है और राहुल संकृत्यायन ने सिद्ध-सामन्त काल।

इस समय का साहित्य मुख्यत: चार रूपों में मिलता है–

1. सिद्ध-साहित्य तथा नाथ-साहित्य,
2. जैन साहित्य,
3. चारणी-साहित्य,
4. प्रकीर्णक साहित्य।

आदिकाल परिचय-इतिहास शब्द इतिहास से निर्मित है , जिसका अर्थ है ऐसा हुआ था , या ऐसा हुआ होगा। इस प्रकार अतीत की घटनाओं के कालक्रम में संयोजित इतिवृत्त को इतिहास माना जाता है। हिंदी साहित्य का इतिहास अनेक दृष्टियों एवं सामग्री स्रोतों के आधार पर लिखा गया , किंतु इसके आरंभ का विवाद पूर्वत होता है।

हिंदी साहित्य के प्रारंभिक इतिहासकारों में ' जॉर्ज ग्रियर्सन ' ने इसका इतिहास सन् 700 ईसवी से सन् 1380 तक के कालखंड को ' चारण काल' से अभिहित किया।

इतिहास लेखन में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का महत्त्व निर्विवाद है। निसंदेह आचार्य रामचंद्र शुक्ल का ' हिंदी साहित्य का इतिहास ' अपनी सीमाओं में वैज्ञानिक एवं प्रमाणिक है , पर फिर भी कुछ चीजों का अभाव रह जाना स्वभाविक था।

आदिकाल साहित्य की आधार सामग्री

इतिहास लेखन की अनेक समस्याओं में से आधारभूत समस्या सामग्री की मानी जाती है। हिंदी साहित्य के 1000 वर्षों का इतिहास लिखने में सर्वाधिक कठिनाई का सामना इतिहासकारों को करना पड़ा , क्योंकि एक तो आधारभूत सामग्री बहुत कम उपलब्ध हो पाई थी। दूसरा प्राप्त सामग्री की प्रमाणिकता भी संदिग्ध रही।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के हिंदी साहित्य का इतिहास लिखते समय उपलब्ध सामग्री अपूर्ण और पर्याप्त तथा संदिग्ध थी , परंतु उसके पश्चात बहुत सी नई सामग्री भी प्रकाश में आई।

आज हिंदी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन के संबंध में ' डॉक्टर नगेंद्र ' की धारणा है कि हिंदी साहित्य के पुनर्लेखन की आवश्यकता है। हिंदी साहित्य के पुनर्लेखन की आवश्यकता दो बातों पर है–

1. साहित्य चेतना का विकास , नवीन शोध , परिणाम प्रत्येक युग में साहित्यिक चेतना में परिवर्तन एवं विकास होता रहा है।
2. प्रमुख कारण यह है कि पिछले दशकों में निरंतर अनुसंधान के फलस्वरुप प्रचुर नवीन सामग्री प्रकाश में आई।

डॉ. रामकुमार वर्मा ने अपने ' हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास ' में समस्त सामग्री को दो भागों में विभाजित किया है।

1 अंत: साक्ष्य और 2 बाह्य साक्ष्य

अंत: साक्ष्य में उस सामग्री को संबोधित किया जिसमें या तो साहित्यिक रचयिताओं ने अपने संबंध में कुछ लिखा है या उनके समकालीन अथवा परवर्ती लेखकों ने उनका वर्णन किया है।

बाह्य साक्ष्य के अंतर्गत शिलालेखों , पट्टों , ऐतिहासिक ग्रंथों किदवंतियों की आदि के रूप में मिलने वाली सामग्री।

काल विभाजन

युग और युग प्रकृति के अनुरूप साहित्यधारा का विकास होता हुआ एक सुदीर्घ परंपरा के रूप में हमारे सामने आता है। अत: सर्वांग का एक बारगी अवलोकन ना तो संभव ही है और ना ही उचित।

सर्वप्रथम ' डॉक्टर जॉर्ज ग्रियर्सन ' ने ' द मॉडर्न वार्नाकुलेटर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान ' में ऐसा प्रयास किया , परंतु परवर्ती इतिहासकारों ने उनके इस प्रयास की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। तदुपरांत ' मिश्र बंधुओं ' ने ' मिश्रबंधु विनोद ' में हिंदी साहित्य की सुदीर्घ परंपरा को पहले पांच भागों में विभाजित किया। इनका विभाजन भी परवर्ती लेखकों को मान्य नहीं हुआ , क्योंकि वह अव्यवस्थित प्रमाणिक तथा आवश्यकता से अधिक लंबा समझा गया।

वास्तव में ' आचार्य रामचंद्र शुक्ल ' द्वारा प्रतिपादित काल विभाजन ही ऐसा प्रथम कालविभाजन है जिसे त्रुटिपूर्ण मानते हुए आज तक मान्यता मिली हुई है। कभी-कभी कोई राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रवृत्ति इतनी बलवती होती है कि, समाज और साहित्य को एक साथ समान रूप से प्रभावित करती है जैसे-

भक्ति , पुनर्जागरण , सुधार आंदोलन ऐसी स्थिति में नामकरण का आधार सांस्कृतिक प्रवृत्ति ही होगी क्योंकि वही साहित्य चेतना की प्रेरक रही है।

आचार्य शुक्ल के पश्चात 'आचार्य द्विवेदी ' का नाम इस क्षेत्र में उल्लेखनीय है। आचार्य द्विवेदी ने प्राचीन परंपराओं के सत्य की खोज की ओर इस आधार पर शुक्ल जी की मान्यताओं में संशोधन किया। उनका ग्रंथ ' हिंदी साहित्य की भूमिका ' इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी की ऐतिहासिक दृष्टि के स्थान पर परंपरा का महत्त्व प्रतिष्ठित करते हुए उन धारणाओं को खंडित किया जो योग्य प्रभाव के एकागी दृष्टिकोण पर आधारित थी। आचार्य द्विवेदी ने भक्ति काल के स्रोतों की खोज में दक्षिण भारत के सातवीं-आठवीं शताब्दी से चल रहे वैष्णो भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि की सविस्तार चर्चा की है। इसलिए वह मानते हैं कि–

मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिंध में , और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था पर वह हुई दक्षिण भारत में।

द्विवेदी " मैं इस्लाम को भूला नहीं हूं लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूं कि अगर इस्लाम ना आया होता तो भी इस साहित्य का बाहर आना वैसा ही होता।"

आचार्य द्विवेदी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने आचार्य शुक्ल की मान्यताओं को चुनौती देते हुए सबल प्रमाणों के आधार पर खंडित किया। आचार्य शुक्ल ने जहां युग स्थिति पर बल दिया वहीं आचार्य द्विवेदी ने परंपरा पर , अत: दोनों के मत एक दूसरे के पूरक ही सिद्ध हुए।

आचार्य द्विवेदी ने शुक्ल द्वारा प्रतिपादित तीन काल खंडों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया।

डॉक्टर 'श्यामसुंदर दास ने अपने ग्रंथ ' हिंदी भाषा और साहित्य ' में शुक्ल जी के काल विभाजन को ही मौलिकता के साथ स्वीकार किया। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के काल विभाजन में जो मौलिकता उपलब्ध है वह इस प्रकार है–

वीरगाथा काल का नाम आदिकाल स्वीकार करना।

आदिकाल की सीमा 1000 से 1400 ईसवी तक स्वीकार करना।

भक्ति काल को ईशा की 16वीं शताब्दी के मध्य तक स्वीकार करना।

रीतिकालीन साहित्य को रीतिबद्ध , रीतिमुक्त , रीतिसिद्ध नामों से तीन भागों में विभाजित करना।

आचार्य द्विवेदी की अधिकांश स्थापनाएं विद्वानों को माननीय भी हुई केवल भक्तिकाल को सन् 1600 तक सीमित करना मान्य नहीं हुआ , क्योंकि ऐसा करने से सूर , तुलसी , मीरा आदि भक्तिकालीन कवियों की इस में चर्चा विवादास्पद हो जाएगी।

मिश्र बंधुओं द्वारा रचा गया ग्रंथ ' मिश्रबंधु विनोद ' की विशेषता यह रही कि इसमें कवियों के विवरणों के साथ-साथ साहित्य के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डाला गया है। अज्ञात कवियों को प्रकाश में लाते हुए उनके साहित्यिक महत्त्व को स्पष्ट किया गया है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने यह स्वीकार किया है कि –" मैंने कवियों की परिचयात्मक विवरण मिश्रबंधु विनोद से लिए हैं " काल विभाजन के अंतर्गत हिंदी साहित्य के 800 वर्षों के इतिहास को चार काल खंडों में विभाजित करके प्रत्येक का प्रवृत्तिगत नामकरण करते हुए प्रस्तुत किया।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के काल विभाजन तथा नामकरण को सभी इतिहासकारों ने सबसे पहले प्रस्तुत कर अपना पक्ष देना चाहा।

आदिकाल	वीरगाथाकाल 1050-1375
पूर्व मध्यकाल	भक्ति काल 1375-1700
उत्तर मध्यकाल	रीतिकाल 1700-1900
आधुनिक काल	गद्य काल 1900 से अब तक।

सिद्ध और नाथ साहित्य

यह साहित्य उस समय लिखा गया जब हिंदी अपभ्रंश से आधुनिक हिंदी की ओर विकसित हो रही थी। बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा के अनुयायी उस समय सिद्ध कहलाते थे। इनकी संख्या चौरासी मानी गई है। सरहपा (सरोजपाद अथवा सरोजभद्र) प्रथम सिद्ध माने गए हैं। इसके अतिरिक्त शबरपा, लुइपा, डोम्भिपा, कण्हपा, कुक्कुरिपा आदि सिद्ध सहित्य के प्रमुख् कवि है। ये कवि अपनी वाणी का प्रचार जन भाषा में करते थे। उनकी सहजिया प्रवृत्ति मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति को केंद्र में रखकर निर्धारित हुई थी। इस प्रवृत्ति ने एक प्रकार की स्वच्छंदता को जन्म दिया जिसकी प्रतिक्रिया में नाथ संप्रदाय शुरू हुआ। नाथ-साधु हठयोग पर विशेष बल देते थे। वे योग मार्गी थे। वे निर्गुण निराकार ईश्वर को मानते थे। तथाकथित नीची जातियों के लोगों में से कई पहुँचे हुए सिद्ध एवं नाथ हुए हैं। नाथ-संप्रदाय में गोरखनाथ सबसे महत्त्वपूर्ण थे। आपकी कई रचनाएं प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त चौरन्गीनाथ, गोपीचन्द, भरथरी आदि नाथ पन्थ के प्रमुख कवि है। इस समय की रचनाएं साधारणत: दोहों अथवा पदों में प्राप्त होती हैं, कभी-कभी चौपाई का भी प्रयोग मिलता है। परवर्ती संत-साहित्य पर सिद्धों और विशेषकर नाथों का गहरा प्रभाव पड़ा है।

जैन साहित्य

अपभ्रंश की जैन-साहित्य परंपरा हिंदी में भी विकसित हुई है।जैन कवियो ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु जो साहित्य लिखा वह जैन साहित्य कहलाता हैं।

जैन कवियो ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु जो साहित्य लिखा वह जैन साहित्य कहलाता हैं। बड़े-बड़े प्रबंधकाव्यों के उपरांत लघु खंड-काव्य तथा मुक्तक रचनाएं भी जैन-साहित्य के अंतर्गत आती हैं। स्वयंभू का पउम-चरिउ

वास्तव में राम-कथा ही है। स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल आदि उस समय के प्रख्यात कवि हैं। गुजरात के प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचंद्र भी लगभग इसी समय के हैं। जैनों का संबंध राजस्थान तथा गुजरात से विशेष रहा है, इसीलिए अनेक जैन कवियों की भाषा प्राचीन राजस्थानी रही है, जिससे अर्वाचीन राजस्थानी एवं गुजराती का विकास हुआ है। सूरियों के लिखे राम-ग्रंथ भी इसी भाषा में उपलब्ध हैं।

रासो साहित्य

इस काल में रासो साहित्य की तीन प्रवृतियाँ देखने को मिलती है
वीरगाथात्मक - पृथ्वीराज रासो ,हम्मीर रासो,परमाल रासो
धार्मिकता - भारतेश्वर बाहुबली रास
श्रृंगारिकता - संदेश रासक

चारणी-साहित्य

इसके अंतर्गत चारण के उपरांत ब्रह्मभट्ट और अन्य बंदीजन कवि भी आते हैं। सौराष्ट्र, गुजरात और पश्चिमी राजस्थान में चारणों का, तथा ब्रज-प्रदेश, दिल्ली तथा पूर्वी राजस्थान में भट्टों का प्राधान्य रहा था। चारणों की भाषा साधारणत: राजस्थानी रही है और भट्टों की ब्रज। इन भाषाओं को डिंगल और पिंगल नाम भी मिले हैं। ये कवि प्राय: राजाओं के दरबारों में रहकर उनकी प्रशस्ति किया करते थे। अपने आश्रयदाता राजाओं की अतिरंजित प्रशंसा करते थे। श्रृंगार और वीर उनके मुख्य रस थे। इस समय की प्रख्यात रचनाओं में चंदबरदाई कृत पृथ्वीराज रासो, दलपति कृत खुमाण-रासो, नरपति-नाल्ह कृत बीसलदेव रासो, जगनिक कृत आल्ह खंड आदि मुख्य हैं। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पृथ्वीराज रासो है। इन सब ग्रंथों के बारे में आज यह सिद्ध हुआ है कि उनके कई अंश क्षेपक हैं।

प्रकीर्णक साहित्य

खड़ी बोली के आदि-कवि अमीर खुसरो इसी समय हुए है। खुसरो की पहेलियां और मुकरियां प्रख्यात हैं। मैथिल-कोकिल विद्यापति भी इसी समय के अंतर्गत हुए हैं। विद्यापति के मधुर पदों के कारण इन्हें 'अभिनव जयदेव' भी कहा जाता है। मैथिली और अवहट्ट में भी इनकी रचनाएं मिलती हैं। इनकी पदावली

का मुख्य रसशृंगार माना गया है। अब्दुल रहमान कृत 'संदेश रासक' भी इसी समय की एक सुंदर रचना है। इस छोटे से प्रेम-संदेश-काव्य की भाषा अपभ्रंश से अत्यधिक प्रभावित होने से कुछ विद्वान इसको हिंदी की रचना न मानकर अपभ्रंश की रचना मानते हैं।

आश्रयदाताओं की अतिरंजित प्रशंसाएं, युद्धों का सुन्दर वर्णन,शृंगार-मिश्रित वीररस का आलेखन वगैरह इस साहित्य की प्रमुख विशेषताएं हैं। इस्लाम का भारत में प्रवेश हो चुका था। देशी रजवाड़े परस्पर कलह में व्यस्त थे। सब एक साथ मिलकर मुसलमानों के साथ लड़ने के लिए तैयार नहीं थे। परिणाम यह हुआ कि अलग-अलग सबको हराकर मुसलमान यहीं स्थिर हो गए। दिल्ली की गद्दी उन्होंने प्राप्त कर ली और क्रमशः उनके राज्य का विस्तार बढ़ने लगा। तत्कालीन कविता पर इस स्थिति का प्रभाव देखा जा सकता है।

हिन्दी का सर्वप्रथम कवि

हिन्दी का प्रथम कवि कौन है, इस पर मतैक्य नहीं है। विभिन्न इतिहासकारों के अनुसार हिंदी का पहला कवि निम्नलिखित हैं-

रामकुमार वर्मा के अनुसार -- स्वयंभू (693 ई.)
राहुल सांकृत्यायन के अनुसार -- सरहपा (769 ई.)
शिवसिंह सेंगर के अनुसार -- पुष्पदन्त या पुण्ड (10वीं शताब्दी)
चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' के अनुसार -- राजा मुंज (993 ई.)
रामचंद्र शुक्ल के अनुसार -- राजा मुंज व भोज (993 ई.)
गणपति चंद्र गुप्त के अनुसार -- शालिभद्र सूरि (1184 ई.)
हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार- अब्दुल रहमान (13वीं शताब्दी)
बच्चन सिंह के अनुसार -- विद्यापति (15वीं शताब्दी)

आदिकाल का नामकरण

हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रथम काल का नामकरण विद्वानों ने इस प्रकार किया है-

1. डॉ. ग्रियर्सन - चारणकाल,
2. मिश्रबंधु - आरम्भिक काल
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल- वीरगाथा काल,
4. राहुल संकृत्यायन - सिद्ध सामंत युग,

5. महावीर प्रसाद द्विवेदी - बीजवपन काल,
6. विश्वनाथप्रसाद मिश्र,, - वीरकाल,
7. हजारी प्रसाद द्विवेदी - आदिकाल,
8. रामकुमार वर्मा - चारण काल

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मत

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस काल का नाम वीरगाथा काल रखा है। इस नामकरण का आधार स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं- ...आदिकाल की इस दीर्घ परंपरा के बीच प्रथम डेढ़-सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता-धर्म, नीति,शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती है। इस अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति के उपरांत जब से मुसलमानों की चढाइयों का आरंभ होता है तब से हम हिंदी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बंधती हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन करते थे। यही प्रबंध परंपरा रासो के नाम से पायी जाती है, जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने वीरगाथा काल कहा है। इसके संदर्भ में वे तीन कारण बताते हैं-

1. इस काल की प्रधान प्रवृत्ति वीरता की थी अर्थात् इस काल में वीरगाथात्मक ग्रंथों की प्रधानता रही है।
2. अन्य जो ग्रंथ प्राप्त होते हैं वे जैन धर्म से संबंध रखते हैं, इसलिए नाम मात्र हैं और
3. इस काल के फुटकर दोहे प्राप्त होते हैं, जो साहित्यिक हैं तथा विभिन्न विषयों से संबंधित हैं, किन्तु उसके आधार पर भी इस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारित नहीं होती है। शुक्ल जी वे इस काल की बारह रचनाओं का उल्लेख किया है-
    1. विजयपाल रासो (नल्लसिंह कृत-सं.1355),
    2. हम्मीर रासो (शांगधर कृत-सं.1357),
    3. कीर्तिलता (विद्यापति-सं.1460),
    4. कीर्तिपताका (विद्यापति-सं.1460),
    5. खुमाण रासो (दलपतिविजय-सं.1180),
    6. बीसलदेव रासो (नरपति नाल्ह-सं.1212),
    7. पृथ्वीराज रासो (चंद बरदाई-सं.1225-1249),

8. जयचंद्र प्रकाश (भट्ट केदार-सं. 1225),
9. जयमयंक जस चंद्रिका (मधुकर कवि-सं.1240),
10. परमाल रासो (जगनिक कवि-सं.1230),
11. खुसरो की पहेलियाँ (अमीर खुसरो-सं.1350),
12. विद्यापति की पदावली (विद्यापति-सं.1460)

शुक्ल जी द्वारा किये गये वीरगाथाकाल नामकरण के संबंध में कई विद्वानों ने अपना विरोध व्यक्त किया है। इनमें श्री मोतीलाल मैनारिया, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि मुख्य हैं। आचार्य द्विवेदी का कहना है कि वीरगाथा काल की महत्त्वपूर्ण रचना पृथ्वीराज रासो की रचना उस काल में नहीं हुई थी और यह एक अर्ध-प्रामाणिक रचना है। यही नहीं शुक्ल ने जिन गंथों के आधार पर इस काल का नामकरण किया है, उनमें से कई रचनाओं का वीरता से कोई संबंध नहीं है। बीसलदेव रासो गीति रचना है। जयचंद्र प्रकाश तथा जयमयंक जस चंद्रिका -इन दोनों का वीरता से कोई संबंध नहीं है। ये ग्रंथ केवल सूचना मात्र हैं। अमीर खुसरो की पहेलियों का भी वीरत्व से कोई संबंध नहीं है। विजयपाल रासो का समय मिश्रबंधुओं ने सं.1355 माना है अत: इसका भी वीरता से कोई संबंध नहीं है। परमाल रासो पृथ्वीराज रासो की तरह अर्ध प्रामाणिक रचना है तथा इस ग्रंथ का मूल रूप प्राप्य नहीं है। कीर्तिलता और कीर्तिपताका- इन दोनों ग्रंथों की रचना विद्यापति ने अपने आश्रयदाता राजा कीर्तिसिंह की कीर्ति के गुणगान के लिए लिखे थे। उनका वीररस से कोई संबंध नहीं है। विद्यापति की पदावली का विषय राधा तथा अन्य गोपियों से कृष्ण की प्रेम-लीला है। इस प्रकार शुक्ल जी ने जिन आधार पर इस काल का नामकरण वीरगाथा काल किया है, वह योग्य नहीं है।

डॉ. ग्रियर्सन का मत

डॉ. ग्रियर्सन ने हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रथम काल को चारणकाल नाम दिया है। पर इस नाम के पक्ष में वे कोई ठोस तर्क नहीं दे पाये हैं। उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास का प्रारंभ 643 ई. से मानी है किन्तु उस समय की किसी चारण रचना या प्रवृत्ति का उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। वस्तुत: इस प्रकार की रचनाएँ 1000 ई.स. तक मिलती ही नहीं हैं। इस लिए डॉ॰ग्रियर्सन द्वारा दिया गया नाम योग्य नहीं है।

मिश्रबंधुओं का मत

मिश्रबंधुओं ने ई.स. 643 से 1387 तक के काल को प्रारंभिक काल कहा है। यह एक सामान्य नाम है और इसमें किसी प्रवृत्ति को आधार नहीं बनाया गया है। यह नाम भी विद्वानों को स्वीकार्य नहीं है।

डॉ. रामकुमार वर्मा का मत

डॉ.रामकुमार वर्मा- इन्होंने हिंदी साहित्य के प्रारंभिक काल को चारणकाल नाम दिया है। इस नामकरण के बारे में उनका कहना है कि इस काल के सभी कवि चारण थे, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। क्योंकि सभी कवि राजाओं के दरबार-आश्रय में रहनेवाले, उनके यशोगान करनेवाले थे। उनके द्वारा रचा गया साहित्य चारणी कहलाता है। किन्तु विद्वानों का मानना है कि जिन रचनाओं का उल्लेख वर्मा जी ने किया है उनमें अनेक रचनाएँ संदिग्ध हैं। कुछ तो आधुनिक काल की भी हैं। इस कारण डॉ॰वर्मा द्वारा दिया गया चारणकाल नाम विद्वानों को मान्य नहीं है।

राहुल सांकृत्यायन का मत

राहुल सांकृत्यायन- उन्होंने 8वीं से 13 वीं शताब्दी तक के काल को सिद्ध-सांमत युग की रचनाएँ माना है। उनके मतानुसार उस समय के काव्य में दो प्रवृत्तियों की प्रमुखता मिलती है- 1.सिद्धों की वाणी- इसके अंतर्गत बौद्ध तथा नाथ-सिद्धों की तथा जैनमुनियों की उपदेशमुलक तथा हठयोग की क्रिया का विस्तार से प्रचार करनेवाली रहस्यमूलक रचनाएँ आती हैं। 2.सामंतों की स्तृति- इसके अंतर्गत चारण कवियों के चरित काव्य (रासो ग्रंथ) आते हैं, जिनमें कवियों ने अपने आश्रय दाता राजा एवं सामंतों की स्तृति के लिए युद्ध, विवाह आदि के प्रसंगों का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है। इन ग्रंथों में वीरत्व का नवीन स्वर मुखरित हुआ है। राहुल जी का यह मत भी विद्वानों द्वारा मान्य नहीं है। क्योंकि इस नामकरण से लौकिक रस का उल्लेख करनेवाली किसी विशेष रचना का प्रमाण नहीं मिलता। नाथपंथी तथा हठयोगी कवियों तथा खुसरो आदि की काव्य-प्रवृत्तियों का इस नाम में समावेश नहीं होता है।न

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का मत

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी- उन्होंने हिंदी साहित्य के प्रथम काल का नाम बीज-बपन काल रखा। उनका यह नाम योग्य नहीं है क्योंकि साहित्यिक

प्रवृत्तियों की दृष्टि से यह काल आदिकाल नहीं है। यह काल तो पूर्ववर्ती परिनिष्ठित अपभ्रंश की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी- इन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रारंभिक काल को आदिकाल नाम दिया है। विद्वान भी इस नाम को अधिक उपयुक्त मानते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है- वस्तुतः हिंदी का आदि काल शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम, मनोभावापन्न, परंपराविनिर्मुक्त, काव्य-रूढिघ्यों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक वहीं है। यह काल बहुत अधिक परंपरा-प्रेमी, रूढिघ्रस्त, सजग और सचेत कवियों का काल है। आदिकाल नाम ही अधिक योग्य है क्योंकि साहित्य की दृष्टि से यह काल अपभ्रंश काल का विकास ही है, पर भाषा की दृष्टि से यह परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा की सूचना देता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी साहित्य के आदिकाल के लक्षण-निरूपण के लिए निम्नलिखित पुस्तकें आधारभूत बतायी हैं-

1.पृथ्वीराज रासो, 2.परमाल रासो, 3. विद्यापति की पदावली, 4.कीर्तिलता, 5.कीर्तिपताका, 6.संदेशरासक (अब्दुल रेहमान), 7.पउमचरिउ (स्वयंभू कृत रामायण), 8.भविषयत्कहा (धनपाल), 9.परमात्म-प्रकाश (जोइन्दु), 10.बौद्ध गान और दोहा (संपादक पं.हरप्रसाद शास्त्री), 11.स्वयंभू छंद और 12.प्राकृत पैंगलम।

नाम निर्णय

इस प्रकार हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रथम काल के नामकरण के रूप में आदिकाल नाम ही योग्य व सार्थक है, क्योंकि इस नाम से उस व्यापक पृष्ठभूमि का बोध होता है, जिस पर परवर्ती साहित्य खड़ा है। भाषा की दृष्टि से इस काल के साहित्य में हिंदी के प्रारंभिक रूप का पता चलता है तो भाव की दृष्टि से भक्तिकाल से लेकर आधुनिक काल तक की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के आदिम बीज इसमें खोजे जा सकते हैं। इस काल की रचना-शैलियों के मुख्य रूप इसके बाद के कालों में मिलते हैं। आदिकाल की आध्यात्मिक, शृंगारिक तथा वीरता की प्रवृत्तियों का ही विकसित रूप परवर्ती साहित्य में मिलता है। इस कारण आदिकाल नाम ही अधिक उपयुक्त तथा व्यापक नाम है।

4

भक्ति काल

गुजरात के स्वामी माधवाचार्य ने द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय (ब्राह्म सम्प्रदाय) चलाया जिसकी ओर भी लोगों का झुकाव हुआ। इसके साथ ही द्वैताद्वैतवाद (सनकादि सम्प्रदाय) के संस्थापक निम्बार्काचार्य ने विष्णु के दूसरे अवतार कृष्ण की प्रतिष्ठा विष्णु के स्थान पर की तथा लक्ष्मी के स्थान पर राधा को रख कर देश के पूर्व भाग में प्रचलित कृष्ण-राधा (जयदेव, विद्यापति) की प्रेम कथाओं को नवीन रूप एवं उत्साह प्रदान किया। वल्लभाचार्य जी ने भी कृष्ण भक्ति के प्रसार का कार्य किया। जगत्प्रसिद्ध सूरदास भी इस सम्प्रदाय की प्रसिद्धि के मुख्य कारण कहे जा सकते हैं। सूरदास ने वल्लभाचार्य जी से दीक्षा लेकर कृष्ण की प्रेमलीलाओं एवं बाल क्रीड़ाओं को भक्ति के रंग में रंग कर प्रस्तुत किया। माधुर्यभाव की इन लीलाओं ने जनता को बहुत रसमग्न किया। इस तरह दो मुख्य सम्प्रदाय सगुण भक्ति के अन्तर्गत अपने पूरे उत्कर्ष पर इस काल में विद्यमान थे-रामभक्ति शाखाय कृष्णभक्ति शाखा।

इसके अतिरिक्त भी दो शाखाएँ प्रचलित हुई-प्रेममार्ग (सूफी) तथा निर्गुणमार्ग शाखा।

सगुण धारा के इस विकास क्रम के समानांतर ही बाहर से आए हुए मुसलमान सूफी संत भी अपने विचारों को सामान्य जनता में फैला रहे थे। मुसलमानों के इस लम्बे प्रवास के कारण भारतीय तथा मुस्लिम संस्कृति का आदान-प्रदान होना स्वाभाविक था। फिर इन सूफी संतों ने भी अपने विचारों को

जनसाधारण में व्याप्त करने की, अपने मतों को भारतीय आख्यानों में, भारतीय परिवेश में, यहीं की भाषा-शैली लेकर प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया। इनके मतों में कट्टरता का कहीं भी आभास नहीं था। इनका मुख्य सिद्धान्त प्रेम तत्त्व था। यद्यपि प्रेम के माध्यम से ईश्वर को पाने के लिए किए जाने वाले प्रयास-(विधि) में कुछ अन्तर अवश्य था तथापि इनके प्रेम तत्त्व के प्रतिपादन एवं प्रसार शैली ने लोगों को आकर्षित किया। इन्होंने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन भी किया जिसे कुछ लोगों ने अद्वैतवाद ही मान लिया, जो कि उचित नहीं है। हजरत निजामुद्दीन चिश्ती, सलीम चिश्ती आदि अनेक संतों ने हिन्दू-मुसलमान सबका आदर प्राप्त किया। इस सूफी मत में भी चार धाराएँ मुख्यत: चलीं-

1. चिश्ती सम्प्रदाय 2. कादरी सम्प्रदाय 3. सुहरावर्दी सम्प्रदाय 4. नक्शबंदिया सम्प्रदाय।

जायसी, कुतुबन, मंझन आदि प्रसिद्ध (साहित्यकार) कवियों ने हिन्दी साहित्य को अमूल्य साहित्य रत्न भेंट किए। निर्गुणज्ञानाश्रयी शाखा पर भी इनका प्रभाव पड़ा तथा हिन्दू-मुसलमानों के भेद को मिटाने की बातें कही जाने लगीं। आचार्य शुक्ल ने भी इन्हें 'हिन्दू और मुसलमान हृदय को आमने सामने करके अजनबीपन मिटाने वाला कहा।

रामानन्द जी उत्तर भारत में रामभक्ति को लेकर आए थे। उनके सिद्धान्तों में इस भक्ति का स्वरूप दो प्रकार का था-राम का निर्गुण रूपय राम का अवतारी रूप। ये दोनों मत एक साथ ही थे। निर्गुण रूप में राम का नाम तो होता पर उसे 'दशरथ-सुत' की कथा से सम्बद्ध नहीं किया जाता। रामानन्द ने देखा कि भगवान की शरण में आने के उपरान्त छूआ-छूत, जाँत-पाँत आदि का कोई बन्धन नहीं रह जाता अत: संस्कृत के पण्डित और उच्च ब्राह्मण कुलोद्भूत होने के पश्चात भी उन्होंने देश-भाषा में कविता लिखी और सबको (ब्राह्मण से लेकर निम्नजाति वालों तक को) राम-नाम का उपदेश दिया। कबीर इन्हीं के शिष्य थे। कबीर, रैदास, धन्ना, सेना, पीपा आदि इनके शिष्यों ने इस मत को प्रसिद्ध किया। रामनाम के मंत्र को लेकर चलने वाले अक्खड़-फक्कड़ संतों ने भेद-भाव भुला कर सबको प्रेमपूर्वक गले लगाने की बात कही। वैदिक कर्मकाण्ड के द्वारा फैले हुए आडंबरों एवं बाह्य विधि-विधानों के त्याग पर बल देते हुए राम नाम का प्रेम, श्रद्धा से स्मरण करने की सरल पद्धति और सहज समाधि का प्रसार किया। कबीर में तीन प्रमुख धाराएँ समाहित दिखाई देती हैं।

1. उत्तरपूर्व के नाथ-पंथ और सहजयान का मिश्रित रूप 2. पश्चिम का सूफी मतवाद और 3. दक्षिण का वेदान्तभावित वैष्णवधर्म

हठयोग का कुछ प्रभाव इन पर अवश्य है परन्तु मुख्यत: प्रेम तत्त्व पर ही बल दिया गया है। सामाजिक सुधार के क्षेत्र में इन संतों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इन संतों के साहित्य में हमें तत्कालीन युग की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक समस्त स्थितियों के दर्शन हो जाते हैं। धार्मिक दृष्टि से भी इनका योग बहुत है। सहज प्रेम की भाषा पर बल देने के कारण लोगों का इन पर भी बहुत झुकाव रहा। कबीर कीमृत्यु के कुछ समय बाद इसमें भी सम्प्रदाय की स्थापना हो गई। अन्य शाखाओं के समान इसका महत्त्व भी भक्तिकाल को पूर्ण बनाने में है।

ये चारों शाखाएँ भक्तिकाल या मध्यकाल के पूर्व भाग में अपने उत्कर्ष में थीं। इन चारों ही शाखाओं ने हिन्दी साहित्य को बड़े-बड़े व्यक्तित्त्व प्रदान किए जैसे-सूर, तुलसी, कबीर आदि । अपने भक्तिभाव की चरम उत्कृष्टता के लिए भी ये जनता के मन-मानस पर आधिपत्य कर सके। आज भी ये श्रद्धा एवं आदर से देखे जाते हैं। यद्यपि कालान्तर में इन सम्प्रदायों में भी अनैतिकता के तत्त्वों के प्रवेश के कारण शुद्धता नहीं रह गई थी तथा इनका पतन भी धीरे-धीरे हो गया था तथापि जो अद्‌भुत मणियाँ इस काल में प्राप्त हुई, वे किसी भी अन्य काल में प्राप्त नहीं हो सकीं, यह निस्संदेह कहा जा सकता है। भक्तिकाल में हर प्रकार से कला समृद्धि हुई, नवीन वातावरण का जन्म हुआ, जन-जन में भक्ति, प्रेम और श्रद्धा के स्रोत फूट पड़े, ऐसा काल वस्तुत: साहित्येतिहास का "स्वर्णकाल" कहलाने योग्य है।

सम्प्रदायों से मुक्त रूप में भी भक्ति का प्रचार था। मीरा, रसखान, रहीम का नाम उतनी ही श्रद्धा से लिया जाता है जितना कि किसी सम्प्रदायबद्ध संत कवि का। इस तरह कहा जा सकता है कि जनता में सम्प्रदाय से भी अधिक शुद्ध भक्ति-भाव की महत्ता थी। ऐकान्तिक भक्ति ने समष्टिगत रूप धारण किया और जन-जन के हृदय को आप्लावित कर दिया।

तुलसी की मृत्यु (1680 ई.) के कुछ समय बाद ही रीतिकाल के आगमन के चिह्न दिखाई देने लगे थे। राम के मर्यादावादी रूप का सामान्यीकरण करके उसमें भी लौकिक लीलाओं का समावेश कर दिया गया। कृष्ण की प्रेम भक्ति (मूलक) जागृत करने वाली लीलाओं में से कृष्ण की श्रृंगारिक लीलाओं को ग्रहण करके उसका अश्लील चित्रण होने लगा था। यह स्थिति रीतिकाल में अपने घोरतम रूप में पहुँच गई थी। इसीलिए कहा गया था "राधिका कन्हाई

सुमरिन को बहानो है।" रामभक्ति का जो रूप तुलसी ने अंकित किया था, यद्यपि वह धूमिल नहीं हुआ तथापि राजाओं के आश्रय में रहने वाले कवियों ने श्रृंगारिकता के वातावरण में उसे विस्मृत कर दिया था। इस तरह धीरे-धीरे ई. 1680-90 के आसपास भक्तिकाल समाप्त हो गया।

कालांतर में यद्यपि जनता में भक्तिभाव विद्यमान रहे तथापि न तो इस (तुलसी आदि के समान) को महान विभूति पैदा हो सकी और न कोई बहुत अधिक लोकप्रिय ग्रंथ ही लिखा जा सका।

भक्ति युग का यह आन्दोलन बहुत बड़ा आन्दोलन था एवं ऐसा आन्दोलन भारत ने इससे पहले कभी नहीं देखा था। इस साहित्य ने जनता के हृदय में श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, जिजीविषा जागृत की, साहस, उल्लास, प्रेम भाव प्रदान किया, अपनी मातृभूमि, इसकी संस्कृति का विराट एवं उत्साहवर्धक चित्र प्रस्तुत किया, लोगों के हृदय में देशप्रेम भी प्रकारंतर से इसी कारण जागृत हुआ।

भक्तियुग में इस तरह मुख्यत: भक्तिपरक साहित्य की रचना हुई परन्तु यह भी पूर्णतया नहीं कहा जा सकता कि किसी अन्य प्रकार का साहित्य उस काल में था ही नहीं। यह अकबर का शासन काल था तथा उसके दरबार में अनेक कवि थे। अब्दुर्रहीम खानखाना आदि की राजप्रसस्तिपरक कुछ कविताएँ मिलती हैं। अकबर ने साहित्य की पारम्परिक धारा को भी प्रोत्साहन दिया था अत: काव्य का वह रूप भी कृपाराम की "हिततरंगिणी" बीरबल के फुटकर दोहों आदि में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त नीति परक दोहे आदि लिखे गये।

एक और महान कवि आचार्य केशव को शुक्ल जी ने भक्तिकाल के फुटकर कवियों में रखा है। यह कार्य उन्होंने केशव के रचनाकाल के आधार पर किया है। केशव की अलंकार, छंद, रस के लक्षणों-उदाहरणों को प्रस्तुत करने वाली तीन महत्त्वपूर्ण रचनाओं-कवि प्रिया, रसिक प्रिया तथा रामचन्द्रिका को भक्ति से भिन्न मान कर भी उन्हें इस युग के फुटकर कवियों में शुक्ल जी ने रखा है परन्तु यह उचित नहीं है। केशव का आचार्यत्त्व पूरे रीतिकाल को गौरव प्रदान करता है। रीति-लक्षण -उदाहरण के निर्धारण की परम्परा भी सर्वप्रथम उन्हीं में दिखाई देती है चाहे रीतिकाल में इस निर्धारण के लिए केशव को रीतिकाल से पृथक करना अनुचित है अत: उन्हें भक्तियुग में रखना उचित नहीं है।

भक्तिकाल में ललित कलाओं का उत्कर्ष दिखाई देता है। श्रीकृष्ण-राधा की विभिन्न लीलाओं के चित्र इस काल में मिलते हैं, कोमल एवं सरस भावों

को अभिव्यक्त करने वाली अनेक मूर्त्तियाँ इस काल में मिलती है। मूर्तिकला का बहुत विकास इस युग में बहुत अधिक हुआ था। वास्तुकला, चित्रकला में मुस्लिम (ईरानी) शैली का समन्वय भारतीय शैली में हुआ फलतः मेहराबें, गुम्बद आदि का प्रयोग अधिक दिखाई देने लगा। मध्यकाल में राजस्थानी शैली अधिक लोकप्रिय थी। मानवीय चित्रों के अतिरिक्त प्राकृतिक दृश्यों का अंकन, दरबारी जीवन के विविध प्रसंग भी भित्ति चित्र इस युग में प्राप्त होते हैं। 'कुतुबमीनार', 'अढ़ाई दिन का झौंपड़ा' आदि ऐतिहासिक वास्तुकला के अप्रतिम नमूने हैं।

इस तरह साहित्य के साथ ललित कलाओं का विकास भी बहुत अधिक हुआ था। संगीत के क्षेत्र में बहुत प्रगति हुई। कृष्णलीलाओं का गायन, साखी, रमैनी, पद को राग निबद्ध करने की जैसी योजना इस काल में है वैसी अन्यत्र प्राप्य नहीं है। सूर और तुलसी साहित्य में अनेक राग-रागनियों का वर्णन आता है।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि भक्ति के उद्भव एवं विकास के समय जो कुछ भी भारतीय साहित्य, भारतीय संस्कृति तथा इतिहास को प्राप्त हुआ, वह स्वयं में अद्भुत, अनुपम एवं दुर्लभ है। अंततः हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के शब्दों में कह सकते है-"समूचे भारतीय इतिहास में यह अपने 'युग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति साहित्य है। यह एक नई दुनिया है। भक्ति का यह नया इतिहास मनुष्य जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। यह लक्ष्य है भगवद्भक्ति, आदर्श है शुद्ध सात्विक जीवन और साधन है भगवान के निर्मल चरित्र और सरस लीलाओं का गान।"भक्ति काल अपना एक अहम और महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। आदिकाल के बाद आये इस युग को पूर्व मध्यकाल भी कहा जाता है। जिसकी समयावधि संवत् 1343ई से संवत् 1643ई तक की मानी जाती है। यह हिंदी साहित्य(साहित्यिक दो प्रकार के हैं- धार्मिक साहित्य और लौकिक साहित्य) का श्रेष्ठ युग है। जिसको जॉर्ज ग्रियर्सन ने स्वर्णकाल, 'श्यामसुन्दर दास ने स्वर्णयुग, आचार्य राम चंद्र शुक्ल ने भक्ति काल एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक जागरण कहा। सम्पूर्ण साहित्य के श्रेष्ठ कवि और उत्तम रचनाएं इसी युग में प्राप्त होती हैं।

दक्षिण में आलवार बंधु नाम से कई प्रख्यात भक्त हुए हैं। इनमें से कई तथाकथित नीची जातियों के भी थे। वे बहुत पढे-लिखे नहीं थे, परंतु अनुभवी थे। आलवारों के पश्चात दक्षिण में आचार्यों की एक परंपरा चली जिसमें रामानुजाचार्य प्रमुख थे।

रामानंद ने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर बल दिया। रामानंद ने और उनकी शिष्य-मंडली ने दक्षिण की भक्तिगंगा का उत्तर में प्रवाह किया। समस्त उत्तर-भारत इस पुण्य-प्रवाह में बहने लगा। भारत भर में उस समय पहुँचे हुए संत और महात्मा भक्तों का आविर्भाव हुआ।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने पुष्टि-मार्ग की स्थापना की और विष्णु के कृष्णावतार की उपासना करने का प्रचार किया। उनके द्वारा जिस लीला-गान का उपदेश हुआ उसने देशभर को प्रभावित किया। अष्टछाप के सुप्रसिद्ध(कवियों ने उनके उपदेशों को मधुर कविता में प्रतिबिंबित किया।

इसके उपरांत माध्व तथा निंबार्क संप्रदायों का भी जन-समाज पर प्रभाव पड़ा है। साधना-क्षेत्र में दो अन्य संप्रदाय भी उस समय विद्यमान थे। नाथों के योग-मार्ग से प्रभावित संत संप्रदाय चला जिसमें प्रमुख व्यक्तित्त्व संत कबीरदास का है। मुसलमान कवियों का सूफीवाद हिंदुओं के विशिष्टाद्वैतवाद से बहुत भिन्न नहीं है। कुछ भावुक मुसलमान कवियों द्वारा सूफीवाद से रंगी हुई उत्तम रचनाएं लिखी गई।

संक्षेप में भक्ति-युग की चार प्रमुख काव्य-धाराएं मिलती हैं–

सगुण भक्ति
रामाश्रयी शाखा
कृष्णाश्रयी शाखा
निर्गुण भक्ति
ज्ञानाश्रयी शाखा
प्रेमाश्रयी शाखा

हिन्दी साहित्य का भक्ति काल

हिंदी साहित्य का भक्तिकाल 1375 वि0 से 1700 वि0 तक माना जाता है। यह युग भक्तिकाल के नाम से प्रख्यात है। यह हिंदी साहित्य का श्रेष्ठ युग है। समस्त हिंदी साहित्य के श्रेष्ठ कवि और उत्तम रचनाएं इस युग में प्राप्त होती हैं।

रामानुजाचार्य की परंपरा में रामानंद हुए। उनका व्यक्तित्त्व असाधारण था। वे उस समय के सबसे बड़े आचार्य थे। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में ऊंच-नीच का भेद तोड़ दिया। सभी जातियों के अधिकारी व्यक्तियों को आपने शिष्य बनाया। उस समय का सूत्र हो गया:

जाति-पांति पूछे नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।।

इसके उपरांत माध्व तथा निंबार्क संप्रदायों का भी जन-समाज पर प्रभाव पड़ा है। साधना-क्षेत्र में दो अन्य संप्रदाय भी उस समय विद्यमान थे। नाथों के योग-मार्ग से प्रभावित संत संप्रदाय चला जिसमें प्रमुख व्यक्तित्त्व संत कबीरदास का है। मुसलमान कवियों का सूफीवाद हिंदुओं के विशिष्टाद्वैतवाद से बहुत भिन्न नहीं है। कुछ भावुक मुसलमान कवियों द्वारा सूफीवाद से रंगी हुई उत्तम रचनाएं लिखी गईं। संक्षेप में भक्ति-युग की चार प्रमुख काव्य-धाराएं मिलती हैं: ज्ञानाश्रयी शाखा, ख्प्रेमाश्रयी शाखा,,, कृष्णाश्रयी शाखा और रामाश्रयी शाखा, प्रथम दोनों धाराएं निर्गुण मत के अंतर्गत आती हैं, शेष दोनों सगुण मत के अंतर्गत आती हैं।

संत कवि

निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रमुख संत कवियों का परिचय कबीर, कमाल, रैदास या रविदास, धर्मदास, गुरू नानक, दादूदयाल, सुंदरदास, रज्जब, मलूकदास, अक्षर अनन्य, जंभनाथ, सिंगा जी, हरिदास निरंजनी।

परिचय

तेरहवीं सदी तक धर्म के क्षेत्र में बड़ी अस्तव्यस्तता आ गई। जनता में सिद्धों और योगियों आदि द्वारा प्रचलित अंधविश्वास फैल रहे थे, शास्त्रज्ञानसंपन्न वर्ग में भी रूढ़ियों और आडंबर की प्रधानता हो चली थी। मायावाद के प्रभाव से लोकविमुखता और निष्क्रियता के भाव समाज में पनपने लगे थे। ऐसे समय में भक्तिआंदोलन के रूप में ऐसा भारतव्यापी विशाल सांस्कृतिक आंदोलन उठा जिसने समाज में उत्कर्षविधायक सामाजिक और वैयक्तिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की।

भक्ति आंदोलन का आरंभ दक्षिण के आलवार संतों द्वारा दसवीं सदी के लगभग हुआ। वहाँ शंकराचार्य के अद्वैतमत और मायावाद के विरोध में चार वैष्णव संप्रदाय खड़े हुए। इन चारों संप्रदायों ने उत्तर भारत में विष्णु के अवतारों का प्रचारप्रसार किया। इनमें से एक के प्रवर्तक रामानुजाचार्य थे, जिनकी शिष्यपरंपरा में आनेवाले रामानंद ने (पंद्रहवीं सदी) उत्तर भारत में रामभक्ति का प्रचार किया। रामानंद के राम ब्रह्म के स्थानापन्न थे जो राक्षसों का विनाश और अपनी लीला का विस्तार करने के लिए संसार में अवतीर्ण होते हैं। भक्ति के

क्षेत्र में रामानंद ने ऊँचनीच का भेदभाव मिटाने पर विशेष बल दिया। राम के सगुण और निर्गुण दो रूपों को माननेवाले दो भक्तों – कबीर और तुलसी को इन्होंने प्रभावित किया। विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैत मत का आधार लेकर इसी समय बल्लभाचार्य ने अपना पुष्टिमार्ग चलाया। बारहवीं से सोलहवीं सदी तक पूरे देश में पुराणसम्मत कृष्णचरित के आधार पर कई संप्रदाय प्रतिष्ठित हुए, जिनमें सबसे ज्यादा प्रभावशाली वल्लभ का पुष्टिमार्ग था। उन्होंने शांकर मत के विरुद्ध ब्रह्म के सगुण रूप को ही वास्तविक कहा। उनके मत से यह संसार मिथ्या या माया का प्रसार नहीं है बल्कि ब्रह्म का ही प्रसार है, अतः सत्य है। उन्होंने कृष्ण को ब्रह्म का अवतार माना और उसकी प्राप्ति के लिए भक्त का पूर्ण आत्मसमर्पण आवश्यक बतलाया। भगवान्ध के अनुग्रह या पुष्टि के द्वारा ही भक्ति सुलभ हो सकती है। इस संप्रदाय में उपासना के लिए गोपीजनवल्लभ, लीलापुरुषोत्तम कृष्ण का मधुर रूप स्वीकृत हुआ। इस प्रकार उत्तर भारत में विष्णु के राम और कृष्ण अवतारों प्रतिष्ठा हुई।

यद्यपि भक्ति का स्रोत दक्षिण से आया तथापि उत्तर भारत की नई परिस्थितियों में उसने एक नया रूप भी ग्रहण किया। मुसलमानों के इस देश में बस जाने पर एक ऐसे भक्तिमार्ग की आवश्यकता थी जो हिंदू और मुसलमान दोनों को ग्राह्य हो। इसके अतिरिक्त निम्न वर्ग के लिए भी अधिक मान्य मत वही हो सकता था जो उन्हीं के वर्ग के पुरुष द्वारा प्रवर्तित हो। महाराष्ट्र के संत नामदेव ने 14वीं शताब्दी में इसी प्रकार के भक्तिमत का सामान्य जनता में प्रचार किया जिसमें भगवान के सगुण और निर्गुण दोनों रूप गृहीत थे। कबीर के संतमत के ये पूर्वपुरुष हैं। दूसरी ओर सूफी कवियों ने हिंदुओं की लोककथाओं का आधार लेकर ईश्वर के प्रेममय रूप का प्रचार किया।

इस प्रकार इन विभिन्न मतों का आधार लेकर हिंदी में निर्गुण और सगुण के नाम से भक्तिकाव्य की दो शाखाएँ साथ साथ चलीं। निर्गुणमत के दो उपविभाग हुए – ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी। पहले के प्रतिनिधि कबीर और दूसरे के जायसी हैं। सगुणमत भी दो उपधाराओं में प्रवाहित हुआ – रामभक्ति और कृष्णभक्ति। पहले के प्रतिनिधि तुलसी हैं और दूसरे के सूरदास।

भक्तिकाव्य की इन विभिन्न प्रणालियों की अपनी अलग अलग विशेषताएँ हैं पर कुछ आधारभूत बातों का सन्निवेश सब में है। प्रेम की सामान्य भूमिका सभी ने स्वीकार की। भक्तिभाव के स्तर पर मनुष्यमात्र की समानता सबको मान्य है। प्रेम और करुणा से युक्त अवतार की कल्पना तो सगुण भक्तों का

आधार ही है पर निर्गुणोपासक कबीर भी अने राम को प्रिय, पिता और स्वामी आदि के रूप में स्मरण करते हैं। ज्ञान की तुलना में सभी भक्तों ने भक्तिभाव को गौरव दिया है। सभी भक्त कवियों ने लोकभाषा का माध्यम स्वीकार किया है।

ज्ञानश्रयी शाखा के प्रमुख कवि कबीर पर तात्कालिक विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों और दार्शनिक मतों का सम्मिलित प्रभाव है। उनकी रचनाओं में धर्मसुधारक और समाजसुधारक का रूप विशेष प्रखर है। उन्होंने आचरण की शुद्धता पर बल दिया। बाह्याडंबर, रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर उन्होंने तीव्र कुठाराघात किया। मनुष्य की क्षमता का उद्घोष कर उन्होंने निम्नश्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया। इस शाखा के अन्य कवि रैदास, दादू हैं।

अपनी व्यक्तिगत धार्मिक अनुभूति और सामाजिक आलोचना द्वारा कबीर आदि संतों ने जनता को विचार के स्तर पर प्रभावित किया था। सूफी संतों ने अपने प्रेमाख्यानों द्वारा लोकमानस को भावना के स्तर पर प्रभावित करने का प्रयत्न किया। ज्ञानमार्गी संत कवियों की वाणी मुक्तकबद्ध है, प्रेममार्गी कवियों की प्रेमभावना लोकप्रचलित आख्यानों का आधार लेकर प्रबंधकाव्य के रूप में ख्यायित हुई है। सूफी ईश्वर को अनंत प्रेम और सौंदर्य का भंडार मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर को जीव प्रेम के मार्ग से ही उपलब्ध कर सकता है। साधना के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को वह गुरु या पीर की सहायता से साहसपूर्वक पार करके अपने परमप्रिय का साक्षात्कार करता है। सूफियों ने चाहे अपने मत के प्रचार के लिए अपने कथाकाव्य की रचना की हो पर साहित्यिक दृष्टि से उनका मूल्य इसलिए है कि उसमें प्रेम और उससे प्रेरित अन्य संवेगों की व्यंजना सहजबोध्य लौकिक भूमि पर हुई है। उनके द्वारा व्यंजित प्रेम ईश्वरोन्मुख है पर सामान्यत: यह प्रेम लौकिक भूमि पर ही संक्रमण करता है। परमप्रिय के सौंदर्य, प्रेमक्रीड़ा और प्रेमी के विरहोद्वेग आदि का वर्णन उन्होंने इतनी तन्मयता से किया है और उनके काव्य का मानवीय आधार इतना पुष्ट है कि आध्यात्मिक प्रतीकों और रूपकों के बावजूद उनकी रचनाएँ प्रेमसमर्पित कथाकाव्य की श्रेष्ठ कृतियाँ बन गई हैं। उनके काव्य का पूरा वातावरण लोकजीवन का और गार्हस्थिक है। प्रेमाख्यानकों की शैली फारसी के मसनवी काव्य जैसी है।

इस धारा के सर्वप्रमुख कवि जायसी हैं जिनका 'पदमावत' अपनी मार्मिक प्रेमव्यंजना, कथारस और सहज कलाविन्यास के कारण विशेष प्रशंसित हुआ है। इनकी अन्य रचनाओं में 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' आदि हैं, जिनमें

सूफी संप्रदायसंगत बातें हैं1 इस धारा के अन्य कवि हैं कुतबन, मंझन, उसमान, शेख, नबी और नूरमुहम्मद आदि।

ज्ञानमार्गी शाखा के कवियों में विचार की प्रधानता है तो सूफियों की रचनाओं में प्रेम का एकांतिक रूप व्यक्त हुआ है। सगुण धारा के कवियों ने विचारात्मक शुष्कता और प्रेम की एकांगिता दूरकर जीवन के सहज उल्लासमय और व्यापक रूप की प्रतिष्ठा की। कृष्णभक्तिशाखा के कवियों ने आनंदस्वरूप लीलापुरुषोत्तम कृष्ण के मधुर रूप की प्रतिष्ठा कर जीवन के प्रति गहन राग को स्फूर्त किया। इन कवियों में सूरसागर के रचयिता महाकवि सूरदास श्रेष्ठतम हैं जिन्होंने कृष्ण के मधुर व्यक्तित्त्व का अनेक मार्मिक रूपों में साक्षात्कार किया। ये प्रेम और सौंदर्य के निसर्गसिद्ध गायक हैं। कृष्ण के बालरूप की जैसी विमोहक, सजीव और बहुविध कल्पना इन्होंने की है वह अपना सानी नहीं रखती। कृष्ण और गोपियों के स्वच्छंद प्रेमप्रसंगों द्वारा सूर ने मानवीय राग का बड़ा ही निश्छल और सहज रूप उद्घाटित किया है। यह प्रेम अपने सहज परिवेश में सहयोगी भाववृत्तियों से संपृक्त होकर विशेष अर्थवान्द हो गया है। कृष्ण के प्रति उनका संबंध मुख्यत: सख्यभाव का है। आराध्य के प्रति उनका सहज समर्पण भावना की गहरी से गहरी भूमिकाओं को स्पर्श करनेवाला है। सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। वल्लभ के पुत्र बिट्ठलनाथ ने कृष्णलीलागान के लिए अष्टछाप के नाम से आठ कवियों का निर्वाचन किया था। सूरदास इस मंडल के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। अन्य विशिष्ट कवि नंददास और परमानंददास हैं। नंददास की कलाचेतना अपेक्षाकृत विशेष मुखर है।

मध्ययुग में कृष्णभक्ति का व्यापक प्रचार हुआ और वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के अतिरिक्त अन्य भी कई संप्रदाय स्थापित हुए, जिन्होंने कृष्णकाव्य को प्रभावित किया। हितहरिवंश (राधावल्लभी संप्र.), हरिदास (टट्टी संप्र.), गदाधर भट्ट और सूरदास मदनमोहन (गौड़ीय संप्र.) आदि अनेक कवियों ने विभिन्न मतों के अनुसार कृष्णप्रेम की मार्मिक कल्पनाएँ कीं। मीरा की भक्ति दांपत्यभाव की थी जो अपने स्वतरूस्फूर्त कोमल और करुण प्रेमसंगीत से आंदोतिल करती हैं। नरोत्तमदास, रसखान, सेनापति आदि इस धारा के अन्य अनेक प्रतिभाशाली कवि हुए जिन्होंने हिंदी काव्य को समृद्ध किया। यह सारा कृष्णकाव्य मुक्तक या कथाश्रित मुक्तक है। संगीतात्मकता इसका एक विशिष्ट गुण है।

कृष्णकाव्य ने भगवान के मधुर रूप का उद्‌घाटन किया पर उसमें जीवन की अनेकरूपता नहीं थी, जीवन की विविधता और विस्तार की मार्मिक योजना रामकाव्य में हुई। कृष्णभक्तिकाव्य में जीवन के माधुर्य पक्ष का स्फूर्तिप्रद संगीत था, रामकाव्य में जीवन का नीतिपक्ष और समाजबोध अधिक मुखरित हुआ। एक ने स्वच्छंद रागतत्त्व को महत्त्व दिया तो दूसरे ने मर्यादित लोकचेतना पर विशेष बल दिया। एक ने भगवान की लोकरंजनकारी सौंदर्यप्रतिमा का संगठन किया तो दूसरे ने उसके शक्ति, शील और सौंदर्यमय लोकमंगलकारी रूप को प्रकाशित किया। रामकाव्य का सर्वोत्कृष्ट वैभव 'रामचरितमानस' के रचयिता तुलसीदास के काव्य में प्रकट हुआ जो विद्याविद् ग्रियर्सन की दृष्टि में बुद्धदेव के बाद के सबसे बड़े जननायक थे। पर काव्य की दृष्टि से तुलसी का महत्त्व भगवान्‌ के एक ऐसे रूप की परिकल्पना में है, जो मानवीय सामर्थ्य और औदात्य की उच्चतम भूमि पर अधिष्ठित है। तुलसी के काव्य की एक बड़ी विशेषता उनकी बहुमुखी समन्वयभावना है, जो धर्म, समाज और साहित्य सभी क्षेत्रों में सक्रिय है। उनका काव्य लोकोन्मुख है। उसमें जीवन की विस्तीर्णता के साथ गहराई भी है। उनका महाकाव्य रामचरितमानस राम के संपूर्ण जीवन के माध्यम से व्यक्ति और लोकजीवन के विभिन्न पक्षों का उद्‌घाटन करता है। उसमें भगवान राम के लोकमंगलकारी रूप की प्रतिष्ठा है। उनका साहित्य सामाजिक और वैयक्तिक कर्तव्य के उच्च आदर्शों में आस्था दृढ़ करनेवाला है। तुलसी की 'विनयपत्रिका' में आराध्य के प्रति, जो कवि के आदर्शों का सजीव प्रतिरुप है, उनका निरंतर और निश्छल समर्पणभाव, काव्यात्मक आत्माभिव्यक्ति का उत्कृष्ट दृष्टांत है। काव्याभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों पर उनका समान अधिकार है। अपने समय में प्रचलित सभी काव्यशैलियों का उन्होंने सफल प्रयोग किया। प्रबंध और मुक्तक की साहित्यिक शैलियों के अतिरिक्त लोकप्रचलित अवधी और ब्रजभाषा दोनों के व्यवहार में वे समान रूप से समर्थ हैं। तुलसी के अतिरिक्त रामकाव्य के अन्य रचयिताओं में अग्रदास, नाभादास, प्राणचंद चौहान और हृदयराम आदि उल्लेख्य हैं।

आज की दृष्टि से इस संपूर्ण भक्तिकाव्य का महत्त्व उसक धार्मिकता से अधिक लोकजीवनगत मानवीय अनुभूतियों और भावों के कारण है। इसी विचार से भक्तिकाल को हिंदी काव्य का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

कृष्णाश्रयी शाखा

इस गुण की इस शाखा का सर्वाधिक प्रचार हुआ है। विभिन्न संप्रदायों के अंतर्गत उच्च कोटि के कवि हुए हैं। इनमें वल्लभाचार्य के पुष्टि-संप्रदाय के अंतर्गत अष्टछाप के सूरदास कुम्भनदास रसखान जैसे महान कवि हुए हैं। वात्सल्य एवंशृंगार के सर्वोत्तम भक्त-कवि सूरदास के पदों का परवर्ती हिंदी साहित्य पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। इस शाखा के कवियों ने प्राय: मुक्तक काव्य ही लिखा है। भगवान श्रीकृष्ण का बाल एवं किशोर रूप ही इन कवियों को आकर्षित कर पाया है इसलिए इनके काव्यों में श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य का ही प्राधान्य रहा है। प्राय: सब कवि गायक थे इसलिए कविता और संगीत का अद्‌भुत सुंदर समन्वय इन कवियों की रचनाओं में मिलता है। गीति-काव्य की जो परंपरा जयदेव और विद्यापति द्वारा पल्लवित हुई थी उसका चरम-विकास इन कवियों द्वारा हुआ है। नर-नारी की साधारण प्रेम-लीलाओं को राधा-कृष्ण की अलौकिक प्रेमलीला द्वारा व्यंजित करके उन्होंने जन-मानस को रसाप्लावित कर दिया। आनंद की एक लहर देश भर में दौड गई। इस शाखा के प्रमुख कवि थे सूरदास, नंददास, मीरा बाई, हितहरिवंश, हरिदास, रसखान, नरोत्तमदास वगैरह। रहीम भी इसी समय हुए।

कृष्ण-काव्य-धारा की विशेषताएँ

कृष्ण-काव्य-धारा के मुख्य प्रवर्तक हैं- श्री वल्लभाचार्य। उन्होंने निम्बार्क, मध्व और विष्णुस्वामी के आदर्शों को सामने रखकर श्रीकृष्ण का प्रचार किया। श्री वल्लभाचार्य द्वारा प्रचारित पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण-भक्ति-साहित्य की रचना की। वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग का प्रचार-प्रसार किया। जिसका अर्थ है- भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति से उनकी कृपा और अनुग्रह की प्राप्ति करना।

कृष्ण-काव्य-धारा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं -

1. श्रीकृष्ण-साहित्य का मुख्य विषय कृष्ण की लीलाओं का गान करना है। वल्लभाचार्य के सिद्धांतो से प्रभावित होकर इस शाखा के कवियों ने कृष्ण की बाल-लीलाओं का ही अधिक वर्णन किया है। सूरदास इसमें प्रमुख है।
2. इस शाखा में वात्सल्य एवं माधुर्य भाव का ही प्राधान्य है। वात्सल्य भाव के अंतर्गत कृष्ण की बाल-लीलाओं, चेष्टाओं तथा माँ यशोदा के]हृदय

की झाँकी मिलती है। माधुर्य भाव के अंतर्गत गोपी-लीला मुख्य है। सूरदास के बारे में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है- वात्सल्य के क्षेत्र में जितना अधिक वर्णन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया, इतना किसी ओर कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का तो वे कोना-कोना झाँक आये।

3. इस धारा के कवियों ने भगवान कृष्ण की उपासना माधुर्य एवं सख्य भाव से की है। इसीलिए इसमें मर्यादा का चित्रण नहीं मिलता।
4. श्रीकृष्ण काव्य में मुक्त रचनाएँ ही अधिक पाई जाती हैं। काव्य-रचना के अधिकांशत: उन्होंने पद ही चुने हैं।
5. इस काव्य में गीति-काव्य की मनोहारिणी छटा है। इसका कारण है- कृष्ण-काय की संगीतात्मक्ता। कृष्ण-काव्य में राग-रागिनियों का सुंदर उपयोग हुआ है।
6. श्रीकृष्ण काव्य में विषय की एकता होने के कारण भावों में अधिकतर एकरूपता पाई जाती है।
7. श्रीकृष्ण को भगवान मानकर पदों की विनयावली द्वारा पूजा जाने के कारण इसमें भावुकता की तीव्रता अधिक पाई जाती है।
8. इस काव्य-धारा में उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा अलंकारों का प्रयोग किया गया है।
9. कृष्ण-काव्य-धारा की भाषा ब्रज है। ब्रजभाषा की कोमलकांत पदावली का प्रयोग इसमें हुआ है। यह मधुर और सरस है।
10. इस काव्य में रसमयी उक्तियों के लिए तथा साकार ईश्वर के प्रतिपादन के लिए भ्रमरगीत लिखने की परंपरा प्राप्त होती है।
11. श्रीकृष्ण-काव्य स्वतंत्र प्रेम-प्रधान काव्य है। इन्होंने प्रेमलक्षणा भक्ति को अपनाया है। इसलिए इसमें मर्यादा की अवहेलना की गई है।
12. कृष्ण-काव्य व्यंग्यात्मक है। इसमें उपालंभ की प्रधानता है। सूर का भ्रमरगीत इसका सुंदर उदाहरण है।
13. श्रीकृष्ण काव्य में लोक-जीवन के प्रति उपेक्षा की भावना पाई जाती है। इसका मुख्य कारण है- कृष्ण के लोकरंजक रूप की प्रधानता।
14. श्री कृष्ण-काव्य-धारा में ज्ञान और कर्म के स्थान पर भक्ति को प्रधानता दी गई है। इसमें आत्म-चिंतन की अपेक्षा आत्म-समर्पण का महत्त्व है।
15. प्रकृति-वर्णन भी इस धारा में मिलता है। ग्राम्य-प्रकृति के सुंदर चित्र इसमें हैं।

रामाश्रयी शाखा

कृष्णभक्ति शाखा के अंतर्गत लीला-पुरुषोत्तम का गान रहा तो रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि तुलसीदास ने मर्यादा-पुरुषोत्तम का ध्यान करना चाहा। इसलिए आपने रामचंद्र को आराध्य माना और 'रामचरित मानस' द्वारा राम-कथा को घर-घर में पहुँचा दिया। तुलसीदास हिंदी साहित्य के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। समन्वयवादी तुलसीदास में लोकनायक के सब गुण मौजूद थे। आपकी पावन और मधुर वाणी ने जनता के तमाम स्तरों को राममय कर दिया। उस समय प्रचलित तमाम भाषाओं और छंदों में आपने रामकथा लिख दी। जन-समाज के उत्थान में आपने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस शाखा में अन्य कोई कवि तुलसीदास के समान उल्लेखनीय नहीं है तथापि अग्रदास, नाभादास तथा प्राण चन्द चौहान भी इस श्रेणी में आते हैं।

रामभक्ति शाखा की प्रवृत्तियाँ रामकाव्य धारा का प्रवर्तन वैष्णव संप्रदाय के स्वामी रामानंद से स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि रामकाव्य का आधार संस्कृत साहित्य में उपलब्ध राम-काव्य और नाटक रहें हैं। इस काव्य धारा के अवलोकन से इसकी निम्न विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं :-

राम का स्वरूप: रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में श्री रामानंद के अनुयायी सभी रामभक्त कवि विष्णु के अवतार दशरथ-पुत्र राम के उपासक हैं। अवतारवाद में विश्वास है। उनके राम परब्रह्म स्वरूप हैं। उनमें शील, शक्ति और सौंदर्य का समन्वय है। सौंदर्य में वे त्रिभुवन को लजावन हारे हैं। शक्ति से वे दुष्टों का दमन और भक्तों की रक्षा करते हैं तथा गुणों से संसार को आचार की शिक्षा देते हैं। वे मर्यादापुरुषोत्तम और लोकरक्षक हैं। भक्ति का स्वरूप: इनकी भक्ति में सेवक-सेव्य भाव है। वे दास्य भाव से राम की आराधना करते हैं। वे स्वयं को क्षुद्रातिक्षुद्र तथा भगवान को महान बतलाते हैं। तुलसीदास ने लिखा है: सेवक-सेव्य भाव बिन भव न तरिय उरगारि। राम-काव्य में ज्ञान, कर्म और भक्ति की पृथक-पृथक महत्ता स्पष्ट करते हुए भक्ति को उत्कृष्ट बताया गया है। तुलसी दास ने भक्ति और ज्ञान में अभेद माना है: भगतहिं ज्ञानहिं नहिं कुछ भेदा। यद्यपि वे ज्ञान को कठिन मार्ग तथा भक्ति को सरल और सहज मार्ग स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त तुलसी की भक्ति का रूप वैधी रहा है ,वह वेदशास्त्र की मर्यादा के अनुकूल है। लोक-मंगल की भावना: रामभक्ति साहित्य में राम के लोक-रक्षक रूप की स्थापना हुई है। तुलसी के राम मर्यादापुरुषोत्तम तथा आदर्शों के संस्थापक हैं। इस काव्य धारा में आदर्श पात्रों की सर्जना हुई

है। राम आदर्श पुत्र और आदर्श राजा हैं, सीता आदर्श पत्नी हैं तो भरत और लक्ष्मण आदर्श भाई हैं। कौशल्या आदर्श माता है, हनुमान आदर्श सेवक हैं। इस प्रकार रामचरितमानस में तुलसी ने आदर्श गृहस्थ, आदर्श समाज और आदर्श राज्य की कल्पना की है। आदर्श की प्रतिष्ठा से ही तुलसी लोकनायक कवि बन गए हैं और उनका काव्य लोकमंगल की भावना से ओतप्रोत है। समन्वय भावना: तुलसी का मानस समन्वय की विराट चेष्टा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में - उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय रामचरितमानस में शुरु से आखिर तक समन्वय का काव्य है। हम कह सकते हैं कि तुलसी आदि रामभक्त कवियों ने समाज, भक्ति और साहित्य सभी क्षेत्रों में समन्वयवाद का प्रचार किया है।

राम भक्त कवियों की भारतीय संस्कृति में पूर्ण आस्था रही। पौराणिकता इनका आधार है और वर्णाश्रम व्यवस्था के पोषक हैं। लोकहित के साथ-साथ इनकी भक्ति स्वांत: सुखाय थी। सामाजिक तत्त्व की प्रधानता रही। काव्य शैलियाँ: रामकाव्य में काव्य की प्राय: सभी शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। तुलसीदास ने अपने युग की प्राय: सभी काव्य-शैलियों को अपनाया है। वीरगाथाकाल की छप्पय पद्धति, विद्यापति और सूर की गीतिपद्धति, गंग आदि भाट कवियों की कवित्त-सवैया पद्धति, जायसी की दोहा पद्धति, सभी का सफलतापूर्वक प्रयोग इनकी रचनाओं में मिलता है। रामायण महानाटक (प्राणचंद चौहान) और हनुमननाटक (हदयराम) में संवाद पद्धति और केशव की रामचंद्रिका में रीति-पद्धति का अनुसरण है। रामकाव्य में नव रसों का प्रयोग है। राम का जीवन इतना विस्तृत व विविध है कि उसमें प्राय: सभी रसों की अभिव्यक्ति सहज ही हो जाती है। तुलसी के मानस एवं केशव की रामचंद्रिका में सभी रस देखे जा सकते हैं।

रामभक्ति के रसिक संप्रदाय के काव्य में श्रृंगार रस को प्रमुखता मिली है। मुख्य रस यद्यपि शांत रस ही रहा। भाषा-रामकाव्य में मुख्यत: अवधी भाषा प्रयुक्त हुई है। किंतु ब्रजभाषा भी इस काव्य काश्रृंगार बनी है। इन दोनों भाषाओं के प्रवाह में अन्य भाषाओं के भी शब्द आ गए हैं। बुंदेली, भोजपुरी, फारसी तथा अरबी शब्दों के प्रयोग यत्र-तत्र मिलते हैं। रामचरितमानस की अवधी प्रेमकाव्य की अवधी भाषा की अपेक्षा अधिक साहित्यिक है। छंद-रामकाव्य की रचना

अधिकतर दोहा-चौपाई में हुई है। दोहा चौपाई प्रबंधात्मक काव्यों के लिए उत्कृष्ट छंद हैं। इसके अतिरिक्त कुण्डलिया, छप्पय, कवित्त , सोरठा , तोमर ,त्रिभंगी आदि छंदों का प्रयोग हुआ है।

अलंकार-रामभक्त कवि विद्वान पंडित हैं। इन्होंने अलंकारों की उपेक्षा नहीं की। तुलसी के काव्य में अलंकारों का सहज और स्वाभाविक प्रयोग मिलता है। उत्प्रेक्षा, रूपक और उपमा का प्रयोग मानस में अधिक है।

ज्ञानाश्रयी मार्गी

इस शाखा के भक्त-कवि निर्गुणवादी थे और राम की उपासना करते थे। वे गुरु को बहुत सम्मान देते थे तथा जाति-पाँति के भेदों को अस्वीकार करते थे। वैयक्तिक साधना पर वे बल देते थे। मिथ्या आडंबरों और रूढियों का वे विरोध करते थे। लगभग सब संत अपढ़ थे परंतु अनुभव की दृष्टि से समृद्ध थे। प्राय: सब सत्संगी थे और उनकी भाषा में कई बोलियों का मिश्रण पाया जाता है इसलिए इस भाषा को 'सधुक्कड़ी' कहा गया है। साधारण जनता पर इन संतों की वाणी का जबरदस्त प्रभाव पड़ा है। इन संतों में प्रमुख कबीरदास थे। अन्य मुख्य संत-कवियों के नाम हैं - नानक, रैदास, दादूदयाल, सुंदरदास तथा मलूकदास।

प्रोफेसर महावीर सरन जैन ने निर्गुण भक्ति के स्वरूप के बारे में प्रश्न उठाए हैं तथा प्रतिपादित किया है कि संतों की निर्गुण भक्ति का अपना स्वरूप है जिसको वेदांत दर्शन के सन्दर्भ में व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। उनके शब्द हैं-

भक्ति या उपासना के लिए गुणों की सत्ता आवश्यक है। ब्रह्म के सगुण स्वरूप को आधार बनाकर तो भक्ति/उपासना की जा सकती है किन्तु जो निर्गुण एवं निराकार है उसकी भक्ति किस प्रकार सम्भव है ? निर्गुण के गुणों का आख्यान किस प्रकार किया जा सकता है ? गुणातीत में गुणों का प्रवाह किस प्रकार माना जा सकता है ? जो निरालम्ब है, उसको आलम्बन किस प्रकार बनाया जा सकता है। जो अरूप है, उसके रूप की कल्पना किस प्रकार सम्भव है। जो रागातीत है, उसके प्रति रागों का अर्पण किस प्रकार किया जा सकता है ? रूपातीत से मिलने की उत्कंठा का क्या औचित्य हो सकता है। जो नाम से भी अतीत है, उसके नाम का जप किस प्रकार किया जा सकता है।

शास्त्रीय दृष्टि से उपर्युक्त सभी प्रश्न 'निर्गुण-भक्ति' के स्वरूप को ताल ठोंककर चुनौती देते हुए प्रतीत होते हैं। कबीर आदि संतों की दार्शनिक विवेचना करते समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह मान्यता स्थापित की है कि उन्होंने निराकार ईश्वर के लिए भारतीय वेदांत का पल्ला पकड़ा है।इस सम्बन्ध में जब हम शांकर अद्वैतवाद एवं संतों की निर्गुण भक्ति के तुलनात्मक पक्षों पर विचार करते हैं तो उपर्युक्त मान्यता की सीमायें स्पष्ट हो जाती हैं–

(क) शांकर अद्वैतवाद में भक्ध्ति को साधन के रूप में स्वीकार किया गया है, किन्ध्तु उसे साध्य नहीं माना गया है। संतों ने (सूफियों ने भी) भक्ध्ति को साध्य माना है।

(ख) शांकर अद्वैतवाद में मुक्ति के प्रत्यक्ष साधन के रूप में 'ज्ञान' को ग्रहण किया गया है। वहाँ मुक्ति के लिए भक्ति का ग्रहण अपरिहार्य नहीं है। वहाँ भक्ति के महत्व की सीमा प्रतिपादित है। वहाँ भक्ति का महत्व केवल इस दृष्टि से है कि वह अन्तःकरण के मालिन्य का प्रक्षालन करने में समर्थ सिद्ध होती है। भक्ति आत्म-साक्षात्कार नहीं करा सकती, वह केवल आत्म साक्षात्कार के लिए उचित भूमिका का निर्माण कर सकती है। संतों ने अपना चरम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार या भगवद्-दर्शन माना है तथा भक्ति के ग्रहण को अपरिहार्य रूप में स्वीकार किया है क्योंकि संतों की दृष्टि में भक्ति ही आत्म-साक्षात्कार या भगवद्दर्शन कराती है।

प्रेमाश्रयी शाखा

मुसलमान सूफी कवियों की इस समय की काव्य-धारा को प्रेममार्गी माना गया है क्योंकि प्रेम से ईश्वर प्राप्त होते हैं ऐसी उनकी मान्यता थी। ईश्वर की तरह प्रेम भी सर्वव्यापी तत्त्व है और ईश्वर का जीव के साथ प्रेम का ही संबंध हो सकता है, यह उनकी रचनाओं का मूल तत्त्व है। उन्होंने प्रेमगाथाएं लिखी हैं। ये प्रेमगाथाएं फारसी की मनस्वियों की शैली पर रची गई हैं। इन गाथाओं की भाषा अवधी है और इनमें दोहा-चौपाई छंदों का प्रयोग हुआ है। मुसलमान होते हुए भी उन्होंने हिंदू-जीवन से संबंधित कथाएं लिखी हैं। खंडन-मंडन में न पड़कर इन फकीर कवियों ने भौतिक प्रेम के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम का वर्णन किया है। ईश्वर को माशूक माना गया है और प्रायः प्रत्येक गाथा में कोई राजकुमार किसी राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए नानाविध कष्टों का सामना

करता है, विविध कसौटियों से पार होता है और तब जाकर माशूक को प्राप्त कर सकता है। इन कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी प्रमुख हैं। आपका 'पद्मावत' महाकाव्य इस शैली की सर्वश्रेष्ठ रचना है। अन्य कवियों में प्रमुख हैं – मंझन, कुतुबन और उसमान।

भक्तिकाल के कवि

भक्तिकाल में कृष्णभक्ति शाखा के अंतर्गत आने वाले प्रमुख कवि हैं – कबीरदास, संत शिरोमणि रविदास,तुलसीदास, सूरदास, नंददास, कृष्णदास, परमानंद दास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, हितहरिवंश, गदाधर भट्ट, मीराबाई, स्वामी हरिदास, सूरदास मदनमोहन, श्रीभट्ट, व्यास जी, रसखान, ध्रुवदास तथा चौतन्य महाप्रभु।

सूरदास

हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ कृष्णभक्त कवि सूरदास का जन्म 1483 ई. के आस-पास हुआ था। इनकी मृत्यु अनुमानतः 1563 ई. के आस-पास हुई। इनके बारे में 'भक्तमाल' और 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में थोड़ी-बहुत जानकारी मिल जाती है। 'आईने अकबरी' और 'मुंशियात अब्बुलफजल' में भी किसी संत सूरदास का उल्लेख है, किन्तु वे बनारस के कोई और सूरदास प्रतीत होते हैं। अनुश्रुति यह अवश्य है कि अकबर बादशाह सूरदास का यश सुनकर उनसे मिलने आए थे। 'भक्तमाल' में इनकी भक्ति, कविता एवं गुणों की प्रशंसा है तथा इनकी अंधता का उल्लेख है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार वे आगरा और मथुरा के बीच साधु या स्वामी के रूप में रहते थे। वे वल्लभाचार्य के दर्शन को गए और उनसे लीलागान का उपदेश पाकर कृष्ण-चरित विषयक पदों की रचना करने लगे। कालांतर में श्रीनाथ जी के मंदिर का निर्माण होने पर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इन्हें यहाँ कीर्तन का कार्य सौंपा. सूरदास के विषय में कहा जाता है कि वे जन्मांध थे। उन्होंने अपने को 'जन्म को आँधर' कहा भी है। किन्तु इसके शब्दार्थ पर अधिक नहीं जाना चाहिए। सूर के काव्य में प्रकृतियाँ और जीवन का जो सूक्ष्म सौन्दर्य चित्रित है उससे यह नहीं लगता कि वे जन्मांध थे। उनके विषय में ऐसी कहानी भी मिलती है कि तीव्र अंतर्द्वन्द्व के किसी क्षण में उन्होंने अपनी आँखें फोड़ ली थीं। उचित यही मालूम पड़ता है कि वे जन्मांध नहीं थे। कालांतर में अपनी आँखों की ज्योति खो बैठे थे। सूरदास अब अंधों को

कहते हैं। यह परम्परा सूर के अंधे होने से चली है। सूर का आशय 'शूर' से है। शूर और सती मध्यकालीन भक्त साधकों के आदर्श थे।

कृतियाँ

1. सूरसागर
2. सूरसारावली
3. साहित्य लहरी

संत शिरोमणि रविदास

रैदास नाम से विख्यात संत रविदास का जन्म सन् 1388 (इनका जन्म कुछ विद्वान 1398 में हुआ भी बताते हैं) को बनारस में हुआ था। रैदास कबीर के समकालीन हैं। रैदास की ख्याति से प्रभावित होकर सिकंदर लोदी ने इन्हें दिल्ली आने का निमंत्रण भेजा था।

मध्ययुगीन साधकों में रैदास का विशिष्ट स्थान है। कबीर की तरह रैदास भी संत कोटि के प्रमुख कवियों में विशिष्ट स्थान रखते हैं। कबीर ने 'संतन में रविदास' कहकर इन्हें मान्यता दी है।

मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा जैसे दिखावों में रैदास का बिल्कुल भी विश्वास न था। वह व्यक्ति की आंतरिक भावनाओं और आपसी भाईचारे को ही सच्चा धर्म मानते थे। रैदास ने अपनी काव्य-रचनाओं में सरल, व्यावहारिक ब्रजभाषा का प्रयोग किया है, जिसमें अवधी, राजस्थानी, खड़ी बोली और उर्दू-फारसी के शब्दों का भी मिश्रण है। रैदास को उपमा और रूपक अलंकार विशेष प्रिय रहे हैं। सीधे-सादे पदों में संत कवि ने हृदय के भाव बड़ी सफाई से प्रकट किए हैं। इनका आत्मनिवेदन, दैन्य भाव और सहज भक्ति पाठक के हृदय को उद्वेलित करते हैं। रैदास के चालीस पद सिखों के पवित्र धर्मग्रंथ 'गुरुग्रंथ साहब' में भी सम्मिलित हैं। कहते हैं मीरा के गुरु रैदास ही थे।

रविदास जी के पद

अब कैसे छूटे राम रट लागी। प्रभु जी, तुम चंदन हम पानी, जाकी अँग-अँग बास समानी प्रभु जी, तुम घन बन हम मोरा, जैसे चितवत चंद चकोरा प्रभु जी, तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति बरै दिन राती प्रभु जी, तुम मोती,

हम धागा जैसे सोनहिं मिलत सोहागा प्रभु जी, तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भक्ति करै 'रैदासा'

रैदास के दोहे (काव्य)

जाति-जाति में जाति हैं, जो केतन के पात। रैदास मनुष ना जुड़ सके जब तक जाति न जात।।

रैदास कनक और कंगन माहि जिमि अंतर कछु नाहिं। तैसे ही अंतर नहीं हिन्दुअन तुरकन माहि।।

हिंदू तुरक नहीं कछु भेदा सभी मह एक रक्त और मासा। दोऊ एकऊ दूजा नाहीं, पेख्यो सोइ रैदासा।।

कह रैदास तेरी भगति दूरि है, भाग बड़े सो पावै। तजि अभिमान मेटि आपा पर, पिपिलक हवै चुनि खावै।।

कृस्न, करीम, राम, हरि, राघव, जब लग एक न पेखा। वेद कतेब कुरान, पुरानन, सहज एक नहिं देखा।।

ध्रुवदास

ये श्री हितहरिवंश के शिष्य स्वप्न में हुए थे। इसके अतिरिक्त उनका कुछ जीवनवृत्त प्राप्त नहीं हुआ। वे अधिकतर वृंदावन में ही रहा करते थे। उनकी रचना बहुत ही विस्तृत है और इन्होंने पदों के अतिरिक्त दोह, चौपाई, कवित्त, सवैये आदि अनेक छंदों में भक्ति और प्रेमतत्त्वों का वर्णन किया है।

कृतियाँ-

1. वृंदावनसत
2. सिंगारसत
3. रसरत्नावली
4. नेहमंजरी
5. रहस्यमंजरी

रसखान

ये दिल्ली के एक पठान सरदार थे। ये लौकिक प्रेम से कृष्ण प्रेम की ओर उन्मुख हुए. ये गोस्वामी विट्ठलनाथ के बड़े कृपापात्र शिष्य थे। रसखान ने कृष्ण का लीलागान गेयपदों में नहीं, सवैयों में किया है। रसखान को सवैया छंद सिद्ध

था। जितने सहज, सरस, प्रवाहमय सवैये रसखान के हैं, उतने शायद ही किसी अन्य कवि के हों. रसखान का कोई ऐसा सवैया नहीं मिलता जो उच्च स्तर का न हो। उनके सवैये की मार्मिकता का बहुत बड़ा आधार दृश्यों और बाह्यांतर स्थितियों की योजना में है। वही योजना रसखान के सवैयों के ध्वनि-प्रवाह में है। ब्रजभाषा का ऐसा सहज प्रवाह अन्यत्र बहुत कम मिलता है। रसखान सूफियों का हृदय लेकर कृष्ण की लीला पर काव्य रचते हैं। उनमें उल्लास, मादकता और उत्कटता तीनों का संयोग है। ब्रज भूमि के प्रति जो मोह रसखान की कविताओं में दिखाई पड़ता है, वह उनकी विशेषता है।

कृतियाँ

1. प्रेमवाटिका
2. सुजान रसखान

हरीराम व्यास

इनका पूरा नाम हरीराम व्यास था और वे ओरछा के रहनेवाले थे। ओरछानरेश मधुकर शाह के ये राजगुरू थे। पहले ये गौड़ सम्प्रदाय के वैष्णव थे पीछे हितहरिवंशजी के शिष्य होकर राधाबल्लभी हो गए। इनका समय सन् 1563 ई. के आसपास है। इनकी रचना परिमाण में भी बहुत विस्तृत है और विषय भेद के विचार से भी अधिकांश कृष्णभक्तों की अपेक्षा व्यापक है। ये श्रीकृष्ण की बाललीला औरशृंगारलीला में लीन रहने पर भी बीच में संसार पर दृष्टि डाला करते थे। इन्होंने तुलसीदास के समान खलों, पाखंडियों आदि का भी स्मरण किया और रसखान के अतिरिक्त तत्त्वनिरूपण में भी ये प्रवृत्त हुए हैं।

कृतियाँ

1. रासपंचाध्यायी

स्वामी हरिदास

ये महात्मा वृंदावन में निंबार्क मतांतर्गत टट्टी संप्रदाय, जिसे सुसू संप्रदाय भी कहते हैं, के संस्थापक थे और अकबर के समय में एक सिद्ध भक्त और संगीत-कला-कोविद माने जाते थे। कविताकाल सन् 1543 से 1560 ई. ठहरता है। प्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेन इनका गुरूवत् सम्मान करते थे। यह प्रसिद्ध है कि

अकबर बादशाह साधु के वेश में तानसेन के साथ इनका गाना सुनने के लिए गया था। कहते हैं कि तानसेन इनके सामने गाने लगे और उन्होंने जानबूझकर गाने में कुछ भूल कर दी। इसपर स्वामी हरिदास ने उसी गाना को शुद्ध करके गाया. इस युक्ति से अकबर को इनका गाना सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। पीछे अकबर ने बहुत कुछ पूजा चढ़ानी चाही पर इन्होंने स्वीकार न की। इनका जन्म समय कुछ ज्ञात नहीं है।

कृतियाँ

1. स्वामी हरिदास जी के पद
2. हरिदास जी की बानी

मीराबाई

ये मेड़तिया के राठौड़ रत्नसिंह की पुत्री, राव दूदाजी की पौत्री और जोधपुर के बसानेवाले प्रसिद्ध राव जोधा की प्रपौत्री थीं। इनका जन्म सन् 1498 ई. में चोकड़ी नाम के एक गाँव में हुआ था और विवाह उदयपुर के महाराणा कुमार भोजराज के साथ हुआ था। ये आरंभ से ही कृष्ण भक्ति में लीन रहा करती थी। विवाह के उपरांत थोड़े दिनों में इनके पति का परलोकवास हो गया। ये प्राय: मंदिर में जाकर उपस्थित भक्तों और संतों के बीच श्रीकृष्ण भगवान की मूर्त्ति के सामने आनंदमग्न होकर नाचती और गाती थी। कहते हैं कि इनके इस राजकुलविरूद्ध आचरण से इनके स्वजन लोकनिंदा के भय से रूष्ट रहा करते थे। यहाँ तक कहा जाता है कि इन्हें कई बार विष देने का प्रयत्न किया गया, पर विष का कोई प्रभाव इन पर न हुआ। घरवालों के व्यवहार से खिन्न होकर ये द्वारका और वृंदावन के मंदिरों में घूम-घूमकर भजन सुनाया करती थीं। ऐसा प्रसिद्ध है कि घरवालों से तंग आकर इन्होंने गोस्वामी तुलसीदास को यह पद लिखकर भेजा था- स्वस्ति श्री तुलसी कुल भूषन दूषन हरन गोसाई । बारहिं बार प्रनाम करहुँ, अब हरहु सोक समुदाई ।। घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढ़ाई ।। साधु संग अरू भजन करत मोहिं देत कलेस महाई ।। मेरे मात पिता के सम हौ, हरिभक्तन्ह सुखदाई ।। हमको कहा उचित करिबो है, सो लिखिए समझाई ।। इस पर गोस्वामी जी ने 'विनयपत्रिका' का यह पद लिखकर भेजा था: जाके प्रिय न राम बैदेही । सो नर तजिय कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही प्प् नाते सबै राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं । अंजन कहा आँखि जौ फूटै,

बहुतक कहौं कहाँ लौं ।। मीराबाई की मृत्यु द्वारका में सन् 1546 ई. में हो चुकी थी। अत: यह जनश्रुति किसी की कल्पना के आधार पर ही चल पड़ी. मीराबाई का नाम प्रधान भक्तों में है और इनका गुणगान नाभाजी, ध्रुवदास, व्यास जी, मलूकदास आदि सब भक्तों ने किया है।

कृतियाँ

1. नरसी जी का मायरा
2. गीतगोविंद टीका
3. राग गोविंद
4. राग सोरठ के पद

गदाधर भट्ट

ये दक्षिणी ब्राह्मण थे। इनके जन्म का समय ठीक से पता नहीं, पर यह बात प्रसिद्ध है कि ये श्री चैतन्य महाप्रभु को भागवत सुनाया करते थे। इनका समर्थन भक्तमाल की इन पंक्तियों से भी होता है: भागवत सुधा बरखै बदन, काहू को नाहिंन दुखद । गुणनिकर गदाधर भट्ट अति सबहिन को लागै सुखद।। संस्कृत के चूडांत पंडित होने के कारण शब्दों पर इनका बहुत विस्तृत अधिकार था। इनका पदविन्यास बहुत ही सुंदर है।

हितहरिवंश

राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोसाई हितहरिवंश का जन्म सन् 1502 ई. में मथुरा से 4 मील दक्षिण बादगाँव में हुआ था। राधावल्लभी सम्प्रदाय के पंडित गोपालप्रसाद शर्मा ने इनका जन्म सन् 1473 ई. माना है। इनके पिता का नाम केशवदास मिश्र और माता का नाम तारावती था। कहते हैं कि हितहरिवंश पहले माध्वानुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे। पीछे इन्हें स्वप्न में राधिकाजी ने मंत्र दिया और इन्होंने अपना एक अलग संप्रदाय चलाया। अत: हित सम्प्रदाय को माध्व संप्रदाय के अंतर्गत मान सकते हैं। हितहरिवंश के चार पुत्र और एक कन्या हुई। गोसाईं जी ने सन् 1525 ई. में श्री राधावल्लभ जी की मूर्त्ति वृंदावन में स्थापित की और वहीं विरक्त भाव से रहने लगे। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान और भाषा काव्य के अच्छे मर्मज्ञ थे। ब्रजभाषा की रचना इनकी यद्यपि बहुत विस्तृत नहीं है तथापि बड़ी सरस और हृदयग्राहिणी है।

कृतियाँ

1. राधासुधानिधि
2. हित चौरासी

गोविन्दस्वामी

ये अंतरी के रहनेवाले सनाढ्य ब्राह्मण थे जो विरक्त की भाँति आकर महावन में रहने लगे थे। पीछे गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के शिष्य हुए जिन्होंने इनके रचे पदों से प्रसन्न होकर इन्हें अष्टछाप में लिया। ये गोवर्धन पर्वत पर रहते थे और उसके पास ही इन्होंने कदंबों का एक अच्छा उपवन लगाया था जो अब तक 'गोविन्दस्वामी की कदंबखडी' कहलाता है। इनका रचनाकाल सन् 1543 और 1568 ई. के भीतर ही माना जा सकता है। वे कवि होने के अतिरिक्त बड़े पक्के गवैये थे। तानसेन कभी-कभी इनका गाना सुनने के लिए आया करते थे।

छीतस्वामी

ये विट्ठलनाथ जी के शिष्य और अष्टछाप के अंतर्गत थे। पहले ये मथुरा के सुसम्पन्न पंडा थे और राजा बीरबल जैसे लोग इनके जजमान थे। पंडा होने के कारण ये पहले बड़े अक्खड़ और उद्दंड थे, पीछे गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से दीक्षा लेकर परम शांत भक्त हो गए और श्रीकृष्ण का गुणानुवाद करने लगे। इनकी रचनाओं का समय सन् 1555 ई. के इधर मान सकते हैं। इनके पदों मेंशृंगार के अतिरिक्त ब्रजभूमि के प्रति प्रेमव्यंजना भी अच्छी पाई जाती है। 'हे विधना तोसों अँचरा पसारि माँगौ जनम जनम दीजो याही ब्रज बसिबो' पद इन्हीं का है।

चतुर्भुजदास

ये कुंभनदास जी के पुत्र और गोसाईं विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। ये भी अष्टछाप के कवियों में हैं। इनकी भाषा चलती और सुव्यवस्थित है। इनके बनाए तीन ग्रंथ मिले हैं।

कृतियाँ

1. द्वादशयश
2. भक्तिप्रताप
3. हितजू को मंगल

कुंभनदास

ये भी अष्टछाप के एक कवि थे और परमानंद जी के ही समकालीन थे। ये पूरे विरक्त और धन, मान, मर्यादा की इच्छा से कोसों दूर थे। एक बार अकबर बादशाह के बुलाने पर इन्हें फतहपुर सीकरी जाना पड़ा जहाँ इनका बड़ा सम्मान हुआ। पर इसका इन्हें बराबर खेद ही रहा, जैसा कि इस पद से व्यंजित होता है: संतन को कहा सीकरी सो काम ? आवत जात पनहियाँ टूटी, बिसरि गयो हरि नाम जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम. इनका कोई ग्रंथ न तो प्रसिद्ध है और न अब तक मिला है।

परमानंद दास

यह वल्लभाचार्य जी के शिष्य और अष्टछाप में थे। सन् 1551 ई. के आसपास वर्तमान थे। इनका निवास स्थान कन्नौज था। इसी से ये कान्यकुब्ज अनुमान किए जाते हैं। अत्यंत तन्मयता के साथ बड़ा ही सरल कविता करते थे। कहते हैं कि इनके किसी एक पद को सुनकर आचार्यजी कई दिनों तक बदन की सुध भूले रहे। इनके फुटकर पद कृष्णभक्तों के मुँह से प्राय: सुनने को आते थे।

कृतियाँ

1. परमानंदसागर

कृष्णदास

जन्मना शूद्र होते हुए भी वल्लभाचार्य के कृपा-पात्र थे और मंदिर के प्रधान हो गए थे। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' के अनुसार एक बार गोसाई विट्ठलनाथजी से किसी बात पर अप्रसन्न होकर इन्होंने उनकी ड्योढ़ी बंद कर दी। इस पर गोसाई के कृपापात्र महाराज बीरबल ने इन्हें कैद कर लिया। पीछे गोसाई जी इस बात से बड़े दुखी हुए और उनको कारागार से मुक्त कराके प्रधान के पद पर फिर ज्यों का त्यों प्रतिष्ठित कर दिया। इन्होंने भी और सब कृष्ण भक्तों के समान राधाकृष्ण के प्रेम को लेकर शृंगार रस के ही पद गाए हैं। 'जुगलमान चरित' नामक इनका एक छोटा सा ग्रंथ मिलता है। इसके अतिरिक्त इनके बनाए दो ग्रंथ और कहे जाते हैं-भ्रमरगीत और प्रेमतत्त्व निरूपण. इनका कविताकाल सन् 1550 के आगे पीछे माना जाता है।

कृतियाँ

1. जुगलमान चरित
2. भ्रमरगीत
3. प्रेमतत्त्व निरूपण

श्रीभट्ट

ये निंबार्क सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान केशव काश्मीरी के प्रधान शिष्य थे। इनका जन्म सन् 1538 ई. में अनुमान किया जाता है। इनकी कविता सीधी-सादी और चलती भाषा में है। पद भी प्रायः छोटे-छोटे हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि जब ये तन्मय होकर अपने पद गाने लगते थे तब कभी-कभी उस पद के ध्यानानुरूप इन्हें भगवान की झलक प्रत्यक्ष मिल जाती थी।

कृतियाँ-

1. युगल शतक
2. आदि बानी

सूरदास मदनमोहन

ये अकबर के समय में संडीले के अमीन थे। ये जो कुछ पास में आता प्रायः साधुओं की सेवा में लगा दिया करते थे। कहते हैं कि एक बार संडीले तहसील की मालगुजारी के कई लाख रूपये सरकारी खजाने में आए थे। इन्होंने सब का सब साधुओं को खिलापिला दिया और शाही खजाने में कंकड़-पत्थरों से भरे संदूक भेज दिए जिनके भीतर कागज के चिट पर यह लिख कर रख दिएरू तेरह लाख सँडीले आए, सब साधुन मिलि गटके । सूरदास मदनमोहन आधी रातहिं सटके ।। और आधी रात को उठकर कहीं भाग गए। बादशाह ने इनका अपराध क्षमा करके इन्हें फिर बुलाया, पर ये विरक्त होकर वृंदावन में रहने लगे। इनकी कविता इतनी सरस होती थी कि इनके बनाए बहुत से पद सूरसागर में मिल गए। इनकी कोई पुस्तक प्रसिद्ध नहीं। इनका रचनाकाल सन् 1533 ई. और 1543 ई. के बीच अनुमान किया जाता है।

नंददास

नंददास 16 वीं शती के अंतिम चरण में विद्यमान थे। इनके विषय में 'भक्तमाल' में लिखा है: 'चन्द्रहास-अग्रज सुहृद परम प्रेम में पगे' इससे इतना ही सूचित होता है कि इनके भाई का नाम चंद्रहास था। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार ये तुलसीदास के भाई थे, किन्तु अब यह बात प्रामाणिक नहीं मानी जाती. उसी वार्ता में यह भी लिखा है कि द्वारका जाते हुए नंददास सिंधुनद ग्राम में एक रूपवती खत्रानी पर आसक्त हो गए। ये उस स्त्री के घर में चारो ओर चक्कर लगाया करते थे। घरवाले हैरान होकर कुछ दिनों के लिए गोकुल चले गए। वहाँ भी वे जा पहुँचे। अंत में वहीं पर गोसाईं विट्ठलनाथ जी के सदुपदेश से इनका मोह छूटा और ये अनन्य भक्त हो गए। इस कथा में ऐतिहासिक तथ्य केवल इतना ही है कि इन्होंने गोसाईं विट्ठलनाथ जी से दीक्षा ली। इनके काव्य के विषय में यह उक्ति प्रसिद्ध है: 'और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया' इससे प्रकट होता है कि इनके काव्य का कला-पक्ष महत्त्वपूर्ण है। इनकी रचना बड़ी सरस और मधुर है। इनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'रासपंचाध्यायी' है, जो रोला छंदों में लिखी गई है। इसमें जैसा कि नाम से ही प्रकट है, कृष्ण की रासलीला का अनुप्रासादियुक्त साहित्यिक भाषा में विस्तार के साथ वर्णन है।

कृतियाँ

पद्य रचना
रासपंचाध्यायी
भागवत दशम स्कंध
रूक्मिणीमंगल
सिद्धांत पंचाध्यायी
रूपमंजरी
मानमंजरी
विरहमंजरी
नामचिंतामणिमाला
अनेकार्थनाममाला
दानलीला
मानलीला
अनेकार्थमंजरी

ज्ञानमंजरी
श्यामसगाई
भ्रमरगीत
सुदामाचरित्र
गद्यरचना
हितोपदेश
नासिकेतपुराण

चैतन्य महाप्रभु

चैतन्य महाप्रभु भक्तिकाल के प्रमुख कवियों में से एक हैं। इन्होंने वैष्णवों के गौड़ीय संप्रदाय की आधारशिला रखी। भजन गायकी की एक नयी शैली को जन्म दिया तथा राजनैतिक अस्थिरता के दिनों में हिंदू मुस्लिम एकता की सद्भावना को बल दिया, जाति-पांत, ऊंच-नीच की भावना को दूर करने की शिक्षा दी तथा विलुप्त वृंदावन को फिर से बसाया और अपने जीवन का अंतिम भाग वहीं व्यतीत किया।

चैतन्य महाप्रभु का जन्म सन् 1486 की फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा को पश्चिम बंगाल के नवद्वीप (नादिया) नामक उस गांव में हुआ, जिसे अब मायापुर कहा जाता है। यद्यपि बाल्यावस्था में इनका नाम विश्वंभर था, परंतु सभी इन्हें निमाई कहकर पुकारते थे। गौरवर्ण का होने के कारण लोग इन्हें गौरांग, गौर हरि, गौर सुंदर आदि भी कहते थे। चैतन्य महाप्रभु के द्वारा गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय की आधारशिला रखी गई। उनके द्वारा प्रारंभ किए गए महामंत्र नाम संकीर्तन का अत्यंत व्यापक व सकारात्मक प्रभाव आज पश्चिमी जगत तक में है। इनके पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र व मां का नाम शचि देवी था। निमाई बचपन से ही विलक्षण प्रतिभा संपन्न थे। साथ ही, अत्यंत सरल, सुंदर व भावुक भी थे। इनके द्वारा की गई लीलाओं को देखकर हर कोई हतप्रभ हो जाता था। बहुत कम उम्र में ही निमाई न्याय व व्याकरण में पारंगत हो गए थे। इन्होंने कुछ समय तक नादिया में विद्यालय स्थापित करके अध्यापन कार्य भी किया। निमाई बाल्यावस्था से ही भगवद्चिंतन में लीन रहकर राम व कृष्ण का स्तुति गान करने लगे थे। 15-16 वर्ष की अवस्था में इनका विवाह लक्ष्मीप्रिया के साथ हुआ। सन् 1505 में सर्प दंश से पत्नी की मृत्यु हो गई। वंश चलाने की विवशता के कारण इनका दूसरा विवाह नवद्वीप के राजपंडित सनातन की पुत्री विष्णुप्रिया के साथ हुआ।

जब ये किशोरावस्था में थे, तभी इनके पिता का निधन हो गया। सन् 1509 में जब ये अपने पिता का श्राद्ध करने गया गए, तब वहां इनकी मुलाकात ईश्वरपुरी नामक संत से हुई। उन्होंने निमाई से कृष्ण-कृष्ण रटने को कहा। तभी से इनका सारा जीवन बदल गया और ये हर समय भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति में लीन रहने लगे।

भगवान श्रीकृष्ण के प्रति इनकी अनन्य निष्ठा व विश्वास के कारण इनके असंख्य अनुयायी हो गए। सर्वप्रथम नित्यानंद प्रभु व अद्वैताचार्य महाराज इनके शिष्य बने। इन दोनों ने निमाई के भक्ति आंदोलन को तीव्र गति प्रदान की। निमाई ने अपने इन दोनों शिष्यों के सहयोग से ढोलक, मृदंग, झाँझ, मंजीरे आदि वाद्य यंत्र बजाकर व उच्च स्वर में नाच-गाकर हरि नाम संकीर्तन करना प्रारंभ किया। 'हरे-कृष्ण, हरे-कृष्ण, कृष्ण-कृष्ण, हरे-हरे। हरे-राम, हरे-राम, राम-राम, हरे-हरे नामक अठारह शब्दीय कीर्तन महामंत्र निमाई की ही देन है। जब ये कीर्तन करते थे, तो लगता था मानो ईश्वर का आहवान कर रहे हैं। सन् 1510 में संत प्रवर श्री पाद केशव भारती से संन्यास की दीक्षा लेने के बाद निमाई का नाम कृष्ण चैतन्य देव हो गया। बाद में ये चैतन्य महाप्रभु के नाम से प्रख्यात हुए। चैतन्य महाप्रभु संन्यास लेने के बाद नीलांचल चले गए। इसके बाद दक्षिण भारत के श्री रंग क्षेत्र व सेतु बंध आदि स्थानों पर भी रहे। इन्होंने देश के कोने-कोने में जाकर हरिनाम की महत्ता का प्रचार किया। सन् 1515 में वृंदावन आए। यहां इन्होंने इमली तला और अक्रूर घाट पर निवास किया। वृंदावन में रहकर इन्होंने प्राचीन श्रीधाम वृंदावन की महत्ता प्रतिपादित कर लोगों की सुप्त भक्ति भावना को जागृत किया। यहां से फिर ये प्रयाग चले गए। इन्होंने काशी, हरिद्वार, शृंगेरी (कर्नाटक), कामकोटि पीठ (तमिलनाडु), द्वारिका, मथुरा आदि स्थानों पर रहकर भगवद्नाम संकीर्तन का प्रचार-प्रसार किया।

चैतन्य महाप्रभु ने अपने जीवन के अंतिम वर्ष जगन्नाथ पुरी में रहकर बिताए। यहीं पर सन् 1533 में 47 वर्ष की अल्पायु में रथयात्रा के दिन उनका देहांत हो गया। चैतन्य महाप्रभु ने लोगों की असीम लोकप्रियता और स्नेह प्राप्त किया कहते हैं कि उनकी अद्भुत भगवद्भक्ति देखकर जगन्नाथ पुरी के राजा तक उनके श्रीचरणों में नत हो जाते थे। बंगाल के एक शासक के मंत्री रूपगोस्वामी तो मंत्री पद त्यागकर चैतन्य महाप्रभु के शरणागत हो गए थे। उन्होंने कुष्ठ रोगियों व दलितों आदि को अपने गले लगाकर उनकी अनन्य सेवा की। वे सदैव हिंदू-मुस्लिम एकता का संदेश देते रहे। साथ ही, उन्होंने लोगों को

पारस्परिक सद्भावना जागृत करने की प्रेरणा दी। वस्तुतः उन्होंने जातिगत भेदभाव से ऊपर उठकर समाज को मानवता के सूत्र में पिरोया और भक्ति का अमृत पिलाया। वे गौड़ीय संप्रदाय के प्रथम आचार्य माने जाते हैं।

चैतन्य महाप्रभु के द्वारा कई ग्रंथ भी रचे गए। उन्होंने संस्कृत भाषा में भी तमाम रचनाएं की। उनका मार्ग प्रेम व भक्ति का था। वे नारद जी की भक्ति से अत्यंत प्रभावित थे, क्योंकि नारद जी सदैव 'नारायण-नारायण जपते रहते थे। उन्होंने विश्व मानव को एक सूत्र में पिरोते हुए यह समझाया कि ईश्वर एक है। उन्होंने लोगों को यह मुक्ति सूत्र भी दिया-

'कृष्ण केशव, कृष्ण केशव, कृष्ण केशव, पाहियाम। राम राघव, राम राघव, राम राघव, रक्षयाम्।

हिंदू धर्म में नाम जप को ही वैष्णव धर्म माना गया है और भगवान श्रीकृष्ण को प्रधानता दी गई है। चैतन्य ने इन्हीं की उपासना की और नवद्वीप से अपने छह प्रमुख अनुयायियों (षड गोस्वामियों), गोपाल भट्ट गोस्वामी, रघुनाथ भट्ट गोस्वामी, सनातन गोस्वामी, रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी, रघुनाथ दास गोस्वामी को वृंदावन भेजकर वहां गोविंददेव मंदिर, गोपीनाथ मंदिर, मदन मोहन मंदिर, राधा रमण मंदिर, राधा दामोदर मंदिर, राधा 'श्यामसुंदर मंदिर और गोकुलानंद मंदिर नामक सप्त देवालयों की आधारशिला रखवाई।

लोग चैतन्य को भगवान श्री कृष्ण का अवतार मानते हैं।

ईश्वर के प्रति जो परम प्रेम है उसे भक्ति कहते हैं। नारद भक्ति - सूत्र में कहा गया है कि ' परमात्मा ' के प्रति परम प्रेम को भक्ति कहते हैं। भक्ति शब्द की निष्पति ' भज ' धातु से हुई है जिसका अर्थ है ' सेवा करना ' भक्ति में ईश्वर का भजन , पूजन , अर्पण आदि शामिल होता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास का वर्गीकरण करने पर द्वितीय चरण को भक्तिकाल की संज्ञा दी गई है। तथा इसे पुनः दो भागों में विभाजित किया गया है, पूर्व मध्यकाल एवं उत्तर मध्यकाल-पूर्व मध्यकाल को ही भक्तिकाल कहा जाता है। इस काल में मुगल सल्तनत भारत में स्थापित हो चुकी थी। मुस्लिम शासकों के अत्याचारों से आहत होकर हिन्दू जनता ने प्रभु की शरण में अपने आपको सुरक्षित महसूस किया और भक्ति मार्ग का अनुसरण किया। भक्ति आन्दोलन में नये विचारो का जन्म हुआ इसने भारतीय संस्कृति एवं समाज को एक दिशा दी। इस आन्दोलन ने एक और माननीय भावनाओं को उभारा , वहीं व्यक्तिवादी विचारधारा को सशक्त बनाया जिसमें भक्ति के

माध्यम से ईश्वर से सम्पर्क स्थापित करके सदाचार , मानवता , भक्ति और प्रेम जरूरी समझा गया।

भारतीय इतिहास का मध्यकाल कई मायनों में परिवर्तनों का काल रहा हैं। यह परिवर्तन राजनैतिक , सामाजिक , सांस्कृति , कलाओं और साहित्य इत्यादि में देखे जा सकते है। जिस समय मुसलमान भारत पर राज्य कर रहे थे , उस वक्त उन्होंने हिन्दू धर्म पर इस्लाम मानने का दबाव बनाया। इसी कारण की वजह से हिन्दुओं को धार्मिक रूप से आघात करने की कोशिश की और हिन्दुओं को भक्ति आंदोलन से हिम्मत मिली। भक्ति – काल के उदय की व्याख्या के प्रंसग में रामचन्द्र शुक्ल जी लिखते है , देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव , गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया उनके सामने ही उसके देवमन्दिर गिराये जाते थे , देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थी और पूज्य पुरूषों का अपमान होता था और वे कुछ नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत वे न तो गा सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया जब परस्पर लड़ने वाले स्वंतत्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छायी रही अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था। '' इस कथन से हमारे सामने राजनैतिक परिस्थितियाँ तो स्पष्ट हो जाती है। साहित्य का अध्ययन करने पर हमें यह पता चलता हैं कि आदिकाल में भी नाथों और सिद्धो के अंतर्गत यह दिखाया गया है कि नाथ पंथ ईश्वर को ' शून्य ' रूप में मानते है जिसे वे ' अलख निरंजन ' कहते हैं। नाथ पंथियों ने वैराग्य से मुक्ति सम्भव मानी है और वैराग्य गुरू की कृपा से मिलता है इसलिए गुरू दीक्षा तथा गुरूमंत्र का नाथ सम्प्रदाय में विशेष महत्त्व है। सिद्धों की साधनों को गुहा साधना कहा गया है। इनका मानना था कि ईश्वर को प्राप्त करना सबके बस की बात नहीं है। वे जादू – टोने में ही जनता को उलझा देते थे।

ऐसे समय में भक्त कवि जनता के हृदय को संभालने व लीन रखने के लिए भक्ति भाव को जगाने का प्रयास करने लगे।

स्वामी माधवाचार्य ने ' ब्राह्म सम्प्रदाय ' नाम से द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाया जिसकी ओर लोगों का झुकाव हुआ। इसके साथ ही द्वैताद्वैतवाद के संस्थापक निम्बार्काचार्य ने विष्णु के दूसरे अवतार श्री कृष्ण की प्रतिष्ठा विष्णु

के स्थान पर की। वल्लभाचार्य जी ने भी कृष्ण भक्ति के प्रसार का कार्य किया देश के पूर्व भाग में प्रचलित कृष्ण - राधा (जयदेव , विद्यापति) की प्रेम कथाओं को नवीन रूप प्रदान किया। जैन धर्म का प्रचार गुजरात से काठियावाड़ तक रहा है। हिन्दू धर्म इस्लाम के संपर्क से मात्र व्यक्तिगत साधना का केन्द्र न रहकर सामूहिक साधना का रूप धारण करने लगा था और उसमें आन्दोलनकारी प्रवृतियाँ उभरने लगी थी। सभी धर्मो में युगानुरूप परिस्थिति के अनुसार पंथो , सम्प्रदायो और उपसंप्रदायों तक की सृष्टि होने लगी , जिसके माध्यम से भक्ति आंदोलन का सूत्रपात हुआ।

भक्ति आंदोलन के उदय संबधी विविध धारणाएँ

भक्ति आंदोलन के उदय की व्याख्या साहित्यकारों तथा इतिहासकारों ने अपने - अपने ढंग से की है मगर भक्ति आंदोलन के सदंर्भ में यह माना है कि सबसे पहले भक्ति का उदय दक्षिण के आलवर संतो के यहाँ उत्पन्न हुई। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि - ' भक्ति द्राविड़ी ऊपजी लाए रामानन्द ' भक्ति का जो स्त्रोत दक्षिण भारत से धीरे - धीरे उतर भारत की ओर आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला। रामानन्द रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में हुए और उन्होंने रामानन्दी सम्प्रदाय खड़ा कर दिया तथा विष्णु के अवतार राम की उपासना पर बल दिया इन सभी का यह मूल उद्देश्य ज्ञान के साथ भक्ति का तादात्मय स्थापित करना था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी व रामचन्द्र शुक्ल भक्ति के उदय की व्याख्या अलग - 2 रूपों में करते हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भक्ति आन्दोलन का प्रारम्भ हिन्दुओं की पराजित मनोवृति को नहीं मानते। वे कहते हैं :- '' मुसलमानो के अत्याचार से यदि भक्ति की भावधारा का उमड़ना था तो पहले सिन्ध में और फिर उसे उतर भारत में प्रकट होना चाहिए था पर हुई दक्षिण में। ''

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने इतिहास ग्रंथ ' हिन्दी साहित्य का इतिहास ' में लिखते हैं कि " जब मुस्लिम साम्राज्य दूर दूर तक स्थापित हो गया , तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य नहीं रह गए इतने भारी उलट - फेर के पीछे हिंदू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रहीं , अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान की भक्ति और करूणा की और ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था। ''

रामानुज मानते थे कि ईश्वर की भक्ति सभी वर्गो को समान रूप से करनी चाहिये लेकिन ईश्वर की प्राप्ति तभी हो सकती है जब ईश्वर का सच्चे मन से ध्यान किया जाये।

उतर भारत का भक्ति आंदोलन दक्षिण से अविरल धरा के रूप में इतिहास के विकास - क्रम में उतर भारत में फैला। इस आंदोलन से राजनीतिक , सामाजिक , आर्थिक सभी परिस्थितियाँ प्रभावित हुई। आज हम राष्ट्र एकता के रूप में इसे देख सकते हैं।

भक्ति आंदोलन के उदय संबंधी धाराएं

इस काल में ईश्वर के दो रूप माने गए हैं - सगुण एवं निर्गुण। जब परमात्मा को निराकार , अज , अनादि , सर्वव्यापी , अगोचर सूक्ष्म मानकर उसकी विवेचना की जाती है तब उसे निर्गुण ब्रह्म कहा जाता है और जब वही ब्रह्म सगुण साकार रूप धारण करके पर शरीर ग्रहण कर नाना प्रकार के कृत्य करता है तब उसे सगुण परमात्मा के रूप में जाना जाता है। सगुण तथा निर्गुण धाराएं सामानांतर चलती रही। आगे चलकर निर्गुण धारा दो शाखाओं में बंट गई - एक तो ज्ञानाश्रयी शाखा तथा दूसरी प्रेममार्गी शाखा। ज्ञानाश्रयी शाखा के अन्तर्गत रामकाव्य और कृष्णकाव्य हैं। ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियो को संत कवि कहा जाता है इस शाखा के प्रतिनिधि कवि कबीर हैं। वही दूसरी ओर प्रेममार्गी शाखा को सूफी शाखा के नाम से जाना जाता है। इस काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि जायसी हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्त के अनुसार

''सगुणोपासक भक्त भगवान के सगुण और निर्गुण दोनों रूप मानता है , पर भक्ति के लिए सगुण रूप ही स्वीकार करता है , निर्गुण रूप ज्ञानमार्गियों के लिए छोड़ देता हैं। ''

भक्ति साहित्य में भले ही निर्गुण - सगुण का भेद चला हो लेकिन मध्ययुगीन कवियों ने इस भेद को उस तरह से बढ़ने नहीं दिया जिससे इनके मानने वालों में वैमनष्य हो।

तुलसीदास जी ने कहा कि ' अगुनहि सगुनहि नहीं कुछ भेदा ' इस प्रकार हम देखते है कि सगुण और निर्गुण उपासक दोनों में प्रेम और मानवता का धागा जुड़ा हुआ दिखाई देता है। भक्ति आंदोलन के उद्‌भव के कारण हिन्दू समाज के

विभिन्न घटकों को संगठित करने का कार्य किया तत्कालीन परिस्थितियों में हिन्दू तथा मुसलमान निर्गुण तथा सगुण धाराओं के माध्यम से भी भेद भुलाकर मानवता के उदात्त मूल्यों की स्थापना में लगे हुए थे।

भक्ति आंदोलन परम्परा

भक्ति आंदोलन की परम्परा में चैतन्य महाप्रभु , रामानुचार्य , संत कबीर , संत तुकाराम आदि शंकराचार्य और संत रविदास ने मुखरता प्रदान की। चैतन्य महाप्रभु भक्तिकाल के प्रमुख कवियों में गिनेजाते हैं। इन्होंने वैष्णवों के गौड़ीय सम्प्रदाय की आधारशिला रखी तथा भजन गायकी की एक नयी शैली का विकास किया। इनके विचारों का सार यह है कि: - श्री कृष्ण ही एकमात्र देव है वे मूर्तिमान सौन्दर्य हैं , प्रेमपरक है। उनकी तीन शक्तियाँ - परम ब्रह्म शक्ति , माया शक्ति और विलास शक्ति है। श्री रामानुचार्य के दर्शन में सता या परमसत् के सम्बन्ध में तीन स्तर माने गए हैं ब्रह्म अर्थात ईश्वर , चित् अर्थत आत्मा तथा अचित अर्थात प्रकृति वस्तुत: ये चित् , अचित् ईश्वर से पृथक नहीं है बल्कि ये विशिष्ट रूप से ब्रह्म का ही स्वरूप है। वही दूसरी ओर विद्यमान हैं। कबीर के राम इस्लाम के एकेश्वरवादी एकसत्तावादी खुदा भी नहीं हैं। इस्लाम में खुदा या अल्लाह को समस्तजगत एवं जीवों से भिन्न एवं परम समर्थ माना जाता है। कबीर ने हिन्दू - मुसलमान का भेद मिटा कर हिन्दू - भक्तों तथा मुसलमान फकीरों का सत्संग किया और दोनों की अच्छी बातों को हृदयंगम कर लिया।

भक्ति आंदोलन के सभी संतो व कवियों ने उस समय समाज में फैली बुराइयों को रोकने का प्रयत्न किया और शैवों तथा वैष्णवों के बीच बढ़ते हुए विद्वेष को खत्म किया और लोक धर्म व भक्ति साधना को सम्मिलित करके जनता के सामने लाए।

निष्कर्ष

भक्ति के उद्भव एवं विकास के समय जो कुछ भी भारतीय साहित्य , भारतीय संस्कृति तथा इतिहास को प्राप्त हुआ , वह स्वयं में अद्भुत , अनुपम एवं दुर्लभ है। उस युग के संत एवं महात्माओं ने अपने धार्मिक विचारों , सिद्धान्तों और उपदेशों से सामान्य जनता सामाजिक व धार्मिक एकता का न केवल पाठ

पढ़ाया , वरन उन्हें ईश्वर प्राप्ति एवं धर्म का सच्चा मार्ग दिखलाया। तत्कालीन समय से लेकर आज तक उन संतों की विचारधारा एवं आदर्श ने लोगों का पथ प्रदर्शन किया है। उन संतों और महात्माओं के सच्चे अनुयायी आज भी उनके बताये हुए मार्ग का अनुसरण करते हुए अपने जीवन को सार्थक व पूर्ण बना रहे है तथा मानव धर्म का प्रचार – प्रसार कर रहे हैं।

5

रीति काल

सन् 1700 ई.(1757 विक्रमी संवत) के आस-पास हिंदी कविता में एक नया मोड़ आया। इसे विशेषत: तात्कालिक दरबारी संस्कृति और संस्कृत साहित्य से उत्तेजना मिली। संस्कृत साहित्यशास्त्र के कतिपय अंशों ने उसे शास्त्रीय अनुशासन की ओर प्रवृत्त किया। हिंदी में 'रीति' या 'काव्यरीति' शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र के लिए हुआ था। इसलिए काव्यशास्त्रबद्ध सामान्य सृजनप्रवृत्ति और रस, अलंकार आदि के निरूपक बहुसंख्यक लक्षणग्रंथों को ध्यान में रखते हुए इस समय के काव्य को 'रीतिकाव्य' कहा गया। इस काव्य की शृंगारी प्रवृत्तियों की पुरानी परंपरा के स्पष्ट संकेत संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, फारसी और हिंदी के आदिकाव्य तथा कृष्णकाव्य की शृंगारी प्रवृत्तियों में मिलते हैं।

इस काल में कई कवि ऐसे हुए हैं, जो आचार्य भी थे और जिन्होंने विविध काव्यांगों के लक्षण देने वाले ग्रंथ भी लिखे। इस युग में शृंगार की प्रधानता रही। यह युग मुक्तक-रचना का युग रहा। मुख्यतया कवित्त, सवैये और दोहे इस युग में लिखे गए। राजा-महाराजा और आश्रयदाता अब केवल काव्यों को पढ़ और सुनकर ही संतुष्ट नहीं होते थे, बल्कि अब वह स्वयं काव्य रचना करना चाहते थे। इस समय पर कवियों ने आचार्य का कर्तव्य निभाया।

कवि राजाश्रित होते थे इसलिए इस युग की कविता अधिकतर दरबारी रही जिसके फलस्वरूप इसमें चमत्कारपूर्ण व्यंजना की विशेष मात्रा तो मिलती है परंतु कविता साधारण जनता से विमुख भी हो गई।

रीतिकाल के अधिकांश कवि दरबारी थे। केशवदास (ओरछा), प्रताप सिंह (चरखारी), बिहारी (जयपुर, आमेर), मतिराम (बूँदी), भूषण (पन्ना), चिंतामणि (नागपुर), देव (पिहानी), भिखारीदास (प्रतापगढ़-अवध), रघुनाथ (काशी), बेनी (किशनगढ़), गंग (दिल्ली), टीकाराम (बड़ौदा), ग्वाल (पंजाब), चन्द्रशेखर बाजपेई (पटियाला), हरनाम (कपूरथला), कुलपति मिश्र (जयपुर), नेवाज (पन्ना), सुरति मिश्र (दिल्ली), कवीन्द्र उदयनाथ (अमेठी), ऋषिनाथ (काशी), रतन कवि (श्रीनगर-गढ़वाल), बेनी बन्दीजन (अवध), बेनी प्रवीन (लखनऊ), ब्रह्मदत्त (काशी), ठाकुर बुन्देलखण्डी (जैतपुर), बोधा (पन्ना), गुमान मिश्र (पिहानी) आदि और अनेक कवि तो राजा ही थे, जैसे- महाराज जसवन्त सिंह (तिर्वा), भगवन्त राय खीची, भूपति, रसनिधि (दतिया के जमींदार), महाराज विश्वनाथ, द्विजदेव (महाराज मानसिंह)।

रीतिकाव्य रचना का आरंभ एक संस्कृतज्ञ ने किया। ये थे आचार्य केशवदास, जिनकी सर्वप्रसिद्ध रचनाएँ कविप्रिया, रसिकप्रिया और रामचंद्रिका हैं। कविप्रिया में अलंकार और रसिकप्रिया में रस का सोदाहरण निरूपण है। लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्तसवैए में हैं। लक्षण-लक्ष्य-ग्रंथों की यही परंपरा रीतिकाव्य में विकसित हुई। रामचंद्रिका केशव का प्रबंधकाव्य है जिसमें भक्ति की तन्मयता के स्थान पर एक सजग कलाकार की प्रखर कलाचेतना प्रस्फुटित हुई। केशव के कई दशक बाद चिंतामणि से लेकर अठारहवीं सदी तक हिंदी में रीतिकाव्य का अजस्र स्रोत प्रवाहित हुआ जिसमें नर-नारी-जीवन के रमणीय पक्षों और तत्संबंधी सरस संवेदनाओं की अत्यंत कलात्मक अभिव्यक्ति व्यापक रूप में हुई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकाव्य का शुरूआत केशवदास से न मानकर चिन्तामणि से माना है। उनका कहना है कि - 'केशवदास जी ने काव्य के सब अंगो का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। यह नि:सन्देह है कि काव्यरीति का सम्यक समावेश पहले पहल ऑ.केशव ने ही किया। हिन्दी में रीतिग्रन्थों की अविरल और अखंडित परम्परा का प्रवाह केशव की 'कविप्रिया' के प्राय:पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर केशव के आदर्श को लेकर नही।' वे कहते हैं कि-'हिन्दी रीतिग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिवेदी से चली , अत:रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए।'

परिचय

रीतिकाल के कवि राजाओं और रईसों के आश्रय में रहते थे। वहाँ मनोरंजन और कलाविलास का वातावरण स्वाभाविक था। बौद्धिक आनंद का मुख्य साधन

वहाँ उक्तिवैचित्र्य समझा जाता था। ऐसे वातावरण में लिखा गया साहित्य अधिकतर शृंगारमूलक और कलावैचित्र्य से युक्त था। पर इसी समय प्रेम के स्वच्छंद गायक भी हुए जिन्होंने प्रेम की गहराइयों का स्पर्श किया है। मात्रा और काव्यगुण दोनों ही दृष्टियों से इस समय का नर-नारी-प्रेम और सौंदर्य की मार्मिक व्यंजना करनेवाला काव्यसाहित्य महत्त्वपूर्ण है।

इस समय वीरकाव्य भी लिखा गया। मुगल शासक औरंगजेब की कट्टर सांप्रदायिकता और आक्रामक राजनीति की टकराहट से इस काल में जो विक्षोभ की स्थितियाँ आई उन्होंने कुछ कवियों को वीरकाव्य के सृजन की भी प्रेरणा दी। ऐसे कवियों में भूषण प्रमुख हैं जिन्होंने रीतिशैली को अपनाते हुए भी वीरों के पराक्रम का ओजस्वी वर्णन किया। इस समय नीति, वैराग्य और भक्ति से संबंधित काव्य भी लिखा गया। अनेक प्रबंधकाव्य भी निर्मित हुए। इधर के शोधकार्य में इस समय की शृंगारेतर रचनाएँ और प्रबंधकाव्य प्रचुर परिमाण में मिल रहे हैं। इसलिए रीतिकालीन काव्य को नितांत एकांगी और एकरूप समझना उचित नहीं है। इस समय के काव्य में पूर्ववर्ती कालों की सभी प्रवृत्तियाँ सक्रिय हैं। यह प्रधान धारा शृंगारकाव्य की है, जो इस समय की काव्यसंपत्ति का वास्तविक निदर्शक मानी जाती रही है।शृंगारी काव्य तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है। पहला वर्ग रीतिबद्ध कवियों का है जिसके प्रतिनिधि केशव, चिंतामणि, भिखारीदास, देव, मतिराम और पद्माकर आदि हैं। इन कवियों ने दोहों में रस, अलंकार और नायिका के लक्षण देकर कवित्त सवैए में प्रेम और सौंदर्य की कलापूर्ण मार्मिक व्यंजना की है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में निरूपित शास्त्रीय चर्चा का अनुसरण मात्र इनमें अधिक है। पर कुछ ने थोड़ी मौलिकता भी दिखाई है, जैसे भिखारीदास का हिंदी छंदों का निरूपण। दूसरा वर्ग रीतिसिद्ध कवियों का है। इन कवियों ने लक्षण नहीं निरूपित किए, केवल उनके आधार पर काव्यरचना की। बिहारी इनमें सर्वश्रेष्ठ हैं, जिन्होंने दोहों में अपनी 'सतसई' प्रस्तुत की। विभिन्न मुद्राओंवाले अत्यंत व्यंजक सौंदर्यचित्रों और प्रेम की भावदशाओं का अनुपम अंकन इनके काव्य में मिलता है। तीसरे वर्ग में घनानंद, बोधा, द्विजदेव ठाकुर आदि रीतिमुक्त कवि आते हैं जिन्होंने स्वच्छंद प्रेम की अभिव्यक्ति की है। इनकी रचनाओं में प्रेम की तीव्रता और गहनता की अत्यंत प्रभावशाली व्यंजना हुई है।

रीतिकाव्य मुख्यत: मांसल शृंगार का काव्य है। इसमें नर-नारीजीवन के रमणीय पक्षों का सुंदर उद्घाटन हुआ है। अधिक काव्य मुक्तक शैली में है, पर

प्रबंधकाव्य भी हैं। इन दो सौ वर्षों मेंशृंगारकाव्य का अपूर्व उत्कर्ष हुआ। पर धीरे धीरे रीति की जकड़ बढ़ती गई और हिंदी काव्य का भावक्षेत्र संकीर्ण होता गया। आधुनिक युग तक आते आते इन दोनों कमियों की ओर साहित्यकारों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ।

इतिहास साक्षी है कि अपने पराभव काल में भी यह युग वैभव विकास का था। मुगल दरबार के हरम में पाँच-पाँच हजार रूपसियाँ रहती थीं। मीना बाजार लगते थे, सुरा-सुन्दरी का उन्मुक्त व्यापार होता था। डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं- 'वासना का सागर ऐसे प्रबल वेग से उमड़ रहा था कि शुद्धिवाद सम्राट के सभी निषेध प्रयत्न उसमें बह गये। अमीर-उमराव ने उसके निषेध पत्रों को शराब की सुराही में गर्क कर दिया। विलास के अन्य साधन भी प्रचुर मात्रा में थे।' पद्माकर ने एक ही छन्द में तत्कालीन दरबारों की रूपरेखा का अंकन कर दिया है-

रीतिकाल (1658-1857 ई.) हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्यकाल कहलाता है। इस काल के काव्य की प्रमुख धारा का विकास कविता की रीति के आधार पर हुआ। रीतिकाल समृद्धि और विलासिता का काल है। साधना के काल भक्तियुग से यह इसी बात में भिन्नता रखता है कि इसमें कोरी विलासिता ही उपास्य बन गयी, वैराग्यपूर्ण साधना का समादर न रहा। सजाव-शृंगार की एक अदम्य लिप्सा इस युग के साहित्य में प्रतिबिम्बित होती है। रीति-काव्य के विकास में तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वस्तुत: ये परिस्थितियाँ इस प्रकार के काव्य सर्जन के अनुकूल थीं। हिन्दी के रीतिशास्त्र का आधार पूर्ण रूप से संस्कृत काव्यशास्त्र है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दी में रीतिशास्त्र लिखने वाले प्रत्येक लेखक ने संस्कृत काव्यशास्त्र का पूरा अध्ययन किया था या किसी अन्य ग्रन्थ को पूर्णत: हिन्दी में उतारा था।

रीति शब्द की व्याख्या

'रीति' शब्द संस्कृत के काव्यशास्त्रीय 'रीति' शब्द से भिन्न अर्थ रखने वाला है। संस्कृत साहित्य में रीति को 'काव्य की आत्मा' मानने वाला एक सिद्धान्त है, जिसका प्रतिपादन आचार्य वामन ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकारसूत्र' में किया था- 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। रीति काव्य की आत्मा है और काव्य की श्रेष्ठता की कसौटी रीति है, यह मान्यता इस सिद्धान्त की है। वैदर्भी, पांचाली, गौड़ी, लाटी रीतियाँ हैं। रीति का आधार गुण है। संस्कृत की रीति सम्बन्धी यह

धारणा हिन्दी काव्यशास्त्र के कुछ ही ग्रन्थों में ग्रहण की गयी है। परन्तु रीति की काव्य रचना की प्रणाली के रूप में ग्रहण करने की अपेक्षा प्रणाली के अनुसार काव्य रचना करना, रीति का अर्थ मान्य हुआ। इस प्रकार रीतिकाल का अर्थ हुआ- 'ऐसा काव्य जो अलंकार, रस, गुण, ध्वनि, नायिका भेद आदि की काव्यशास्त्रीय प्रणालियों के आधार पर रचा गया हो।' इनके लक्षणों के साथ या स्वतंत्र रूप से इनके आधार पर काव्य लिखने की पद्धति ही रीति नाम से विख्यात हुई और यह पद्धति जिस काल में सर्वप्रधान रही, वह काल 'रीतिकाल' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

नामकरण

रीतिकाल 1700 से 1900 तक का काल है। मोटे तौर पर मुगल बादशाह शाहजहाँ के शासन की समाप्ति और औरंगजेब के शासन के प्रारम्भ (1658 ई.) से लेकर प्रथम स्वाधीनता संग्राम (1857 ई.) तक यह काल माना जाता है। इस युग में भक्तिकालीन काव्यधाराओं, जैसे सन्तकाव्य, प्रेमाख्यानकाव्य, रामभक्तिकाव्य, कृष्णभक्तिकाव्य, वीरकाव्य, नीतिकाव्य आदि का विकास हुआ। परन्तु सबसे अधिक महत्त्व उसी रीतिकाव्य को प्राप्त हुआ, जो अलंकारों, रसों, नायिका-भेदों, शब्द-शक्तियों, ध्वनि-भेदों आदि के आधार पर लिखा गया। यह प्रवृत्ति इस युग की नवीन चेतना के रूप में जाग्रत हुई। इस कारण इसी के आधार पर यह नामकरण हुआ।

समृद्धि और विलासिता का काल

रीतिकाल समृद्धि और विलासिता का काल है। साधना के काल भक्तियुग से यह इसी बात में भिन्नता रखता है कि इसमें कोरी विलासिता ही उपास्य बन गयी, वैराग्यपूर्ण साधना का समादर न रहा। नवाब, जागीरदार, मनसबदार, सामन्त-सभी का उद्देश्य विलासिता और समृद्धि का जीवन था। इस समृद्धि के जीवन के लिए साधन किसी भी प्रकार के क्यों न हों, समृद्धि का अर्जन ही सामर्थ्य की सार्थकता थी। ये उच्च वर्ग के लोग कला और कविता के संरक्षक थे। कुछ तो स्वयं कवि एवं कलाकार थे। इस प्रकार इस काव्य में ऐहिक जीवन के सुख-भोग पर बल दिया गया। यह जीवन की क्षणभंगुरता को भुलाकर नहीं, वरन् इसलिए कि इस क्षणभंगुर जीवन में जितने ही दिन सुख-भोग के बीत सकें, उतना ही अच्छा।

शृंगारिक साहित्य

सजाव-शृंगार की एक अदम्य लिप्सा इस युग के साहित्य में प्रतिबिम्बित है। उपासना के लिए जिन राम और कृष्ण का चरित्र भक्तिकाल में अत्युत्कृष्ट रूप में चित्रित हुआ, उनमें भी शृंगारिकता का आरोप कर शृंगारिक स्वरूप के उद्‌घाटन में प्रतिभा को लगाया गया। लोकैषणा का सीमित और भोग्य रूप इस काल के यथार्थवादी धरातल का संकेत करता है। पर यह यथार्थवाद सामाजिक क्रान्ति के बीज बोने वाले आधुनिक यथार्थवाद से भिन्न था। वह कला और कारीगरी का यथार्थ है, चिन्तना, ठेस, असन्तोष की चिनगारी बिखेरने वाला यथार्थ नहीं। इस काल की कलात्मक उपलब्धियों में एकरसता है, विविधता नहीं।

रचनाएँ

हिन्दी रीतिकाल के अन्तर्गत सामान्यत: दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं-

एक तो वे रचनाएँ, जिनमें मुख्यत: काव्यशास्त्र सिद्धान्तों को छन्दोबद्ध किया गया है। स्पष्टत: हिन्दी कवियों का यह प्रयास बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हो सका है। सिद्धान्त प्रतिपादन की दृष्टि से इनका अधिक महत्त्व इस कारण नहीं है कि उनमें मौलिकता का अंश बहुत कम है। इस प्रकार के रीतिग्रन्थ अधिकतर संस्कृत लक्षण ग्रन्थों के अनुवाद हैं या फिर उनकी छाया पर आधारित है। काव्य-रस की दृष्टि से इनका स्तर ऊँचा नहीं है, क्योंकि इन आचार्य कवियों का मुख्य ध्येय काव्य लक्षणों को वर्णित करना था, स्वतंत्र रूप से अनुभूतिपरक काव्य-सर्जन करना नहीं। फिर भी यह अवश्य है कि इन कवियों के उदाहरणों में से कुछ अंश शुद्ध काव्य के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती हैं, जो काव्य लक्षणों को प्रतिपादित करने की दृष्टि से नहीं लिखी गयीं। इस प्रकार के काव्य में भाषा, भाव तथा शैली-सभी का अत्यन्त निखरा हुआ रूप मिलता है। यह लक्षण मुक्त कविता ही वास्तव में रीतिकाल का प्राणतत्त्व है।

साहित्य का विकास

हिन्दी में रीति साहित्य के विकास के अनेक कारण हैं। एक कारण तो संस्कृत में इसकी विशाल परम्परा है। जिस समय भाषा-साहित्य का प्रारम्भ हुआ, उस समय भी संस्कृत में लक्षण या अलंकार-साहित्य की रचना चल रही थी।

दूसरा कारण भाषा-कवियों को प्राप्त राज्याश्रय है। अकबर ने सबसे पहले हिन्दी कवियों को दरबार में आश्रय प्रदान किया और इस प्रकार हिन्दी काव्य को प्रोत्साहन मिला। आगे चलकर अन्य राजाओं ने भी इस प्रवृत्ति का अनुसरण किया। राजपूताना तथा मध्यभारत की रियासतों, ओरछा, नागपुर आदि में भाषा-कवियों को राज्याश्रय प्राप्त हुआ और आगे इन्हें हिन्दू और मुसलमान, दोनों के ही दरबार में प्रतिष्ठा मिली। इसके फलस्वरूप व्यापक रीति-साहित्य की रचना हुई। हिन्दी रीति-साहित्य के विकास का तीसरा कारण भी सामने आता है, जो है कवि और काव्य के स्वतंत्र रूप की प्रतिष्ठा। इस क्षेत्र में केशवदास का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इसी कारण उनको आगे के युग में दीर्घ काल तक इतना सम्मान प्राप्त हुआ।

रीति-काव्य के विकास में तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। वस्तुतः ये परिस्थितियाँ इस प्रकार के काव्य सर्जन के अनुकूल थीं। इस समय की राजनीतिक उथल-पुथल और सत्ता एवं वैभव की क्षणभंगुरता ने जीवन के दो अतिरेकपूर्ण दृष्टिकोण विकसित करने में सहायता दी। एक ने जीवन के प्रति पूर्ण विरक्ति और त्याग का भाव जागरित किया, जबकि दूसरे ने पूर्ण भोग का दृष्टिकोण। ऐहिक काव्य को इस प्रकार का विलासपूर्ण चित्रण करने की प्रेरणा देने में राजनीतिक स्थिति का भी हाथ था।

सामंतवादी समाज

जहाँ तक सामाजिक पक्ष का सम्बन्ध है, मध्ययुग का समाज सामन्तवादी पद्धति पर आधारित था, जिसमें सम्राट शीर्ष पर था, जिसके बाद उसके अन्तर्गत राजा, अधिकारी और सामन्त थे, जिन्हें समाज में विशेष अधिकार और सम्मान प्राप्त थे। कवियों को अपने इन आश्रयदाताओं की रुचि के अनुसार या उन्हें प्रभावित करने वाला काव्य लिखना आवश्यक था, जिससे उनकी ऐहिक सन्तुष्टि होती थी और प्रतिभा का भी कम से कम एक क्षेत्र में विकास होता रहता था। मध्य काल के अमीर और सामन्त अत्यन्त विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। एक राजा, अमीर अथवा सामन्त के यहाँ दो, तीन, चार या इससे भी अधिक रानियाँ रहती थीं, जिनका काम अपने को अलंकृत करके पति को रिझाना और उसके प्रसन्न होने पर विलास-सामग्री की और वृद्धि करते रहने के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। नारी उनके हाथों में भोग-विलास का एक उपकरण मात्र बनकर रह गयी थी। मुगलकालीन भारतीय समाज के जीवन का एक पक्ष

रीतिकाव्य के सौन्दर्य और विलासपूर्ण चित्रण को प्रेरणा देने वाला था। परन्तु इसका दूसरा पक्ष जन साधारण का है। नैतिकता की दृष्टि से जन साधारण का चरित्र इन विलासी दरबारियों की अपेक्षा कहीं अच्छा था, उस पर भक्तिकाल का प्रभाव था।

हिन्दी काव्य पर प्रभाव

मध्ययुगीन मुगल शासन के परिणामस्वरूप कई बातें जीवन में परिव्याप्त हुई दिखती हैं-

प्रथम तो एक केन्द्रीय सुदृढ़ शासक होने से देश के भीतर तुलनात्मक दृष्टि से शान्ति का वायुमण्डल बन गया।

द्वितीय इस शान्ति के अवसर पर जीवन में कला और संस्कृति को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। शिष्ट और सुसंस्कृत व्यवहार का सम्मान बढ़ा।

तीसरी बात यह है कि इसी शान्ति और समृद्धि के परिणामस्वरूप कला-प्रेम और विलासिता की भावना भी प्रखरता से जाग्रत हुई। जीवन में धर्म को, चाहे वह संकीर्ण अर्थ में ही क्यों न हो, प्रमुख स्थान मिला।

चौथी बात यह है कि भाषा-साहित्य को राजाओं और सामन्तों से संरक्षण और आश्रय मिला।

इन सभी बातों का रीतिकालीन हिन्दी काव्य पर प्रभाव परिलक्षित होता है।

मत

रीतिकालीन काव्य के सम्बन्ध में सामान्यत: दो प्रकार के मत हैं-

एक उसे नितान्त हेय और पतनोन्मुख काव्य कहकर उसके प्रति घृणा और द्वेष का भाव जगाता है।

दूसरा उस पर अत्यधिक रीझकर केवल उसे ही काव्य मानता है और अन्य रचनाओं, जैसे भक्ति और आधुनिक काल की कृतियों को उत्तम काव्य में परिगणित नहीं करता।

रीतिकालीन काव्य पर दोष

रीतिकालीन काव्य पर जो दोष लगाये जाते हैं, वे ये हैं-

अश्लीलता

रीतिकालीन समस्त काव्य को दृष्टि में रखकर जब इन दोषों पर विचार करते हैं तो यह कह सकते हैं कि ये समस्त दोष उस युग के काव्य या समस्त रीतिकाव्य पर लागू नहीं किये जा सकते। साथ ही इन दोषों में से अधिकांश प्रत्येक युग के काव्य में किसी न किसी अंश में पाये जाते हैं। जहाँ तक अश्लीलता का प्रश्न है, तो यह भावना वस्तुतः युग सापेक्ष है। एक ही प्रकार का वस्तु रूप एक युग में अथवा एक स्थिति या अवस्था में अश्लील होता है और दूसरे में नहीं। कालिदास तथा अन्य संस्कृत कवियों की रचनाओं में शरीर के कुछ अवयवों का काव्य में वर्णन और उल्लेख उन दिनों अश्लील नहीं समझा जाता था। आज वह अश्लील समझा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अश्लील सापेक्ष पद है। जिन शब्दों (जैसे नीवी, नितम्ब, उरोज आदि) और जिन वर्णनों को आज अश्लील कहते हैं, उन सबकी परम्परा संस्कृत काव्य में गहराई के साथ रही है और बहुत कुछ वहाँ से उस शब्दावली का प्रवेश हिन्दी साहित्य में हुआ है।

समाज को प्रगति प्रदान करने की अक्षमता

दूसरा दोष प्रायः यह लगाया जाता है कि यह काव्य समाज को प्रगति प्रदान करने में समर्थ नहीं है। रीतिकाव्य और कुछ प्रबन्ध काव्यों में भी हमें व्यापक जीवन-दर्शन नहीं मिलता, इसमें कोई सन्देह नहीं। रीतिकाव्य वास्तव में यौवन का मादक, विलासपूर्ण काव्य है। फिर भी उसमें ऐसी उक्तियाँ तथा स्थितियाँ मिलती हैं, जो जीवन का अनुभव और कभी-कभी आदर्श बताती है। अतः आधुनिक दृष्टि से सामाजिक प्रगति को प्रेरणा प्रदान न करते हुए भी, इसमें जीवनोपयोगी तथ्यों का अभाव नहीं है।

आश्रयदाता की प्रशंसा

आश्रयदाता की प्रशंसा में उठी हुई काव्य-स्फूर्ति का सामाजिक तो नहीं, परन्तु ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है। आश्रयदाता की प्रशंसा, कला और काव्य के संरक्षण और आश्रय के कारण भी थी और इसके लिए उनकी उदार भावना सराहनीय है। ये राज्याश्रय, जिनमें रीतिकालीन कलाकृतियों का विकास हुआ, कवि-प्रतिभा को प्रोत्साहित कर सके, साथ ही साथ दूर-दूर से प्रति-भावों को

अपने गुणों और कला-प्रेम के कारण खींच सके। अतः मध्ययुगीन राज्याश्रय ने कला, काव्य के संरक्षण और प्रेरणा के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, यह मानना पड़ेगा।

साहित्य के पक्ष

जैसा कि कहा गया है, रीतिकाल के अन्तर्गत विकसित होने वाले रीति-साहित्य के दो पक्ष हैं-शास्त्रीय और शास्त्रनिरपेक्ष। इन दोनों ही पक्षों के प्रति दृष्टिकोणों में अन्तर है। लगभग एक-सी परिस्थितियों में और कहीं-कहीं तो एक ही कवि द्वारा लिखे जाने पर भी इन दोनों प्रकार की काव्य प्रवृत्तियों में अन्तर, उनके कवियों के दृष्टिकोण के कारण है। पहले वर्ग के कवि अपनी प्रवृत्ति में आचार्य अधिक थे। रीतिग्रन्थ उन्होंने या तो अपनी प्रेरणा से या अधिकांशतः अपने आश्रयदाता की इच्छा से लिखे थे। दूसरे वर्ग के कवि आचार्य रहे हों या न रहे हों, कवि वे अवश्य ही थे।

लेखन परम्परा

रीतिशास्त्र या रीतिकाव्य लिखने की परम्परा हिन्दी को संस्कृत से प्राप्त हुई। संस्कृत साहित्यशास्त्र के पाँच काव्यसिद्धान्तों में से प्रायः सभी का कुछ न कुछ प्रभाव हिन्दी रीतिशास्त्र पर पड़ा है। परन्तु जहाँ तक शास्त्रीय विवेचन का प्रश्न है, वह रीति और वक्रोक्ति-सिद्धान्तों के आधार पर अधिक नहीं लिखा गया। अलंकार, रस और ध्वनि के ही लक्षण और उदाहरण देने का सामान्यतः प्रयत्न देखने को मिलता है। इन सिद्धान्तों का भी विवेचनात्मक निरूपण कम हुआ है। इसके कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि हिन्दी में रीतिशास्त्र लिखने वाले कवियों के पूर्ववर्ती तथा समकालीन संस्कृत के ऐसे विद्वान् आचार्य थे, जिन्होंने काव्यशास्त्र के एक या अधिक अंगों को लेकर उनकी बड़ी ही विस्तृत और स्पष्ट व्याख्या की थी। ऐसी दशा में हिन्दी कवियों के लिए कुछ भी मौलिक कार्य करना कठिन था। फिर हिन्दी में लिखने वाले सभी काव्यशास्त्री संस्कृत साहित्य के पूर्ण विद्वान् नहीं थे। इसके अतिरिक्त जिन लोगों के लिए ये ग्रन्थ निर्मित किये जा रहे थे- अर्थात् कवियों के आश्रयदातागण और सामान्य जनता-वे स्वयं इस प्रकार के विवेचन में रुचि नहीं रखते थे। वे मुख्यतः अपने मनोरंजनार्थ हिन्दी काव्य चाहते थे।

संस्कृत काव्यशास्त्र

हिन्दी के रीतिशास्त्र का आधार पूर्ण रूप से संस्कृत काव्यशास्त्र है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दी में रीतिशास्त्र लिखने वाले प्रत्येक लेखक ने संस्कृत काव्यशास्त्र का पूरा अध्ययन किया था या किसी अन्य ग्रन्थ को पूर्णतः हिन्दी में उतारा था। प्रायः अपनी योजना के अनुकूल हिन्दी रीतिशास्त्र के लेखक ने अपने आधारभूत ग्रन्थ का पठित या श्रुत ज्ञान प्राप्त किया था। इस कार्य के लिए जिन संस्कृत ग्रन्थों का अधिकांश आधार लिया गया है, वे हैं–

भरत का 'नाट्यशास्त्र'
भामह का 'काव्यालंकार'
दण्डी का 'काव्यादर्श'
उद्भट का 'अलंकारसारसंग्रह'
केशव मिश्र का 'अलंकारशेखर'
अमरदेव का 'काव्यकल्पलताकृति'
जयदेव का 'चन्द्रालोक'
अप्पय दीक्षित का 'कुवलयानन्द'
भानुदत्त के 'रसमंजरी', श्रसतरंगिणी'
विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण'

केशवदास का योगदान

हिन्दी के पूर्ववर्ती अपभ्रंश साहित्य में रीतिशास्त्र की परम्परा नहीं रही। इसको प्रेरणा देने वाला संस्कृत साहित्य ही है और इस परम्परा को हिन्दी में डालने वाले प्रमुख व्यक्ति आचार्य केशवदास (1550 से 1610 ई.) हैं। केशव के पूर्व भी कुछ ग्रन्थ लिखे गये हैं, जिन्हें 'रीतिशास्त्र के ग्रन्थ' कह सकते हैं, परन्तु वे विशिष्ट रचनाएँ–सी ही है, प्रेरक प्रयास के रूप में उन्हें ग्रहण नहीं कर सकते। 'शिवसिंहसरोज' के आधार पर जिस ग्रन्थ का उल्लेख साहित्य के इतिहासकार सर्वप्रथम करते हैं, वह पुण्ड या पुष्य कवि है, जिसने 713 ई. के लगभग हिन्दी भाषा में संस्कृत के किसी अलंकारग्रन्थ का अनुवाद किया था, परन्तु वह ग्रन्थ अभी तक किसी के देखने में नहीं आया। यदि वास्तव में उस समय का कोई इस प्रकार का लिखा ग्रन्थ मिल जाता है, तो वह न केवल रीतिशास्त्र का, वरन् हिन्दी का पहला ग्रन्थ ठहरता है। परन्तु अभी तक इस सम्बन्ध की कोई प्रामाणिक सूचना प्राप्त नहीं हो सकी है।

ऐसी अवस्था में रीतिशास्त्र पर प्राप्त सबसे पहला ग्रन्थ कृपाराम का 'हिततरंगिणी' ही है। इसकी रचना सन् 1541 ई. में हुई। यह पाँच तरंगों में विभक्त है और प्राय: भरत के 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर है। इसके पश्चात् 1551 ई. का लिखा मोहनलाल मिश्र का 'शृंगारसागर' ग्रन्थ रस और नायिका-भेद का विवरण प्रस्तुत करता है तथा 'अष्टछाप' के प्रसिद्ध कवि नन्ददास का लिखा 'रसमंजरी' ग्रन्थ भी इसी समय के आस-पास का है। करनेस बन्दीजन के ग्रन्थ भी केशव के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में ही रखे जा सकते हैं। परन्तु इन आचार्यों और ग्रन्थों में कोई भी विशेष महत्त्वपूर्ण प्रभाव रखने वाला नहीं है। अत: कह सकते हैं कि रीतिशास्त्रीय परम्परा डालने वाले पहले आचार्य केशवदास ही हैं।

रस तथा अलंकार का प्रयोग

केशवदास तथा उनके पूर्ववर्ती कवियों का काव्य, प्रवृत्ति की दृष्टि से तो रीतिकाल में आता है, परन्तु कालक्रम की दृष्टि से नहीं। काल विभाजन की दृष्टि से केशव (1550 से 1610 तक), सुन्दर तथा चिन्तामणि (रचनाकाल 1643 ई. के लगभग प्रारम्भ होता है) का स्थान भक्तिकाल के ही अन्तर्गत है। केशवदास के ग्रन्थों में 'कविप्रिया', और 'रसिकप्रिया' हैं। प्रबन्ध रचना की पद्धति पर लिखा गया 'रामचन्द्रिका' हिन्दी महाकाव्यों की पंक्ति में समादृत है। केशव मूलत: अलंकार सम्प्रदाय के अनुयायी थे। रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत सुन्दर तथा चिन्तामणि पूर्व-रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि हैं। चिन्तामणि त्रिपाठी की गणना हिन्दी रीतिशास्त्र के उत्कृष्ट और बड़े आचार्यों में है। इनके प्राप्त ग्रन्थों में से 'पिंगलशृंगारमंजरी', 'कविकुलकल्पतरु' का विशेष महत्त्व है। रीतिकाल के अन्तर्गत जिन कवियों की गणना की जाती है, वे प्रमुखत: संस्कृत के अलंकार, रस तथा ध्वनि सम्प्रदायों के अनुयायी थे। रीति और वक्रोक्ति सिद्धान्त के आधार पर हिन्दी में कुछ विशेष नहीं लिखा गया।

अलंकार सम्प्रदाय

अलंकार सम्प्रदाय के अनुयायियों में केशव के उपरान्त कालक्रम की दृष्टि से जसवन्त सिंह का नाम आता है। इनका सबसे अधिक प्रसिद्ध रीतिग्रन्थ 'भाषाभूषण' रहा है। मतिराम (1617 ई.) की प्रवृत्ति रस की ओर अधिक है और लक्षणकार की अपेक्षा वे कवि अधिक हैं, फिर भी उनके 'अलंकारपंचाशिका'

(1690 ई.) और 'ललितललाम' ग्रन्थ अलंकार पर हैं। भूषण (1613 से 1715 ई.) मतिराम के भाई थे। इन्हें आलंकारिक भी कहना चाहिए। तथापि इनकी उक्तियाँ वीर रस से पूर्ण हैं, फिर भी इनके प्रधान ग्रन्थ 'शिवराजभूषण' (1653 ई.) में अलंकार के ही लक्षण उदाहरण हैं। भूषण महाराज शिवाजी के मित्र तथा उनके दरबारी कवि थे। इस सम्प्रदाय के अन्य प्रमुख कवियों में गोप, रसिक, सुमति, गोविन्द, दूलह (रचनाकाल 1750 से 1755 ई.), बैरीसाल, गोकुलनाथ तथा पद्माकर हैं। पद्माकर (1753 से 1832 ई.) को रीतिकाल का अन्तिम आलंकारिक कवि कहना चाहिए। कवि और रीति ग्रन्थकार, दोनों के ही रूप में पद्माकर का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ।

रस सम्प्रदाय

रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत तोष तथा मतिराम की ख्याति विशेष है। तोष कवि का 1637 ई. का लिखा हुआ ग्रन्थ 'सुधानिधि' है। इसकी सरसता उदाहरणों में है। लक्षणों में कोई विवेचन सम्बन्धी नवीनता नहीं है। इसी प्रकार का ग्रन्थ मतिराम (1617 ई.) का 'रसराज' है। इसमें शृंगार का नायक-नायिका भेदरूप में वर्णन है। मतिराम के लक्षण महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, उदाहरण अवश्य बड़े ही सरस, कोमल तथा कल्पनायुक्त हैं। रस के क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य आचार्य देव (1673-1768) का है। देव ने रस पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें अधिकतर शृंगार और नायिकाभेद की ही चर्चा है और एक ही प्रकार के भाव अन्य ग्रन्थों में भी आये हैं। रस सम्बन्धी भावना प्रमुखतः 'भावविलास', 'भवानीविलास' और 'काव्यरसायन' में प्रकट हुई है। देव ने रस के दो भेद माने हैं-लौकिक और आलौकिक। देव के पश्चात् कालिदास, कृष्णभट्ट, कुमारमणि, श्रीपति, सोमनाथ, उदयनाभ, 'कवीन्द्र' दास आदि अनेक आचार्यों ने नायिकाभेद और रस पर लिखा है। परन्तु रस के सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट नहीं हुए हैं। इस सम्प्रदाय के अन्य कवियों में रसलीन (अंगदर्पण, रसप्रबोध), दास, रूपसाहि, समनेस, उजियारे, यशवंत सिंह, रामसिंह ('रामनिवास', 1782 ई.) पद्माकर, रसिक, गोविन्द, बेनी प्रवीन तथा काव्य-सौन्दर्य, दोनों ही दृष्टियों से रामसिंह तथा ग्वाल का कार्य महत्त्वपूर्ण है।

ध्वनि के आचार्य

हिन्दी रीतिशास्त्र के अन्तर्गत ध्वनि के सर्वप्रथम आचार्य कुलपति मिश्र हैं। कूर्मवंशी जयसिंह के लिए इन्होंने 'रसरहस्य' की रचना की। 'रसरहस्य' का

रचनाकाल 1670 ई. है। कुलपति के विचार प्रौढ़ और प्रामाणिक हैं, पर कोई नवीन विचार देखने को नहीं मिलते। कुलपति के बाद देव ने ध्वनि पर लिखा है। इस काल के अन्य कवियों में सूरति मिश्र, कुमारमणि भट्ट, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसाहि तथा रामदास के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। रीतिकाल के आचार्य कवियों में भिखारीदास (रचनाकाल 1728–1750 ई.) का नाम प्रथमपंक्तिय है। दास ने 'रससारांश', 'छन्दोर्णवपिंगल', 'काव्यनिर्णय' और 'शृंगारनिर्णय' ग्रन्थ काव्यशास्त्र पर लिखे। काव्यशास्त्र की दृष्टि से सबसे प्रौढ़ और प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यनिर्णय' है, जिसमें ध्वनि का विवेचन और रस, अलंकार, गुण, दोष आदि का वर्णन है। हिन्दी रीतिकाव्य (लक्षणरहित काव्य) की परम्परा भक्तिकाल ही प्रारम्भ हो जाती है। कृपाराम, ब्रह्म (बीरबल), गंग, बलभद्र मिश्र, केशवदास, रहीम तथा मुबारक कालक्रम की दृष्टि से यद्यपि भक्तिकाल के अन्तर्गत आते हैं, परन्तु उनकी काव्यपद्धति प्रायः रीतिप्रधान ही थी। उनके कृतित्त्व में प्रमुख ध्यान काव्य रचना का है और कोई यदि है तो गौण। रीतिकाव्य की प्रेरणा मुख्यतः आचार्य केशवदास और अकबर के दरबारी कवियों से ही प्राप्त हुई थी। इस परम्परा के साथ काव्य की एक स्वच्छन्द धारा का विकास हुआ, जिसके प्रवाह ने रीतिकाल में समस्त काव्य रसिकों को ओत-प्रोत कर दिया।

अन्य कवि

इस युग के रीति-कवियों में सबसे प्रथम सेनापति (1589 ई.) का नाम आता है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कवित्तरत्नाकर' है। सेनापति की विशेष प्रसिद्धि उनके प्रकृति चित्रण तथा लेषचमत्कार के कारण है। 'कवित्तरत्नाकर' की रचना सन् 1649 ई. में हुई। रीतिकाव्य की इस प्रथम महत्त्वपूर्ण रचना ने हिन्दी रीतिकाव्य को अतिशय प्रेरणा प्रदान की, इसमें सन्देह नहीं। बिहारीलाल (1603–1662 ई.) रीतिकाव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं और उनकी यह ख्याति उनके अन्यतम ग्रन्थ 'सतसई' पर आधारित है, जिसे उन्होंने जयपुर के महाराज जयशाह के आदेश पर लिखा था। मुक्तक रचना होते हुए भी सतसई में सतसई का ध्यान अलंकार, रस, भाव, नायिका-भेद, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, गुण आदि सब पर है और सभी के सुन्दर उदाहरण इसमें हैं।

रीति-परम्परा का पालन करते हुए और भाई होते हुए भी भूषण (1613–1715) की प्रकृति मतिराम के बिल्कुल विपरीत है। भूषण का काव्य

ओजपूर्ण और वीर रस से ओत-प्रोत है। अत: रीतिकाव्य की श्रृंगारिक परम्परा का अनुगमन न करके ये वीर-परम्परा का मार्ग प्रशस्त करने वाले हैं। वीर रस पर लिखने वाले तो रीतिकाल में और भी कवि हैं, पर रीति परम्परा पर वीर काव्य लिखने वाले भूषण अकेले हैं। शिवाजी की वीरता तथा अन्य गुणों से प्रेरित भूषण का 'शिवराजभूषण' अलंकारिक सौन्दर्य से भरपूर है। ललित शब्दावली में कोमल भावनाओं को व्यक्त करने वाले सुकुमार कल्पना के कवि मतिराम (1617 ई.) का काव्य रीतिकाव्य का प्रतिनिधित्व करता है। उनके ग्रन्थ 'ललितललाम', 'रसराज', 'अलंकारपंचाशिका' आदि में यद्यपि लक्षण दिये हुए हैं, फिर भी प्रधानता उदाहरण काव्य की है। अत: उनकी गणना रीतिशास्त्रियों में अधिक रीति-कवियों में होती है।

घनानन्द (रचनाकाल 1658 ई.) प्रसिद्ध प्रेमी, भक्त और कवि थे। उनका ध्यान अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, नायिका-भेद, रस आदि की ओर नहीं है, फिर भी इनकी रचना में आलंकारिक चमत्कार तथाश्रृंगार के संयोग और वियोग, दोनों ही पक्षों का इतना दक्षतापूर्ण वर्णन है कि रीति-परम्परा का प्रयास उससे स्पष्ट लक्षित होता है। घनानन्द का 'सुजानसागर' रीतिकाव्य के प्रसिद्ध ग्रन्थों में एक है। देव (1673 ई.) को आचार्य और कवि, दोनों ही रूपों में सफलता प्राप्त हुई है। उनके कृतित्त्व में मौलिकता तथा कवित्वशक्ति का विलक्षण संयोग हुआ है। भाव की पकड़, सूक्ष्म निरीक्षण, भाषा पर अधिकार, छन्द की गति, शब्दवर्णमैत्री, सरसता और उक्तिवैचित्र्य, सब मिलकर देव की रचना को स्मरणीय बनाते हैं। मानव स्वभाव का उन्हें बड़ा सूक्ष्म ज्ञान था। अपने ग्रन्थ 'भावविलास' की रचना देव ने 16 वर्ष की अवस्था में की थी।

भिखारीदास (रचनाकाल 1728-1750 ई.) आचार्य और कवि, दोनों ही रूपों में उत्कृष्ट हैं। जहाँ अपने ग्रन्थों में इन्होंने ध्वनि, अलंकार, रस, नायिका-भेद, छन्द आदि के लक्षण और विवेचन प्रस्तुत किये हैं, वहाँ उनके उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत कविता रीतिकाव्य का सुन्दर नमूना है। भिखारीदास के समकालीन रसलीन (सैयद गुलाम नबी बिलग्रामी) का काव्य बड़ा ही चुटीला है और उक्तिचमत्कार के कारण इनके दोहे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनके लिखे दो ग्रन्थ मिले हैं-'अंगदर्पण' और 'रसप्रबोध'। बेनी प्रबीन (1753-1833 ई.) रीतिकाव्य के अन्तिम प्रतिभासम्पन्न कवि हैं। इनके ग्रन्थ 'जगद्विनोद' तथा फुटकर छन्दों में रीतिकाव्य की प्रवृत्तियों का सुन्दर परिचय मिलता है। पद्माकर में भावविवृति की विलक्षण शक्ति है। ग्वाल (रचनाकाल 1822-1861 ई.) भी

पद्माकर की परिपाटी पर हैं। इनकी भाषा अधिक प्रांजल न होकर बाजारूपन लिये है। फिर भी इनके वर्णन सुन्दर हैं।

रीतिकालीन काव्य की भाषा

रीतिकालीन काव्य प्रायः ब्रजभाषा तथा उसके स्थानीय रूपों में लिखा गया। अधिकांश काव्य राजाश्रय में लिखा गया था। अधिक प्रवृत्ति अलंकृत काव्य लिखने की रही है।शृंगार के अन्तर्गत काम-वासना और नारी-सौन्दर्य का चित्रण हुआ है, कहीं-कहीं भक्ति-भावना भी दिखाई दे जाती है। कुछ रचनाओं में वीर-भावना, नीति-उपदेश, लोक ज्ञान, व्यवहार आदि से सम्बन्धित सामग्री मिलती है। इस युग के कवियों का जीवन के प्रति दृष्टिकोण आध्यात्मिक न होकर ऐहिक अधिक है।

गुलगुली गिल में गलीचा हैं, गुनीजन हैं,
चाँदनी है, चिक है चिरागन की माला हैं।
कहैं पद्माकर त्यौं गजक गिजा है सजी
सेज हैं सुराही हैं सुरा हैं और प्याला हैं।
सिसिर के पाला को व्यापत न कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन ऐते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला है, विनोद के रसाला है,
सुबाला हैं, दुसाला हैं विसाला चित्रसाला हैं।

ऐहलौकिकता, शृंगारिकता, नायिकाभेद और अलंकार-प्रियता इस युग की प्रमुख विशेषताएं हैं। प्रायः सब कवियों ने ब्रज-भाषा को अपनाया है। स्वतंत्र कविता कम लिखी गई, रस, अलंकार वगैरह काव्यांगों के लक्षण लिखते समय उदाहरण के रूप में - विशेषकरशृंगार के आलंबनों एवं उद्दीपनों के उदाहरण के रूप में - सरस रचनाएं इस युग में लिखी गईं। भूषण कवि ने वीर रस की रचनाएं भी दीं। भाव-पक्ष की अपेक्षा कला-पक्ष अधिक समृद्ध रहा। शब्द-शक्ति पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया, न नाटयशास्त्र का विवेचन किया गया। विषयों का संकोच हो गया और मौलिकता का]ास होने लगा। इस समय अनेक कवि हुए केशव, चिंतामणि, देव, बिहारी, मतिराम, भूषण, घनानंद, पद्माकर आदि। इनमें से केशव, बिहारी और भूषण को इस युग का प्रतिनिधि कवि माना जा सकता है। बिहारी ने दोहों की संभावनाओं को पूर्ण रूप से विकसित कर दिया। आपको रीति-काल का प्रतिनिधि कवि माना जा सकता है।

इस काल के कवियों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है–

(1) रीतिबद्ध कवि

(2) रीतिमुक्त कवि

(3) रीतिसिद्ध कवि।

विद्वानों का यह भी मत है कि इस काल के कवियों ने काव्य में मर्यादा का पूर्ण पालन किया है। घोरशृंगारी कविता होने पर भी कहीं भी मर्यादा का उल्लंघन देखने को नहीं मिलता है।

6

आधुनिक काल

हिंदी साहित्य का आधुनिक काल तत्कालीन राजनैतिक गतिविधियों से प्रभावित हुआ। इसको हिंदी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ युग माना जा सकता है, जिसमें पद्य के साथ-साथ गद्य, समालोचना, कहानी, नाटक व पत्रकारिता का भी विकास हुआ।

सं 1800 वि. के उपरांत भारत में अनेक यूरोपीय जातियां व्यापार के लिए आईं। उनके संपर्क से यहां पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ना प्रारंभ हुआ। विदेशियों ने यहां के देशी राजाओं की पारस्परिक फूट से लाभ उठाकर अपने पैर जमाने में सफलता प्राप्त की। जिसके परिणाम-स्वरूप यहां पर ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई। अंग्रेजों ने यहां अपने शासन कार्य को सुचारु रूप से चलाने एवं अपने धर्म-प्रचार के लिए जन-साधारण की भाषा को अपनाया। इस कार्य के लिए गद्य ही अधिक उपयुक्त होती है। इस कारण आधुनिक युग की मुख्य विशेषता गद्य की प्रधानता रही। इस काल में होने वाले मुद्रण कला के आविष्कार ने भाषा-विकास में महान योगदान दिया। स्वामी दयानंद ने भी आर्य समाज के ग्रंथों की रचना राष्ट्रभाषा हिंदी में की और अंग्रेज मिशनरियों ने भी अपनी प्रचार पुस्तकें हिंदी गद्य में ही छपवाईं। इस तरह विभिन्न मतों के प्रचार कार्य से भी हिंदी गद्य का समुचित विकास हुआ।

इस काल में राष्ट्रीय भावना का भी विकास हुआ। इसके लिए श्रृंगारी ब्रजभाषा की अपेक्षा खड़ी बोली उपयुक्त समझी गई। समय की प्रगति के साथ

गद्य और पद्य दोनों रूपों में खड़ी बोली का पर्याप्त विकास हुआ। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र तथा बाबू अयोध्या प्रसाद खत्रीने खड़ी बोली के दोनों रूपों को सुधारने में महान प्रयत्न किया। उन्होंने अपनी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा द्वारा हिंदी साहित्य की सम्यक संवर्धना की।

इस काल के आरंभ में राजा लक्ष्मण सिंह, भारतेंदु हरिश्चंद्र, जगन्नाथ दास रत्नाकर, श्रीधर पाठक, रामचंद्र शुक्ल आदि ने ब्रजभाषा में काव्य रचना की। इनके उपरांत भारतेंदु जी ने गद्य का समुचित विकास किया और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसी गद्य को प्रांजल रूप प्रदान किया। इसकी सत्प्रेरणाओं से अन्य लेखकों और कवियों ने भी अनेक भांति की काव्य रचना की। इनमें मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, नाथूराम शर्मा शंकर, ला. भगवान दीन, रामनरेश त्रिपाठी, जयशंकर प्रसाद, गोपाल शरण सिंह, माखन लाल चतुर्वेदी, अनूप शर्मा, रामकुमार वर्मा, 'याम नारायण पांडेय, दिनकर, सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रभाव से हिंदी-काव्य में भी स्वच्छंद (अतुकांत) छंदों का प्रचलन हुआ।

इस काल में गद्य-निबंध, नाटक-उपन्यास, कहानी, समालोचना, तुलनात्मक आलोचना, साहित्य आदि सभी रूपों का समुचित विकास हुआ। इस युग के प्रमुख साहित्यकार निम्नलिखित हैं- नवचनंद मुणङ, शिवराज आनंद

समालोचक

आचार्य द्विवेदी जी, पद्म सिंह शर्मा, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य रामचंद्र शुक्ल,डॉ. रामकुमार वर्मा, 'यामसुंदर दास, डॉ. रामरतन भटनागर आदि हैं।

कहानी लेखक

प्रेमचंद, विनोद शंकर व्यास, प्रसाद, पंत, गुलेरी, निराला, कौशिक, सुदर्शन, जैनेंद्र, हृदयेश मनु बुंदेली आदि।

उपन्यासकार

प्रेमचंद, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, प्रसाद, उग्र, हृदयेश, जैनेंद्र, भगवतीचरण वर्मा, वृंदावन लाल वर्मा, गुरुदत्त आदि है।

नाटककार

प्रसाद, सेठ गोविंद दास, गोविंद वल्लभ पंत, लक्ष्मी नारायण मिश्र, उदय शंकर भट्ट, रामकुमार वर्मा आदि हैं।

निबंध लेखक

आचार्य द्विवेदी, माधव प्रसाद शुक्ल, रामचंद्र शुक्ल, बाबू 'यामसुंदर दास, पद्म सिंह, अध्यापक पूर्णसिंह आदि

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल 'भारतीय इतिहास' के बदलते हुए स्वरूप से काफी प्रभावित था। 'भारतीय स्वतंत्रता संग्राम' और राष्ट्रीयता की भावना का प्रभाव भी साहित्य में आ गया था। भारत में औद्योगीकरण का प्रारंभ होने लगा था। आवागमन के साधनों का भी तेजी से विकास हुआ। अंग्रेजी और पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव बढ़ा और जीवन में बदलाव आने लगा। ईश्वर के साथ-साथ मानव को महत्त्व दिया जाने लगा था। भावना के साथ-साथ विचारों को पर्याप्त प्रधानता मिली। पद्य के साथ ही गद्य का भी पर्याप्त विकास हुआ और छापेखाने के आते ही साहित्य के संसार में एक नयी क्रांति का बीजारोपण हुआ।

आधुनिक हिंदी पद्य का इतिहास

आधुनिक काल 1850 से हिंदी साहित्य के इस युग को भारत में राष्ट्रीयता के बीज अंकुरित होने लगे थे। स्वतंत्रता संग्राम लड़ा और जीता गया। छापेखाने का आविष्कार हुआ, आवागमन के साधन आम आदमी के जीवन का हिस्सा बने, जन संचार के विभिन्न साधनों का विकास हुआ, रेडिओ, टी वी व समाचार पत्र हर घर का हिस्सा बने और शिक्षा हर व्यक्ति का मौलिक अधिकार। इन सब परिस्थितियों का प्रभाव हिंदी साहित्य पर अनिवार्यत: पड़ा। आधुनिक काल का हिंदी पद्य साहित्य पिछली सदी में विकास के अनेक पड़ावों से गुजरा। जिसमें अनेक विचार धाराओं का बहुत तेजी से विकास हुआ। जहां काव्य में इसे छायावादी युग, प्रगतिवादी युग, प्रयोगवादी युग, नयी कविता युग और साठोत्तरी कविता इन नामों से जाना गया, छायावाद से पहले के पद्य को भारतेंदु हरिश्चंद्र युग और महावीर प्रसाद द्विवेदी युग के दो और युगों में बांटा गया। इसके विशेष कारण भी हैं।

भारतेंदु हरिश्चंद्र युग की कविता

ईस्वी सन् 1850 से 1900 तक की कविताओं पर भारतेंदु हरिश्चंद्र का गहरा प्रभाव पड़ा है। वे ही आधुनिक हिंदी साहित्य के पितामह हैं। उन्होंने भाषा को एक चलता हुआ रूप देने की कोशिश की। आपके काव्य-साहित्य में प्राचीन एवं नवीन का मेल लक्षित होता है। भक्तिकालीन, रीतिकालीन परंपराएं आपके काव्य में देखी जा सकती हैं तो आधुनिक नूतन विचार और भाव भी आपकी कविताओं में पाए जाते हैं। आपने भक्ति-प्रधान,शृंगार-प्रधान, देश-प्रेम-प्रधान तथा सामाजिक-समस्या-प्रधान कविताएं की हैं। आपने ब्रजभाषा से खड़ीबोली की ओर हिंदी-कविता को ले जाने का प्रयास किया। आपके युग में अन्य कई महानुभाव ऐसे हैं जिन्होंने विविध प्रकार हिंदी साहित्य को समृ(किया। इस काल के प्रमुख कवि हैं-

भार्तेन्दु हरिश्चन्द्र
प्रताप नारायण मिश्र
बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'
राधाचरण गोस्वामी
अम्बिका दत्त व्यास

पं महावीर प्रसाद द्विवेदी युग की कविता

सन 1900 के बाद दो दशकों पर पं महावीर प्रसाद द्विवेदी का पूरा प्रभाव पड़ा। इस युग को इसीलिए द्विवेदी-युग कहते हैं। 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक के रूप में आप उस समय पूरे हिंदी साहित्य पर छाए रहे। आपकी प्रेरणा से ब्रज-भाषा हिंदी कविता से हटती गई और खड़ी बोली ने उसका स्थान ले लिया। भाषा को स्थिर, परिष्कृत एवं व्याकरण-सम्मत बनाने में आपने बहुत परिश्रम किया। कविता की दृष्टि से वह इतिवृत्तात्मक युग था। आदर्शवाद का बोलबाला रहा। भारत का उज्ज्वल अतीत, देश-भक्ति, सामाजिक सुधार, स्वभाषा-प्रेम वगैरह कविता के मुख्य विषय थे। नीतिवादी विचारधारा के कारणशृंगार का वर्णन मर्यादित हो गया। कथा-काव्य का विकास इस युग की विशेषता है। भाषा खुरदरी और सरल रही। मधुरता एवं सरलता के गुण अभी खड़ी-बोली में आ नहीं पाए थे। सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी आदि इस युग के यशस्वी कवि हैं। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने इसी युग में ब्रज भाषा में सरस रचनाएं प्रस्तुत कीं। इस युग के प्रमुख कवि-

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔधश
रामचरित उपध्याय
जगन्नाथ दास रत्नाकर
गया प्रसाद शुक्ल 'सनेहीश
श्रीधर पाठक
राम नरेश त्रिपाठी
मैथिलीशरण गुप्त
लोचन प्रसाद पाण्डेय
सियारामशरण गुप्त

छायावादी युग की कविता

सन 1920 के आसपास हिंदी में कल्पनापूर्ण स्वछंद और भावुक कविताओं की एक बाढ़ आई। यह यूरोप के रोमांटिसिज्म से प्रभावित थी। भाव, शैली, छंद, अलंकार सब दृष्टियों से इसमें नयापन था। भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद लोकप्रिय हुई इस कविता को आलोचकों ने छायावादी युग का नाम दिया। छायावादी कवियों की उस समय भारी कटु आलोचना हुई परंतु आज यह निर्विवाद तथ्य है कि आधुनिक हिंदी कविता की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि इसी समय के कवियों द्वारा हुई। जयशंकर प्रसाद, निराला, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा इस युग के प्रधान कवि हैं।

उत्तर-छायावाद युग

यह काल भारतीय राजनीति में भारी उथल-पुथल का काल रहा है। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय, कई विचारधाराओं और आन्दोलनों का प्रभाव इस काल की कविता पर प डॉ. द्वितीय विश्वयुद्ध के भयावह परिणामों के प्रभाव से भी इस काल की कविता बहुत हद तक प्रभावित है। निष्कर्षतरूराष्ट्रवादी, गांधीवादी, विप्लववादी, प्रगतिवादी, यथार्थवादी, हालावादी आदि विविध प्रकार की कवितायें इस काल में लिखी गई। इस काल के प्रमुख कवि हैं--

माखनलाल चतुर्वेदी
बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'
सुभद्रा कुमारी चौहान
रामधारी सिंह 'दिनकर'

हरिवंश राय 'बच्चन'
भगवतीचरण वर्मा
नरेन्द्र शर्मा
रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'
शिवमंगल सिंह 'सुमन'
नागार्जुन
केदारनाथ अग्रवाल
त्रिलोचन
रांगेयराघव

प्रगतिवादी युग की कविता

छायावादी काव्य बुद्धिजीवियों के मध्य ही रहा। जन-जन की वाणी यह नहीं बन सका। सामाजिक एवं राजनैतिक आंदोलनों का सीधा प्रभाव इस युग की कविता पर सामान्यत: नहीं पड़ा। संसार में समाजवादी विचारधारा तेजी से फैल रही थी। सर्वहारा वर्ग के शोषण के विरु(जनमत तैयार होने लगा। इसकी प्रतिच्छाया हिंदी कविता पर भी पड़ी और हिंदी साहित्य के प्रगतिवादी युग का जन्म हुआ। 1930 के बाद की हिंदी कविता ऐसी प्रगतिशील विचारधारा से प्रभावित है। 1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के गठन के साथ हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित प्रगतिवादी आन्दोलन की शुरुआत हुई .इसका सबसे अधिक दूरगामी प्रभाव हिन्दी आलोचना पर पड़ा।मार्क्सवादी आलोचकों ने हिन्दी साहित्य के समूचे इतिहास को वर्ग-संघर्ष के दघष्टिकोण से पुनर्मूल्यांकन करने का प्रयास आरंभ किया। प्रगतिवादी कवियों में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन के साथ नयी कविता के कवि मुक्तिबोध और शमशेर को भी रक्खा जाता है।

प्रयोगवाद-नयी कविता युग की कविता

दूसरे विश्वयुद्ध(के पश्चात संसार भर में घोर निराशा तथा अवसाद की लहर फैल गई। साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा। 'अज्ञेय' के संपादन में 1943 में 'तार सप्तक' का प्रकाशन हुआ। तब से हिंदी कविता में प्रयोगवादी युग का जन्म हुआ ऐसी मान्यता है। इसी का विकसित रूप नयी कविता कहलाता है।

दुर्बोधता, निराशा, कुंठा, वैयक्तिकता, छंदहीनता के आक्षेप इस कविता पर भी किए गए हैं। वास्तव में नयी कविता नयी रुचि का प्रतिबिंब है। इस धारा के मुख्य कवि हैं-

अज्ञेय,
गिरिजाकुमार माथुर,
प्रभाकर माचवे,
भारतभूषण अग्रवाल,
मुक्तिबोध,
शमशेर बहादुर सिंह,
धर्मवीर भारती,
नरेश मेहता,
रघुवीर सहाय,
जगदीश गुप्त,
सर्वेश्वर दयाल सक्सेना,
कुंवर नारायण,
केदार नाथ सिंह।

इस प्रकार आधुनिक हिंदी खड़ी बोली कविता ने भी अल्प समय में उपलब्धि के उच्च शिखर सर किए हैं। क्या प्रबंध काव्य, क्या मुक्तक काव्य, दोनों में हिंदी कविता ने सुंदर रचनाएं प्राप्त की हैं। गीति-काव्य के क्षेत्र में भी कई सुंदर रचनाएं हिंदी को मिली हैं। आकार और प्रकार का वैविध्य बरबस हमारा ध्यान आकर्षित करता है। संगीत-रूपक, गीत-नाटय वगैरह क्षेत्रों में भी प्रशंसनीय कार्य हुआ है। कविता के बाह्य एवं अंतरंग रूपों में युगानुरूप जो नये-नये प्रयोग नित्य-प्रति होते रहते हैं, वे हिंदी कविता की जीवनी-शक्ति एवं स्फूर्ति के परिचायक हैं।

आधुनिक हिंदी गद्य का इतिहास

हिंदी साहित्य शुरू करने का श्रेय प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान लेखक गार्सा दतासी को दिया जा सकता है। हिंदी गद्य के अविभाज्य के संबंध में विद्वान एकमत नहीं है। कुछ 10वीं शताब्दी मांनते हैं कुछ 11 वीं शताब्दी,कुछ 13 शताब्दी। राजस्थानी एवं ब्रज भाषा में हमें गद्य के प्राचीनतम प्रयोग मिलते हैं। राजस्थानी गद्य की समय सीमा 11वीं शताब्दी से 14वीं शताब्दी तथा ब्रज गद्य की सीमा

14वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी तक मानी जाती है। माना जाता है कि 10वीं शताब्दी से 13वीं शताब्दी के मध्य ही हिंदी गद्य की शुरुआत हुई थी।खड़ी बोली के प्रथम दर्शन अकबर के दरबारी कवि गंग द्वारा रचित चंद छंद बरनन की महिमा में होते हैं अध्ययन की दृष्टि से हिंदी गद्य साहित्य के विकास को इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है। हिन्दी गद्य के विकास को विभिन्न सोपानों में विभक्त किया जा सकता है-

(1) पूर्व भारतेंदु युग(प्राचीन युग)–13 बमदजनतल ईस्वी से 1868 ईस्वी तक.
(2) भारतेंदु युग(नवजागरण काल)–1868-1900 ईस्वी से 1900 ईस्वी तक.
(3) द्विवेदी युग–1900 ईस्वी से 1922 ईस्वी तक.
(4) शुक्ल युग(छायावादी युग)–1922 ईस्वी से 1938 ईस्वी तक
(5) शुक्लोत्तर युग(छायावादोत्तर युग)–1938 ईस्वी से 1947 आज तक
(6) स्वातंत्र्योत्तर युगरू घ्घ्ब 1947 से अब तक।

19वीं सदी से पहले का हिन्दी गद्य

हिन्दी गद्य के उद्भव को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान हिन्दी गद्य की शुरूआत 19वीं सदी से ही मानते हैं जबकि कुछ अन्य हिन्दी गद्य की परम्परा को 11वीं-12वीं सदी तक ले जाते हैं। आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य की निम्न परम्पराएं मिलती हैं-

(1) राजस्थानी में हिन्दी गद्य
(2) ब्रजभाषा में हिन्दी गद्य
(3) दक्खिनी में हिन्दी गद्य
(4) गुरूमुखी लिपि में हिन्दी गद्य

छायावाद

छायावाद हिंदी साहित्य के रोमांटिक उत्थान की वह काव्य-धारा है, जो लगभग ई.स. 1918 से 1936 तक की प्रमुख युगवाणी रही।

जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानदन पंत, महादेवी वर्मा इस काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। छायावाद नामकरण का श्रेय मुकुटधर पाण्डेय को जाता है।

मुकुटधर पाण्डेय ने श्री शारदा पत्रिका में एक निबंध प्रकाशित किया जिस निबंध में उन्होंने छायावाद शब्द का प्रथम प्रयोग किया। कृति प्रेम, नारी प्रेम, मानवीकरण, सांस्कृतिक जागरण, कल्पना की प्रधानता आदि छायावादी काव्य की प्रमुख विशेषताएं हैं। छायावाद ने हिंदी में खड़ी बोली कविता को पूर्णतः प्रतिष्ठित कर दिया। इसके बाद ब्रजभाषा हिंदी काव्य धारा से बाहर हो गई। इसने हिंदी को नए शब्द, प्रतीक तथा प्रतिबिंब दिए। इसके प्रभाव से इस दौर की गद्य की भाषा भी समृद्ध हुई। इसे 'साहित्यिक खड़ीबोली का स्वर्णयुग' कहा जाता है।

छायावाद के नामकरण का श्रेय 'मुकुटधर पांडेय' को दिया जाता है। इन्होंने सर्वप्रथम 1920 ई में जबलपुर से प्रकाशित श्रीशारदा (जबलपुर) पत्रिका में 'हिंदी में छायावाद' नामक चार निबंधों की एक लेखमाला प्रकाशित करवाई थी। मुकुटधर पांडेय जी द्वारा रचित कविता 'कुररी के प्रति' छायावाद की प्रथम कविता मानी जाती है ।

परिचय

हिंदी कविता में छायावाद का युग द्विवेदी युग के बाद आया। द्विवेदी युग की कविता नीरस उपदेशात्मक और इतिवृत्तात्मक थी। छायावाद में इसके विरुद्ध विद्रोह करते हुए कल्पनाप्रधान, भावोन्मेशयुक्त कविता रची गई। यह भाषा और भावों के स्तर पर अपने दौर के बांग्ला के सुप्रसिद्ध कवि और नोबेल पुरस्कार विजेता रवींद्रनाथ ठाकुर की गीतांजली से बहुत प्रभावित हुई। यह प्राचीन संस्कृत साहित्य (वेदों, उपनिषदों तथा कालिदास की रचनाओं) और मध्यकालीन हिंदी साहित्य (भक्ति औरशृंगार की कविताओं) से भी प्रभावित हुई। इसमें बौद्ध दर्शन और सूफी दर्शन का भी प्रभाव लक्षित होता है। छायावादयुग उस सांस्कृतिक और साहित्यिक जागरण का सार्वभौम विकासकाल था जिसका आरंभ राष्ट्रीय परिधि में भारतेंदुयुग से हुआ था।

वस्तुजगत् अपना घनत्व खोकर इस जग में
सूक्ष्म रूप धारण कर लेता, भावद्रवित हो।

कवि के केवल सूक्ष्म भावात्मक दर्शन का ही नहीं, 'छाया' से उसके सूक्ष्म कलाभिव्यजंन का भी परिचय मिलता है। उसकी काव्यकला में वाच्यार्थ की अपेक्षा लाक्षणिकता और ध्वन्यात्मकता है। अनुभूति की निगूढ़ता के कारण अस्फुटता भी है। शैली में राग की नवोद्बुद्धता अथवा नवीन व्यंजकता है।

द्विवेदी युग में कविता का ढाँचा पद्य का था। वस्तुतः गद्य का प्रबंध ही उसमें पद्य हो गया था, भाषा भी गद्यवत् हो गई थी। छायावाद ने पद्य का ढाँचा तोड़कर खड़ी बोली को काव्यात्मक बना दिया। पद्य में स्थूल इतिवृत्त था, छायावाद के काव्य में भावात्मक अतंर्वृत्त था, छायावाद के काव्य में भावात्मक अंतर्वृत्त आ गया। भाव के अनुरूप ही छायावाद की भाषा और छंद भी रागात्मक और रसात्मक हो गया। ब्रजभाषा के बाद छायावाद द्वारा गीतकाव्य का पुनरुत्थान हुआ। छायावाद युग के प्रतिनिधि कवि हैं- प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, रामकुमार। पूर्वानुगामी सहयोगी हैं- माखनलाल और 'नवीन'।

गीतकाव्य के बाद छायावाद में भी महाकाव्य का निर्माण हुआ। तुलसीदास जैसे 'स्वांतरू' को लेकर लोकसंग्रह के पथ पर अग्रसर हुए थे वैसे ही छायावाद के कवि भी 'स्वात्म' को लेकर एकांत के स्वगत जगत् से सार्वजनिक जगत् में अग्रसर हुए। प्रसाद की 'कामायनी' और पंत का 'लोकायतन' इसका प्रमाण है। 'कामायनी' सिंधु में विंदु (एकांत अंतर्जगत) की ओर है, 'लोकायतन' विंदु में सिंधु (सार्वजनिक जगत) की ओर।

विभिन्न आलोचकों की दृष्टि में छायावाद

रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य का इतिहास में लिखा है कि- 'संवत् 1970 के आसपास मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय आदि कवि खड़ीबोली काव्य को अधिक कल्पनामय, चित्रमय और अंतर्भाव व्यंजक रूप-रंग देने में प्रवृत्त हुए। यह स्वच्छन्द और नूतन पद्धति अपना रास्ता निकाल रही थी कि रवीन्द्रनाथ की रहस्यात्मक कविताओं की धूम हुई और कई कवि एक साथ रहस्यवाद और प्रतीकवाद अथवा चित्रभाषावाद को ही एकांत ध्येय बनाकर चल पड़े। चित्रभाषा या अभिव्यंजन पद्धति पर ही जब लक्ष्य टिक गया तब उसके प्रदर्शन के लिए लौकिक या अलौकिक प्रेम का क्षेत्र ही बाकी समझा गया। इस बँधे हुए क्षेत्र के भीतर चलनेवाले काव्य ने छायावाद नाम ग्रहण किया।

छायावादी शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिये। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका संबंध काव्य-वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बनाकर अत्यंत चित्रमयी भाषा में प्रेम का अनेक प्रकार से व्यंजन करता है। इस अर्थ का दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में होता है' छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करनेवाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का

कथन। छायावाद का चलन द्विवेदी काल की रूखी इतिवृत्तात्मक (कथात्मकता) की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। जैसे, 'धूल की ढेरी में अनजाने, छिपे हैं मेरे मधुमय गान।

नंददुलारे वाजपेयी ने लिखा है कि- 'प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या होनी चाहिए।'

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी साहित्य का उद्‌भव और विकास में लिखा है कि- 'द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होते सारे देश में नई चेतना की लहर दौड़ गई। सन् 1929 में महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारतवर्ष विदेशी गुलामी को झाड़-फेंकने के लिए कटिबद्ध हो गया। इसे सिर्फ राजनीति तक ही सीमित नहीं समझना चाहिये। यह संपूर्ण देश का आत्म स्वरूप समझने का प्रयत्न था और अपनी गलतियों को सुधार कर संसार की समृद्ध जातियों की प्रति- द्वंद्विता में अग्रसर होने का संकल्प था। संक्षेप में, यह एक महान सांस्कृतिक आंदोलन था। चित्तगत उन्मुखता इस कविता का प्रधान उद्‌गम थी और बदलते हुए मानो के प्रति दृढ आस्था इसका प्रधान सम्बल। इस श्रेणी के कवि ग्राहिकाशक्ति से बहुत अधिक संपन्न थे और सामाजिक विषमता और असामंजस्यों के प्रति अत्यधिक सजग थे। शैली की दृष्टि से भी ये पहले के कवियों से एकदम भिन्न थे। इनकी रचना मुख्यतः विषयि प्रधान थी। सन् 1920 की खड़ीबोली कविता में विषयवस्तु की प्रधानता बनी हुई थी। परंतु इसके बाद की कविता में कवि के अपने राग-विराग की प्रधानता हो गई। विषय अपने आप में कैसा है ? यह मुख्य बात नहीं थी। बल्कि मुख्य बात यह रह गई थी कि विषयी (कवि) के चित्त के राग-विराग से अनुरंजित होने के बाद विषय कैसा दीखता है ? परिणाम विषय इसमें गौण हो गया और कवि प्रमुख।

नगेन्द्र ने लिखा है कि- '1920 के आसपास, युग की उद्‌बुद्ध चेतना ने बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर, जो आत्मबद्ध अंतर्मुखी साधना आरंभ की, वह काव्य में छायावाद के रूप में अभिव्यक्त हुई।

नामवर सिंह ने छायावाद में लिखा है कि- 'छायावाद शब्द का अर्थ चाहे जो हो, परंतु व्यावहारिक दृष्टि से यह प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी की उन समस्त कविताओं का द्योतक है, जो 1918 से 36 ई. के बीच लिखी गई।' वे आगे लिखते हैं- 'छायावाद उस राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है,

जो एक ओर पुरानी रूढियों से मुक्ति चाहता था और दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से।[8]

छायावादी कवियों की दृष्टि में

जयशंकर प्रसाद ने लिखा कि- 'काव्य के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुंदरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिंदी में उसे छायावाद नाम से अभिहित किया गया।' वे यह भी कहते हैं कि- 'छायावादी कविता भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्य, प्रकृति-विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं।

सुमित्रानंदन पंत छायावाद को पाश्चात्य साहित्य के रोमांटिसिज्म से प्रभावित मानते हैं।

महादेवी वर्मा छायावाद का मूल दर्शन सर्वात्मवाद को मानती हैं और प्रकृति को उसका साधन। उनके छायावाद ने मनुष्य के हदय और प्रकृति के उस संबंध में प्राण डाल दिए जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को प्रकृति अपने दुख में उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी।' इस प्रकार महादेवी के अनुसार छायावाद की कविता हमारा प्रकृति के साथ रागात्मक संबंध स्थापित कराके हमारे हदय में व्यापक भावानुभूति उत्पन्न करती है और हम समस्त विश्व के उपकरणों से एकात्म भाव संबंध जोड़ लेते हैं। वे रहस्यवाद को छायावाद का दूसरा सोपान मानती हैं।

छायावाद की मुख्य विशेषताएँ (प्रवृत्तियाँ)

छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियों का विभाजन हम निम्न शीर्षकों के अंतर्गत कर सकते हैं।

आत्माभिव्यक्ति

छायावाद में सभी कवियों ने अपने अनुभव को मेरा अनुभव कहकर अभिव्यक्त किया है। इस में शैली के पीछे आधुनिक युवक की स्वयं को अभिव्यक्त करने की सामाजिक स्वतंत्रता की आकांक्षा है। कहानी के पात्रों अथवा पौराणिक पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्ति की चिर आचरित और अनुभव

सिद्ध नाटकीय प्रणाली उसके भावों को अभिव्यक्त करने में पूर्णत: समर्थ नहीं थी। वैयक्तिक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता व्यक्ति की मुक्ति से संबद्ध थी। यह वैयक्तिक अभिव्यक्ति भक्तिकालीन कवियों के आत्मनिवेदन से बहुत आगे की चीज है। यह ऐहिक वैयक्तिक आवरणहीन थी। इसपर धर्म का आवरण नहीं था। सामंती नैतिकता को अस्वीकार करते हुए पंत ने उच्छवास और आँसू की बालिका से सीधे शब्दों में अपना प्रणय प्रकट किया है:- 'बालिका मेरी मनोरम मित्र थी।' वैयक्तिक क्षेत्र से आगे बढ़कर निराला ने अपनी पुत्री के निधन पर शोकगीत लिखा और जीवन की अनेक बातें साफ-साफ कह डालीं। संपादकों द्वारा मुक्त छंद का लौटाया जाना, विरोधियों का शाब्दिक प्रहार, सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ते हुए एकदम नए ढंग से सरोज का विवाह करना आदि लिखकर सामाजिक क्षेत्र के अपने अनुभव सीधे-सीधे मैं शैली में अभिव्यक्त किए। इसी तरह वनबेला में निराला ने अपनी कहानी के माध्यम से पुरानी सामाजिक रूढ़ियों पर और आधुनिक अर्थ पिशाचों पर प्रहार किया है।

नारी-सौंदर्य और प्रेम-चित्रण

इसके आगे चलकर छायावाद अलौकिक प्रेम या रहस्यवाद के रूप में सामने आता है। कुछ आचार्य इसे छायावाद की ही एक प्रवृत्ति मानते हैं और कुछ इसे साहित्य का एक नया आंदोलन।

नारी-सौंदर्य और प्रेम-चित्रण छायावादी कवियों ने नारी को प्रेम का आलंबन माना है। उन्होंने नारी को प्रेयसी के रूप में ग्रहण किया जो यौवन और हदय की संपूर्ण भावनाओं से परिपूर्ण है। जिसमें धरती का सौंदर्य और स्वर्ग की काल्पनिक सुषमा समन्वित है। अत: इन कवियों ने प्रेयसी के कई चित्र अंकित किये हैं। कामायनी में प्रसाद ने श्रद्धा के चित्रण में जादू भर दिया है। छायावादी कवियों का प्रेम भी विशिष्ट है।

इनके प्रेम की पहली विशेषता है कि इन्होंने स्थूल सौंदर्य की अपेक्षा सूक्ष्म सौंदर्य का ही अंकन किया है। जिसमें स्थूलता, अश्लीलता और नग्नता नहीं है। जहाँ तक प्रेरणा का सवाल है छायावादी कवि रूढ़ि, मर्यादा अथवा नियमबद्धता को स्वीकार नहीं करते। निराला केवल प्राणों के अपनत्व के आधार पर, सब कुछ भिन्न होने पर अपनी प्रेयसी को अपनाने के लिए तैयार हैं।

इन कवियों के प्रेम की दूसरी विशेषता है - वैयक्तिकता। जहाँ पूर्ववर्ती कवियों ने कहीं राधा, पद्मिनी, ऊर्मिला के माध्यम से प्रेम की व्यंजना की है तो इन कवियों ने निजी प्रेमानुभूति की व्यंजना की है।

इनके प्रेम की तीसरी विशेषता है- सूक्ष्मता। इन कवियों का श्रृंगार-वर्णन स्थूल नहीं, परंतु इन्होंने सूक्ष्म भाव-दशाओं का वर्णन किया है। चौथी विशेषता यह है कि इनकी प्रणय-गाथा का अंत असफलता में पर्यवसित होता है। अतः इनके वर्णनों में विरह का रुदन अधिक है। हदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं को साकार रूप में प्रस्तुत करना छायावादी कविता का सबसे बड़ा कार्य है।

प्रकृति प्रेम

प्रकृति सौंदर्य का सरसतम वर्णन और उससे प्रेम का वर्णन भी छायावादी कवियों की उल्लेखनीय विशेषता है।

छायावाद के प्रकृतिप्रेम की पहली विशेषता है कि वे प्रकृति के भीतर नारी का रूप देखते हैं, उसकी छवि में किसी प्रेयसी के सौंदर्य-वैभव का साक्षात्कार करते हैं। प्रकृति की चाल-ढाल में किसी नवयौवना की चेष्टाओं का प्रतिबिंब देखते हैं। उसके पत्ते के मर्मर में किसी बाला-किशोरी का मधुर आलाप सुनते हैं। प्रकृति में चेतना का आरोपण सर्व प्रथम छायावादी कवियों ने ही किया है। जैसे,

बीती विभावरी जाग री,
अम्बर पनघट में डूबो रही
तारा घट उषा नागरी। (प्रसाद) या
दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से
उतर रही
वह संध्या सुंदरी परी-सी धीरे-धीरे। (निराला)

प्रकृति सौंदर्य की दूसरी प्रवृत्ति है- मुग्धता की। जहाँ कवि प्रकृति में चेतनता का आरोप करता है तो प्रकृति उसे सप्राण लगती है। इससे कवि विस्मय प्रकट करता है। जैसे पंत की मौन निमंत्रण कविता।

कवि मानव-जीवन की समस्त भावनाओं और अनुभूतियों को प्रकृति के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। छायावादी कवियों में प्रधान रूप से महादेवी में यह प्रवृत्ति विशेष लक्षित होती है। जैसे, मैं बनी मधुमास आली।

राष्ट्रीय/सांस्कृतिक जागरण

छायावादी कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से अपने राष्ट्रप्रेम को अभिव्यक्त किया है। इस युग में वीरों को उत्साहित करने वाली कविताएँ लिखी गई। देश के वीरों को संबोधित करते हुए जयशंकर प्रसाद लिखते हैंः-

'हिमाद्रि तुंग श्रृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती'

इतना ही नहीं आम जनता को जागृत करने के भाव से ही 'जागो फिर एक बार' जैसी कविताएँ लिखीं गईं।

रहस्यवाद

आध्यात्मिक प्रेम-भावना या अलौकिक प्रेम-भावना का स्वरूप अधिकांश महादेवी जी की कविता में मिलता है। वे अपने को प्रेम के उस स्थान पर बताती हैं जहाँ प्रेमी और उसमें कोई अंतर नहीं। जैसे, तुममुझमें प्रिय फिर परिचय क्या ? रहस्यवाद के अंतर्गत प्रेम के कई स्तर होते हैं। प्रथम स्तर है अलौकिक सत्ता के प्रति आकर्षण। द्वितीय स्तर है- उस अलौकिक सत्ता के प्रति दृढ अनुराग। तृतीय स्तर है विरहानुभूति। चौथा स्तर है- मिलन का मधुर आनंद। महादेवी और निराला में आध्यात्मिक प्रेम का मार्मिक अंकन मिलता है। यद्यपि छायावाद और रहस्यवाद में विषय की दृष्टि से अंतर है। जहाँ रहस्यवाद का विषय - आलंबन अमूर्त, निराकार ब्रह्म है, जो सर्व व्यापक है, वहाँ छायावाद का विषय लौकिक ही होता है।

स्वच्छन्दतावाद

इस प्रवृत्ति का प्रारंभ श्रीधर पाठक की कविताओं से होता है। पद्य के स्वरूप, अभिव्यंजना के ढंग और प्रकृति के स्वरूप का निरीक्षण आदि प्रवृत्तियाँ छायावाद में प्रकट हुई। साथ-साथ स्वानुभूति की प्रत्यक्ष विवृत्ति, जो व्यक्तिगत प्रणय से लेकर करुणा और आनंद तक फैली हुई है। आलोचकों ने छायावाद पर स्वच्छन्दता का प्रभाव बताया है तो दूसरी ओर इसका विरोध भी प्रकट किया है।

स्वच्छन्दतावाद की यह प्रवृत्ति देशगत, कालगत, रूढियों के विरुद्ध हमेशा रहती हैं। जहाँ कहीं भी बंधन हैं, समाज, राज्य, कविता और जीवन- तमाम स्तरों पर इन रूढियों का स्वच्छन्दतावादी कवि विरोध करता है। अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावादी काव्य से पहले कठोर अनुशासन था और उसका रूप धार्मिक, नैतिक और काव्यशास्त्रीय भी था। अतः अंग्रेजी कवियों ने इन बंधनों का तिरस्कार किया। लेकिन छायावादी कवियों से पूर्व द्विवेदीयुग में नैतिक दृष्टि की

प्रधानता मिलती है और छायावादी में उसका विरोध भी दिखाई देता है। छायावादी प्रवृत्ति स्वच्छन्द प्रणय की नहीं किन्तु पुनरुत्थानवादी ज्यादा थी। क्योंकि रीतिकालीनश्रृंगार-चित्रण का उस पर प्रभाव है। जहाँ दार्शनिक सिद्धांतों का संबंध है छायावादी काव्य में सर्ववाद, कर्मवाद, वेदांत, शैव-दर्शन, अद्वैतवाद आदि पुराने सिद्धांतों की अभिव्यक्ति मिलती है। जहाँ तक भाषा-शैली का सवाल है, छायावादी की अभिव्यंजना पद्धति नवीन और ताजा है।

द्विवेदीयुगीन खड़ीबोली में स्थूलता, वर्णनात्मकता अधिक है। परंतु छायावादी काव्य में सूक्ष्मता के निरूपण के कारण उपचार-वक्रता और मानवीकरण की विशेषताएँ दिखाई देती हैं।

कल्पना की प्रधानता

द्विवेदीयुगीन काव्य विषयनिष्ठ (वस्तुपरक), वर्णन- प्रधान और स्थूल है तो छायावादी काव्य व्यक्तिनिष्ठ और कल्पना-प्रधान है। द्विवेदीयुगीन कविता में सृष्टि की व्यापकता और अनेकरूपता को समेटा गया है। उसी प्रकार छायावाद की कविता में मनोजगत की वाणी को प्रकट करने का प्रयत्न है। मनोजगत के सूक्ष्म सत्य को साकार करने के लिए छायावादी कवियों ने ऊर्वरा कल्पनाशक्ति का उपयोग किया है। इन्होंने केवल कल्पना पर भी कई गीत लिखे हैं। कल्पना शब्द का इनके यहाँ बहुत प्रयोग हुआ है।

दार्शनिकता

छायावाद में वेदांत से लेकर आनंदवाद तक का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसमें बौद्ध और गांधी दर्शन की भी झलक मिलती है।

अद्वैतवाद का एक उदाहरण देखिए-

1. तुम तुंग हिमालय श्रृंग और मैं चंचल गति सुर सरिता। तुम विमल हदय उच्छवास और मैं कान्त कामिनी कविता।' (निराला)
2. धर्म के क्षेत्र में रूढियों एवं बाह्याचारों से मुक्त व्यापक मानव हित वाद: जैसे-
3. औरों को हँसते देखो मनु, हँसो और सुख पाओ। अपने सुख को विस्मृत कर लो, सबको सुखी बनाओ।' (कामायनी-प्रसाद)

समाज के क्षेत्र में समन्वयवाद। जैसे-

1. ज्ञान दूर, कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा पूरी क्यों हो मन की, दोनों मिल एक न हो सके, यही विडम्बना है जीवन की।' (कामायनी-प्रसाद)
2. ग्राहस्थ्य (पारिवारिक) एवं दांपत्य-जीवन के क्षेत्र में हदयवाद अथवा प्रेम-पूर्ण व्यवहार। जैसे-
3. तप रे मधुर-मधुर मन, विश्व-वेदना में तप प्रतिपल, तेरी मधुर मुक्ति ही बंधन, गंध हीन तू गंध युक्त बन।' (महादेवी)

शैलीगत प्रवृत्तियाँ

1. मुक्तक गीति शैली (गीति शैली के सभी तत्त्व -1.वैयक्तिक्ता 2. भावात्मकता 3.संगीतात्मकता 4.संक्षिप्तता 5.कोमलता छायावादी कवियों के काव्य में मिलते हैं।)
2. प्रतीकात्मकता
3. प्राचीन एवं नवीन अलंकारों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग (मानवीकरण, विरोधाभास, विशेषण विपर्यय)
4. कोमलकांत संस्कृतमय शब्दावली

जयशंकर प्रसाद की कुछ रचनाओं के उदाहरण देखें- प्रतीकों के द्वारा इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति की मार्मिकता में वृद्धि की है। मूर्त को अमूर्त और अमूर्त को मूर्त रूप में चित्रित करने के लिए इन्होंने अनेक प्रयोग किए हैं। जैसे,

1. मूर्त के लिए अमूर्त उपमान- बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल। (कामायनी)
2. अमूर्त के लिए मूर्त उपमान- कीर्ति किरण-सी नाच रही है। (कामायनी)
3. विशेषण विपर्यय- तुम्हारी आँखों का बचपन खेलता जग का अल्हड़ खेल।
4. विरोधाभास- शीतल ज्वाला जलती है। (आँसू - प्रसाद)
5. रूपकातिशयोक्ति- बाँधा था विधु के किसने, इन काली जंजीरों से। (आँसू - प्रसाद)
6. कोमलकांत पदावली- मृदु मन्द-मन्द मंथर-मंथर लघुतरिणी-सी सुंदर।

7

उपन्यास

उपन्यास गद्य लेखन की एक विधा है।

अर्नेस्ट ए. बेकर ने उपन्यास की परिभाषा देते हुए उसे गद्यबद्ध कथानक के माध्यम द्वारा जीवन तथा समाज की व्याख्या का सर्वोत्तम साधन बताया है। यों तो विश्वसाहित्य का प्रारंभ ही संभवत: कहानियों से हुआ और वे महाकाव्यों के युग से आज तक के साहित्य का मेरुदंड रही हैं, फिर भी उपन्यास को आधुनिक युग की देन कहना अधिक समीचीन होगा। साहित्य में गद्य का प्रयोग जीवन के यथार्थ चित्रण का द्योतक है। साधारण बोलचाल की भाषा द्वारा लेखक के लिए अपने पात्रों, उनकी समस्याओं तथा उनके जीवन की व्यापक पृष्ठभूमि से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करना आसान हो गया है। जहाँ महाकाव्यों में कृत्रिमता तथा आदर्शोन्मुख प्रवृत्ति की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है, आधुनिक उपन्यासकार जीवन की विशृंखलताओं का नग्न चित्रण प्रस्तुत करने में ही अपनी कला की सार्थकता देखता है।

यथार्थ के प्रति आग्रह का एक अन्य परिणाम यह हुआ कि कथा साहित्य के अपौरुषेय तथा अलौकिक तत्त्व, जो प्राचीन महाकाव्यों के विशिष्ट अंग थे, पूर्णतया लुप्त हो गए। कथाकार की कल्पना अब सीमाबद्ध हो गई। यथार्थ की परिधि के बाहर जाकर मनचाही उड़ान लेना उसके लिए प्राय: असंभव हो गया। उपन्यास का आविर्भाव और विकास वैज्ञानिक प्रगति के साथ हुआ। एक ओर जहाँ विज्ञान ने व्यक्ति तथा समाज को सोमन्य धरातल से देखने तथा चित्रित

करने की प्रेरणा दी वहीं दूसरी ओर उसने जीवन की समस्याओं के प्रति एक नए दृष्टिकोण का भी संकेत किया। यह दृष्टिकोण मुख्यत: बौद्धिक था। उपन्यासकार के ऊपर कुछ नए उत्तरदायित्व आ गए थे। अब उसकी साधना कला की समस्याओं तक ही सीमित न रहकर व्यापक सामाजिक जागरूकता की अपेक्षा रखती थी। वस्तुत: आधुनिक उपन्यास सामाजिक चेतना के क्रमिक विकास की कलात्मक अभिव्यक्ति है। जीवन का जितना व्यापक एवं सर्वांगीण चित्र उपन्यास में मिलता है उतना साहित्य के अन्य किसी भी रूप में उपलब्ध नहीं।

सामाजिक जीवन की विशद व्याख्या प्रस्तुत करने के साथ ही साथ आधुनिक उपन्यास वैयक्तिक चरित्र के सूक्ष्म अध्ययन की भी सुविधा प्रदान करता है। वास्तव में उपन्यास की उत्पत्ति की कहानी यूरोपीय पुनरुत्थान के फलस्वरूप अर्जित व्यक्तिस्वातंत्र्य के साथ लगी हुई है। इतिहास के इस महत्त्वपूर्ण दौर के उपरांत मानव को, जो अब तक समाज की इकाई के रूप में ही देखा जाता था, वैयक्तिक प्रतष्ठा मिली। सामंतवादी युग के सामाजिक बंधन ढीले पड़े और मानव व्यक्तित्त्व के विकास के लिए उन्मुक्त वातावरण मिला। यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों ने मानव चरित्र के अध्ययन के लिए भी एक नया दृष्टिकोण दिया। अब तक के साहित्य में मानव चरित्र के सरल वर्गीकरण की परंपरा चली आ रही है। पात्र या तो पूर्णतया भले होते थे या एकदम गए गुजरे। अच्छाइयों और त्रुटियों का सम्मिश्रण, जैसा वास्तविक जीवन में सर्वत्र देखने को मिलता है, उस समय के कथाकारों की कल्पना के परे की बात थी। उपन्यास में पहली बार मानव चरित्र के यथार्थ, विशद एवं गहन अध्ययन की संभावना देखने को मिली।

अंग्रेजी के महान उपन्यासकार हेनरी फील्डिंग ने अपनी रचनाओं को गद्य के लिखे गए व्यंग्यात्मक महाकाव्य की संज्ञा दी। उन्होंने उपन्यास की इतिहास से तुलना करते हुए उसे अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण कहा। जहाँ इतिहास कुछ विशिष्ट व्यक्तियों एवं महत्त्वपूर्ण घटनाओं तक ही सीमित रहता है, उपन्यास प्रदर्शित जीवन के सत्य, शाश्वत और संर्वदेशीय महत्त्व रखते हैं। साहित्य में आज उपन्यास का वस्तुत: वही स्थान है, जो प्राचीन युग में महाकाव्यों का था। व्यापक सामाजिक चित्रण की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त साम्य है। लेकिन जहाँ महाकाव्यों में जीवन तथा व्यक्तियों का आदर्शवादी चित्र मिलता है, उपन्यास, जैसा फील्डिंग की परिभाषा से स्पष्ट है, समाज की आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत

करता है। उपन्यासकार के लिए कहानी साधन मात्र है, साध्य नहीं। उसका ध्येय पाठकों का मनोरंजन मात्र भी नहीं। वह सच्चे अर्थ में अपने युग का इतिहासकार है, जो सत्य और कल्पना दोनों का सहारा लेकर व्यापक सामाजिक जीवन की झाँकी प्रस्तुत करता है।

उपन्यासिका

उपन्यास के समानांतर इधर उपन्यासिका नामक नवीन गद्य विधा का सूत्रपात हुआ है

हिंदी साहित्य में उपन्यास

हिंदी साहित्य में उपन्यास शब्द के प्रथम प्रयोग के संदर्भ में गोपाल राय लिखते हैं कि– 'हिन्दी में नॉवेल के अर्थ में उपन्यास पद का प्रथम प्रयोग 1875 ई. में हुआ।'

प्रथम उपन्यास

बाणभट्ट की कादम्बरी को विश्व का प्रथम उपन्यास माना जा सकता है। कुछ लोग जापानी भाषा में 1007 ई. में लिखा गया "जेन्जी की कहानी" नामक उपन्यास को दुनिया का सबसे पहला उपन्यास मानते हैं। इसे मुरासाकी शिकिबु नामक एक महिला ने लिखा था। इसमें 54 अध्याय और करीब 1000 पृष्ठ हैं। इसमें प्रेम और विवेक की खोज में निकले एक राजकुमार की कहानी है।

यूरोप का प्रथम उपन्यास सेर्वैन्टिस का "डोन क्विक्सोट" माना जाता है, जो स्पेनी भाषा का उपन्यास है। इसे 1605 में लिखा गया था।

अंग्रेजी का प्रथम उपन्यास होने के दावेदार कई हैं। बहुत से विद्वान 1678 में जोन बुन्यान द्वारा लिखे गए "द पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस" को पहला अंग्रेजी उपन्यास मानते हैं।

भारतीय भाषाओं में उपन्यास

जिसे बँगला और हिंदी में उपन्यास कहा जाता है गोपाल राय के अनुसार उसे 'उर्दू में 'नाविल', मराठी में 'कादम्बरी' तथा गुजराती में 'नवल कथा' की संज्ञा प्राप्त हुई है।'

हिन्दी का प्रथम उपन्यास

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार परीक्षा गुरु हिन्दी का प्रथम उपन्यास है। इसके लेखकलाला श्रीनिवास दास हैं। 'देवरा नी जेठानी की कहानी' (लेखक - पंडित गौरीदत्त य सन् 1870)। श्रद्धाराम फिल्लौरी की भाग्यवती को भी हिन्दी के प्रथम उपन्यास होने का श्रेय दिया जाता है।

मलयालम

इंदुलेखा - रचनाकाल, 1889, लेखक चंदु मेनोन

तमिल

प्रताप मुदलियार - रचनाकाल 1879, लेखक, मयूरम वेदनायगम पिल्लै

बंगाली

दुर्गेशनंदिनी - रचनाकाल, 1865, लेखक, बंकिम चंद्र चटर्जी

मराठी

यमुना पर्यटन - रचनाकाल, 1857, लेखक, बाबा पद्मजी।

इसे भारतीय भाषाओं में लिखा गया प्रथम उपन्यास माना जाता है।

इस तरह हम देख सकते हैं कि भारत की लगभग सभी भाषाओं में उपन्यास विधा का उद्भव लगभग एक ही समय दस-बीस वर्षों के अंतराल में हुआ।

हिन्दी उपन्यास

हिंदी उपन्यास का आरम्भ श्रीनिवासदास के 'परीक्षागुरु' (1843 ई.) से माना जाता है। हिंदी के आरम्भिक उपन्यास अधिकतर ऐयारी और तिलस्मी किस्म के थे। अनुदित उपन्यासों में पहला सामाजिक उपन्यास भारतेंदु हरिश्चंद्र का 'पूर्णप्रकाश' और चंद्रप्रभा नामक मराठी उपन्यास का अनुवाद था। आरम्भ में हिंदी में कई उपन्यास बँगला, मराठी आदि से अनुवादित किए गए।

हिंदी में सामाजिक उपन्यासों का आधुनिक अर्थ में सूत्रपात प्रेमचंद (1880-1936) से हुआ। प्रेमचंद पहले उर्दू में लिखते थे, बाद में हिंदी की ओर मुड़े। आपके 'सेवासदन', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'गबन', 'निर्मला', 'गोदान',

आदि प्रसिद्ध उपन्यास हैं, जिनमें ग्रामीण वातावरण का उत्तम चित्रण है। चरित्रचित्रण में प्रेमचंद गांधी जी के 'हृदयपरिवर्तन' के सिद्धांत को मानते थे। बाद में उनकी रुझान समाजवाद की ओर भी हुई, ऐसा जान पड़ता है। कुल मिलाकर उनके उपन्यास हिंदी में आधुनिक सामाजिक सुधारवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल' और 'तितली' उपन्यासों में भिन्न प्रकार के समाजों का चित्रण है, परंतु शैली अधिक काव्यात्मक है। प्रेमचंद की ही शैली में, उनके अनुकरण से विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि अनेक लेखकों ने सामाजिक उपन्यास लिखे, जिनमें एक प्रकार का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद अधिक था। परंतु पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', ऋषभचरण जैन, चतुरसेन शास्त्री आदि ने फ्रांसिसी ढंग का यथार्थवाद और प्रकृतवाद (नैचुरॉलिज्म) अपनाया और समाज की बुराइयों का दंभस्फोट किया। इस शैली के उपन्यासकारों में सबसे सफल रहे 'चित्रलेखा' के लेखक भगवतीचरण वर्मा, जिनके 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' और 'भूले बिसरे चित्र' बहुत प्रसिद्ध हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क की 'गिरती दीवारें' का भी इस समाज की बुराइयों के चित्रणवाली रचनाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अमृतलाल नागर की 'बूँद और समुद्र' इसी यथार्थवादी शैली में आगे बढ़कर आंचलिकता मिलानेवाला एक श्रेष्ठ उपन्यास है। सियारामशरण गुप्त की नारी' की अपनी अलग विशेषता है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास जैनेंद्रकुमार से शुरू हुए। 'परख', 'सुनीता', 'कल्याणी' आदि से भी अधिक आप के 'त्यागपत्र' ने हिंदी में बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। जैनेंद्र जी दार्शनिक शब्दावली में अधिक उलझ गए। मनोविश्लेषण में वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने अपने 'शेखर: एक जीवनी', 'नदी के द्वीप', 'अपने अपने अजनबी' में उत्तरोत्तर गहराई और सूक्ष्मता उपन्यासकला में दिखाई। इस शैली में लिखनेवाली बहुत कम मिलते हैं। सामाजिक विकृतियों पर इलाचंद्र जोशी के 'संन्यासी', 'प्रेत और छाया', 'जहाज का पंछी' आदि में अच्छा प्रकाश डाला गया है। इस शैली के उपन्यासकारों में धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' और नरेश मेहता का 'वह पथबंधु था' उत्तम उपलब्धियाँ हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों में हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक बहुत मनोरंजक कथाप्रयोग है जिसमें प्राचीन काल के भारत को मूर्त किया गया है। वृंदावनलाल वर्मा के 'महारानी लक्ष्मी बाई', 'मृगनयनी' आदि में ऐतिहासिकता तो बहुत है, रोचकता भी है, परंतु काव्यमयता द्विवेदी जी जैसी नहीं

है। राहुल सांकृत्यायन (1895-1963), रांगेय राघव (1922-1963) आदि ने भी कुछ संस्मरणीय ऐतिहासिक उपन्यास दिए हैं।

यथार्थवादी शैली सामाजिक यथार्थवाद की ओर मुड़ी और 'दिव्या' और 'झूठा सच' के लेखक भूतपूर्व क्रांतिकारी यशपाल और 'बलचनमा' के लेखक नागार्जुन इस धारा के उत्तम प्रतिनिधि हैं। कहीं कहीं इनकी रचनाओं में प्रचार का आग्रह बढ़ गया है। हिंदी की नवीनतम विधा आंचलिक उपन्यासों की है, जो शुरु होती है फणीश्वरनाथ 'रेणु' के 'मैला आँचल' से और उसमें अब कई लेखक हाथ आजमा रहे हैं, जैसे राजेंद्र यादव, मोहन राकेश, शैलेश मटियानी, राजेंद्र अवस्थी, मनहर चौहान, शिवानी इत्यादि।

हिंदी के प्रारंभिक उपन्यास

हिंदी के मौलिक कथासाहित्य का आरम्भ ईशा अल्लाह खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' से होता है। भारतीय वातावरण में निर्मित इस कथा में लौकिक परंपरा के स्पष्ट तत्त्व दिखाई देते हैं। खाँ साहब के पश्चात् पं. बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान और एक सुजान' नामक उपन्यासों का निर्माण किया। इन उपन्यासों का विषय समाजसुधार है।

भारतेंदु तथा उनके सहयोगियों ने राजनीतिज्ञ या समाजसुधारक के रूप में लिखा। बावू देवकीनंदन सर्वप्रथम ऐसे उपन्यासलेखक थे जिन्होंने विशुद्ध उपन्यासलेखक के रूप में लिखा। उन्होंने कहानी कहने के लिए ही कहानी कही। वह अपने युग के घात प्रतिघात से प्रभावित थे। हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में खत्री जी ने जो परंपरा स्थापित की वह एकदम नई थी। प्रेमचंद ने भारतेंदु द्वारा स्थापित परंपरा में एक नई कड़ी जोड़ी। इसके विपरीत बाबू देवकीनंदन खत्री ने एक नई परंपरा स्थापित की। घटनाओं के आधार पर उन्होंने कहानियों की एक ऐसीशृंखला जोड़ी जो कहीं टूटती नजर नहीं आती। खत्री जी की कहानी कहने की क्षमता को हम ईशांकृत 'रानी केतकी की कहानी' के साथ सरलतापूर्वक संबद्ध कर सकते हैं।

वास्तव में कथासाहित्य के इतिहास में खत्री जी की 'चंद्रकांता' का प्रवेश एक महत्त्वपूर्ण घटना है। यह हिंदी का प्रथम मौलिक उपन्यास है। खत्री जी के उपन्यास साहित्य में भारतीय संस्कृति की स्पष्ट छाप देखने को मिलती है। मर्यादा आपके उपन्यासों का प्राण है।

उपन्यास साहित्य की विकासयात्रा में पं. किशोरीलाल गोस्वामी के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। यह उपन्यासों की दिशा में घर करके बैठ गए। आधुनिक जीवन की विषमताओं के चित्र आपके जासूसी उपन्यासों में पाए जाते हैं। गोस्वामी जी के उपन्यास साहित्य में वासना का झीना परदा प्राय: सभी कहीं पड़ा हुआ है।

जासूसी उपन्यासलेखकों में बाबू गोपालराम गहमरी का नाम महत्त्वपूर्ण है। गहमरी जी ने अपने उपन्यासों का निर्माण स्वयं अनुभव की हुई घटनाओं के आधार पर किया है, इसलिए कथावस्तु पर प्रामाणिकता की छाप है। कथावस्तु हत्या या लाश के पाए जाने के विषयों से संबंधित है। जनजीवन से संपर्क होने के कारण उपन्यासों की भाषा में ग्रामीण प्रयोग प्राय: मिलते हैं।

हिंदी के आरम्भिक उपन्यासलेखकों में बाबू हरिकृष्ण जौहर का तिलस्मी तथा जासूसी उपन्यास लेखकों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। तिलस्मी उपन्यासों की दिशा में जौहर ने बाबू देवकीनंदन खत्री द्वारा स्थापित उपन्यास परंपरा को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। आधुनिक जीवन की विषमाओं एवं सभ्य समाज के यथार्थ जीवन का प्रदर्शन करने के लिए ही बाबू हरिकृष्ण जौहर ने जासूरी उपन्यासों का निर्माण किया है। 'काला बाघ' और 'गवाह गायब' आपके इस दिशा में महत्त्वपूर्ण उपन्यास हैं।।

हिंदी के आरम्भिक उपन्यासों का निर्माण लोकसाहित्य की आधारशिला पर हुआ। कौतूहल और जिज्ञासा के भाव ने इसे विकसित किया। आधुनिक जीवन की विषमताओं ने जासूसी उपन्यासों की कथा को जीवन के यथार्थ में प्रवेश कराया। असत्य पर सत्य की सदैव ही विजय होती है यह सिद्धांत भारतीय संस्कृति का केंद्रबिंदु है। हिंदी के आरम्भिक उपन्यासों में यह प्रवृत्ति मूल रूप से पाई जाती है।

8

कहानी

कहानी हिन्दी में गद्य लेखन की एक विधा है। उन्नीसवीं सदी में गद्य में एक नई विधा का विकास हुआ जिसे कहानी के नाम से जाना गया। बंगला में इसे गल्प कहा जाता है। कहानी ने अंग्रेजी से हिंदी तक की यात्रा बंगला के माध्यम से की। कहानी गद्य कथा साहित्य का एक अन्यतम भेद तथा उपन्यास से भी अधिक लोकप्रिय साहित्य का रूप है। मनुष्य के जन्म के साथ ही साथ कहानी का भी जन्म हुआ और कहानी कहना तथा सुनना मानव का आदिम स्वभाव बन गया। इसी कारण से प्रत्येक सभ्य तथा असभ्य समाज में कहानियाँ पाई जाती हैं। हमारे देश में कहानियों की बड़ी लंबी और सम्पन्न परंपरा रही है। वेदों, उपनिषदों तथा ब्राह्मणों में वर्णित 'यम-यमी', श्पुरुरवा-उर्वशी', 'सौपर्णी-काद्रव', 'सनत्कुमार- नारद', 'गंगावतरण', 'श्रृंग', 'नहुष', 'ययाति', 'शकुन्तला', 'नल-दमयन्ती' जैसे आख्यान कहानी के ही प्राचीन रूप हैं।

प्राचीनकाल में सदियों तक प्रचलित वीरों तथा राजाओं के शौर्य, प्रेम, न्याय, ज्ञान, वैराग्य, साहस, समुद्री यात्रा, अगम्य पर्वतीय प्रदेशों में प्राणियों का अस्तित्त्व आदि की कथाएँ, जिनकी कथानक घटना प्रधान हुआ करती थीं, भी कहानी के ही रूप हैं। 'गुणढ्य' की 'वृहत्कथा' को, जिसमें 'उदयन', श्वासवदत्ता', समुद्री व्यापारियों, राजकुमार तथा राजकुमारियों के पराक्रम की घटना प्रधान कथाओं का बाहुल्य है, प्राचीनतम रचना कहा जा सकता है। वृहत्कथा का प्रभाव 'दण्डी' के 'दशकुमार चरित', 'बाणभट्ट' की 'कादम्बरी',

'सुबन्धु' की 'वासवदत्ता', 'धनपाल' की 'तिलकमंजरी', 'सोमदेव' के 'यशस्तिलक' तथा 'मालतीमाधव', 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्', 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय', 'रत्नावली', 'मृच्छकटिकम्' जैसे अन्य काव्यग्रंथों पर साफ-साफ परिलक्षित होता है। इसके पश्च्चात् छोटे आकार वाली 'पंचतंत्र', 'हितोपदेश', 'बेताल पच्चीसी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'शुक सप्तति', 'कथा सरित्सागर', 'भोजप्रबन्ध' जैसी साहित्यिक एवं कलात्मक कहानियों का युग आया। इन कहानियों से श्रोताओं को मनोरंजन के साथ ही साथ नीति का उपदेश भी प्राप्त होता है। प्राय: कहानियों में असत्य पर सत्य की, अन्याय पर न्याय की और अधर्म पर धर्म की विजय दिखाई गई हैं।

1. परिभाषा
2. कहानी के तत्त्व
3. हिन्दी कहानी का इतिहास
4. समालोचना

परिभाषा

अमेरिका के कवि-आलोचक-कथाकार 'एडगर एलिन पो' के अनुसार कहानी की परिभाषा इस प्रकार है: 'कहानी वह छोटी आख्यानात्मक रचना है, जिसे एक बैठक में पढ़ा जा सके, जो पाठक पर एक समन्वित प्रभाव उत्पन्न करने के लिये लिखी गई हो, जिसमें उस प्रभाव को उत्पन्न करने में सहायक तत्त्वों के अतिरिक्त और कुछ न हो और जो अपने आप में पूर्ण हो।' हिंदी कहानी को सर्वश्रेष्ठ रूप देने वाले 'प्रेमचन्द' ने कहानी की परिभाषा इस प्रकार से की है: 'कहानी वह ध्रुपद की तान है, जिसमें गायक महफिल शुरू होते ही अपनी संपूर्ण प्रतिभा दिखा देता है, एक क्षण में चित्त को इतने माधुर्य से परिपूर्ण कर देता है, जितना रात भर गाना सुनने से भी नहीं हो सकता।' हिन्दी के लेखकों में प्रेमचंद पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने अपने तीन लेखों में कहानी के सम्बंध में अपने विचार व्यक्त किए हैं-'कहानी (गल्प) एक रचना है जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा-विन्यास, सब उसी एक भाव को पुष्ट करते हैं। उपन्यास की भाँति उसमें मानव-जीवन का संपूर्ण तथा बृहत रूप दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता। वह ऐसा रमणीय उद्यान नहीं जिसमें भाँति-भाँति के फूल, बेल-बूटे सजे हुए हैं, बल्कि एक गमला है जिसमें एक

ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।' कहानी की और भी परिभाषाएँ उद्धृत की जा सकती हैं। पर किसी भी साहित्यिक विधा को वैज्ञानिक परिभाषा में नहीं बाँधा जा सकता, क्योंकि साहित्य में विज्ञान की सुनिश्चितता नहीं होती। इसलिए उसकी जो भी परिभाषा दी जाएगी वह अधूरी होगी।

कहानी के तत्त्व

रोचकता, प्रभाव तथा वक्ता एवं श्रोता या कहानीकार एवं पाठक के बीच यथोचित सम्बद्धता बनाये रखने के लिये सभी प्रकार की कहानियों में निम्नलिखित तत्त्व महत्त्वपूर्ण माने गए हैं कथावस्तु, पात्र अथवा चरित्र-चित्रण, कथोपकथन अथवा संवाद, देशकाल अथवा वातावरण, भाषा-शैली तथा उद्देश्य। कहानी के ढाँचे को कथानक अथवा कथावस्तु कहा जाता है। प्रत्येक कहानी के लिये कथावस्तु का होना अनिवार्य है क्योंकि इसके अभाव में कहानी की रचना की कल्पना भी नहीं की जा सकती। कथानक के चार अंग माने जाते हैं - आरम्भ, आरोह, चरम स्थिति एवं अवरोह। कहानी का संचालन उसके पात्रों के द्वारा ही होता है तथा पात्रों के गुण-दोष को उनका 'चरित्र चित्रण' कहा जाता है। चरित्र चित्रण से विभिन्न चरित्रों में स्वाभाविकता उत्पन्न की जाती है। संवाद कहानी का प्रमुख अंग होते हैं। इनके द्वारा पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द एवं अन्य मनोभावों को प्रकट किया जाता है। कहानी में वास्तविकता का पुट देने के लिये देशकाल अथवा वातावरण का प्रयोग किया जाता है। प्रस्तुतीकरण के ढंग में कलात्मकता लाने के लिए उसको अलग-अलग भाषा व शैली से सजाया जाता है। कहानी में केवल मनोरंजन ही नहीं होता, अपितु उसका एक निश्र्घचित उद्ध्देश्य भी होता है।

हिन्दी कहानी का इतिहास

1910 से 1960 के बीच हिन्दी कहानी का विकास जितनी गति के साथ हुआ उतनी गति किसी अन्य साहित्यिक विधा के विकास में नहीं देखी जाती। सन् 1900 से 1915 तक हिन्दी कहानी के विकास का पहला दौर था। मन की चंचलता (माधवप्रसाद मिश्र) 1907 गुलबहार (किशोरीलाल गोस्वामी) 1902, पंडित और पंडितानी (गिरिजादत्त वाजपेयी) 1903, ग्यारह वर्ष का समय (रामचंद्र शुक्ल) 1903, दुलाईवाली (बंगमहिला) 1907, विद्या बहार (विद्यानाथ

शर्मा) 1909, राखीबंद भाई (वृन्दावनलाल वर्मा) 1909, ग्राम (जयशंकर 'प्रसाद') 1911, सुखमय जीवन (चंद्रधर शर्मा गुलेरी) 1911, रसिया बालम (जयशंकर प्रसाद) 1912, परदेसी (विश्वम्भरनाथ जिज्जा) 1912, कानों में कंगना (राजाराधिकारमण प्रसाद सिंह) 1913, रक्षाबंधन (विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक') 1913, उसने कहा था (चंद्रधर शर्मा गुलेरी) 1915, आदि के प्रकाशन से सिद्ध होता है कि इस प्रारंभिक काल में हिन्दी कहानियों के विकास के सभी चिह्न मिल जाते हैं। प्रेमचंद के आगमन से हिन्दी का कथा-साहित्य आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की ओर मुड़ा। और प्रसाद के आगमन से रोमांटिक यथार्थवाद की ओर। चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' की कहानी 'उसने कहा था' में यह अपनी पूरी रंगीनी में मिलता है। सन् 1922 में उग्र का हिन्दी-कथा-साहित्य में प्रवेश हुआ। उग्र न तो प्रसाद की तरह रोमैंटिक थे और न ही प्रेमचंद की भाँति आदर्शोन्मुख यथार्थवादी। वे केवल यथार्थवादी थे-प्रकृति से ही उन्होंने समाज के नंगे यथार्थ को सशक्त भाषा-शैली में उजागर किया। 1927-1928 में जैनेन्द्र ने कहानी लिखना आरंभ किया। उनके आगमन के साथ ही हिन्दी-कहानी का नया उत्थान शुरू हुआ। 1936 प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हो चुकी थी। इस समय के लेखकों की रचनाओं में प्रगतिशीलता के तत्त्व का जो समावेश हुआ उसे युगधर्म समझना चाहिए। यशपाल राष्ट्रीय संग्राम के एक सक्रिय क्रांतिकारी कार्यकर्ता थे, अतः वह प्रभाव उनकी कहानियों में भी आया। अज्ञेय प्रयोगधर्मा कलाकार थे, उनके आगमन के साथ कहानी नई दिशा की ओर मुड़ी। जिस आधुनिकता बोध की आज बहुत चर्चा की जाती है उसके प्रथम पुरस्कर्ता अज्ञेय ही ठहरते हैं। अश्क प्रेमचंद परंपरा के कहानीकार हैं। अश्क के अतिरिक्त वृंदावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, अमृतलाल नागर आदि उपन्यासकारों ने भी कहानियों के क्षेत्र में काम किया है। किन्तु इनका वास्तविक क्षेत्र उपन्यास है कहानी नहीं। इसके बाद सन् 1950 के आसपास से हिन्दी कहानियाँ नए दौर से गुजरने लगीं। आधुनिकता बोध की कहानियाँ या नई कहानी नाम दिया गया।

हिंदी कहानियों का इतिहास भारत में सदियो पुराना है। प्राचीन काल से ही कहानियां भारत में बोली, सुनी और लिखी जा रही है। ये कहानियां ही है, जो हमें हिम्मत से भर देती है और हम असंभव कार्य को भी करने को तैयार हो जाते है और अत्यंत कठिनाइयों के बावजूद ज्यादातर कार्य पूरे भी होते है शिवाजी महाराज को उनकी माता ने कहानी सुना सुनाकर इतना महान बना दिया

कि शिवाजी महाराज छत्रपति शिवाजी महाराज बन गए। हिंदी कहानियों को पढ़ कर आप अपने आत्म विश्वास को बढ़ा सकते है जिससे आपके सामने जो कोई समस्या है उसको सुलझा सकते है। हिन्दी कहानी हिंदी साहित्य की प्रमुख कथात्मक विधा है। आधुनिक हिंदी कहानी का आरंभ 20 वीं सदी में हुआ। पिछले एक सदी में हिंदी कहानी ने आदर्शवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद, मनोविश्लेषणवाद, आँचलिकता, आदि के दौर से गुजरते हुए सुदीर्घ यात्रा में अनेक उपलब्धियां हासिल की है। निर्मल वर्मा के वे दिन जैसे कहानी संग्रह साहित्य अकादमी से भी सम्मानित हो चुके हैं। प्रेमचंद, जैनेंद्र, अज्ञेय, यशपाल, फणीश्वरनाथ रेणु, उषा प्रियंवदा, मन्नु भंडारी, ज्ञानरंजन, उदय प्रकाश, ओमप्रकाश बाल्मिकी आदि हिंदी के प्रमुख कहानी कार हैं।

पहली कहानी कौन

कहानी के तत्त्वों की पर्याप्त उपस्थिति के आधार पर हिंदी कहानियों के वर्गीकरण की शृंखला में 'हिंदी की पहली कहानी' का प्रश्न विवाद ग्रस्त है। सबसे प्राचीन कहानियों में, कालक्रम की दृष्टि से सैयद इंशा अल्लाह खान द्वारा 1803 या 1808 ईस्वी में रचित 'रानी केतकी की कहानी' जहां मध्यकालीन किस्म की किस्सागोई मात्र है, जो पारसी थियेटर के लटको-झटको से भरी है, वहीं 1871 ईस्वी में अमेरिकी पादरी रेवरेंड जे. न्यूटन द्वारा रचित कहानी 'एक जमीदार का दृष्टांत' आदर्शवादी धर्म प्रचारक दृष्टिकोणान्मुख-आंतरिक संरचना की दृष्टि से कमजोर रचना है। इसी क्रम में किशोरी लाल गोस्वामी की 'प्रणयिनी परिणय', राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' की 'राजा भोज का सपना', भारतेंदु हरिश्चंद्र कृत 'एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' भी अपने परंपरागत स्वरूप के कारण कहानी की कसौटी पर खरी नहीं उतरती।

बीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में 'सरस्वती' तथा अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित किशोरी लाल गोस्वामी कृत 'इंदुमति', माधवराव सप्रे द्वारा रचित 'एक टोकरी भर मिट्‌टी', आचार्य रामचंद्र शुक्ल कृत 'ग्यारह वर्ष का समय' तथा राजेंद्र वाराघोष बंग महिला द्वारा रचित 'दुलाईवाली' आदि कहानियों की गिनती भी हिंदी की पहली कहानी बनने की होड़ में की जाती है। उपर्युक्त कहानियों में से 'इंदुमती' (1900 ई.) को शुक्ल जी इस शर्त पर 'हिंदी की पहली कहानी' मानते हैं कि वह किसी बंगला कहानी की छाया ना होद्य बाद में उसे

शेक्सपियर की रचना 'द टेंपेस्ट' से प्रभावित पाए जाने पर की हिंदी की पहली कहानी बनने की होड़ से बाहर कर दिया गया।

1901 ई. में, 'छत्तीसगढ़ मित्र' नामक पत्रिका में प्रकाशित रचना 'एक टोकरी भर मिट्टी' हिंदी की पहली कहानी के रूप में स्वीकृत है। वस्तुतः कहानी के तत्त्वों के आधार पर यह पहली रचना है जिसे कहानी मानने में कोई समस्या नहीं दिखाई पड़ती।

विकास का पहला दौर

वस्तुतः सन् 1900 ई. से 1915 ई. तक हिन्दी कहानी के विकास का पहला दौर था। मन की चंचलता (माधवप्रसाद मिश्र) 1907 ई. गुलबहार (किशोरीलाल गोस्वामी) 1902 ई., पंडित और पंडितानी (गिरिजादत्त वाजपेयी) 1903 ई., ग्यारह वर्ष का समय (रामचंद्र शुक्ल) 1903 ई., दुलाईवाली (बगमहिला) 1907 ई., विद्या बहार (विद्यानाथ शर्मा) 1909 ई., राखीबंद भाई (वृन्दावनलाल वर्मा) 1909 ई., ग्राम (जयशंकर प्रसाद) 1911 ई., सुखमय जीवन (चंद्रधर शर्मा गुलेरी) 1911 ई., रसिया बालम (जयशंकर प्रसाद) 1912 ई., परदेसी (विश्वम्भरनाथ जिज्जा) 1912 ई., कानों में कंगना (राजाराधिकारमणप्रसाद सिंह)1913 ई., रक्षाबंधन (विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक') 1913 ई., उसने कहा था (चंद्रधर शर्मा गुलेरी) 1915 ई., आदि के प्रकाशन से सिद्ध होता है कि इस प्रारंभिक काल में हिन्दी कहानियों के विकास के सभी चिन्ह मिल जाते हैं। 1950 ई. तक हिन्दी कहानी का एक विस्तृत दौर समाप्त हो जाता है और हिन्दी कहानी परिपक्वता के दौर में प्रवेश करती है।

दूसरा दौर

प्रेमचंद और प्रसाद

सन 1916 ई., प्रेमचंद की पहली कहानी सौत प्रकाशित हुई। प्रेमचंद के आगमन से हिन्दी का कथा-साहित्य समाज-सापेक्ष सत्य की ओर मुड़ा। प्रेमचंद की आखिरी कहानी 'कफन' 1936 ई., में प्रकाशित हुई और उसी वर्ष उनका देहावसान भी हुआ। बीस वर्षों की इस अवधि में कहानी की कई प्रवृत्तियाँ उभर कर आईं। किंतु इन प्रवृत्तियों को अलग अलग न देखकर यदि समग्रतः देखा जाय तो इस समूचे काल को आदर्श और यथार्थ के द्वन्द्व के रूप में लिया जा सकता

है। इस कालावधि में 'प्रसाद' और प्रेमचंद कहानियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रसाद मुख्यतः रोमैंटिक कहानीकार हैं। किंतु उनके अंतिम कहानी संग्रह 'इंद्रजाल' (1936 ई.) में संग्रहीत इन्द्रजाल, गुंडा, सलीम, विरामचिन्ह से उनकी यथार्थोमुखी प्रवृत्ति को पहचाना जा सकता है। पर रोमैंटिक होने के कारण वे आदर्शवादी थे। प्रेमचंद ने अपने को आदर्शोमुखी यथार्थवादी कहा है। वस्तुतः वे भी आदर्शवादी थे। किंतु अपने विकास के अंतिम काल में वे यथार्थ की कटुता को भोगकर यथार्थवादी हो गए। 'पूस की रात' और 'कफन' इसके प्रमाण हैं। सन् '33 में निराला का एक संग्रह 'लिली' प्रकाशित हो चुका था। उसकी कहानियाँ बहुत कुछ यथार्थवादी ही हैं।

प्रसाद का रोमैंटिक आदर्श उनकी प्रारम्भिक कहानियों में भी दिखाई देता है। पर चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' की कहानी 'उसने कहा था' (1915 ई.) में यह अपनी पूरी रंगीनी में मिलता है। प्रसाद की महत्त्वपूर्ण रोमैंटिक कहानियाँ 'उसने कहा था' के बाद लिखी गईं। 'उसने कहा था' अपने परिपार्श्व (सेटिंग), चरित्र-कल्पना, परिणति में रोमैंटिक है। प्रेमजन्य त्याग, बलिदान-यहाँ तक कि मृत्यु का वरण सभी कुछ रोमैंटिक आदर्श की परिपूर्ति करते हैं। आठ वर्ष की लड़की और बारह वर्ष के लड़के में जिस प्रेम का उदय होता है वह पच्चीस वर्षों के अन्तराल के बाद भी इस तरह उभर आता है कि उस रोमैंटिक प्रेम के निमित्त लहना सिंह प्राण दे देता है। इस आदर्श की रक्षा के लिए वास्तविकता को नजरअंदाज कर दिया गया है। इस कहानी की तकनीकी उपलब्धियाँ अभूतपूर्व हैं। नाटकीयता, स्थानिक रंग, रंगीन सेटिंग, जीवंत वर्णन, फ्लैश बैक, स्वप्न आदि को कहानी में समाविष्ट करने का पहला श्रेय उन्हीं को है। प्रसाद ने अपनी कहानियों में गुलेरजी की कतिपय तकनीकी विशेषताओं को ग्रहण किया हा पर वे मूलत प्रगीतात्मक (लीरिकल) हैं। प्रगीतों में कथा तत्त्व कम, भाव अधिक होता है। वे छायावाद के प्रतिनिधि कवि हैं। अतीत के शौर्यमूलक चित्रों, प्रभावशाली प्राकृतिक वातावरणों, प्रेमगत अन्तर्द्वन्दों में उनका मन अधिक रमा है। प्रेम और सौन्दर्य के चित्रण में उन्होंने सर्वाधिक मनोयोग से काम लिया है। एक दूसरी विशेषता, जो प्रायः अलक्षित रह जाती है, यह है कि उन्होंने कहानी के पात्रों को व्यक्तित्त्व दिया। व्यक्तिनिष्ठता छायावादी काव्य की विशेषता रही है। नाटकों के पात्रों को भी उन्होंने सर्वप्रथम व्यक्तित्त्व दिया। वही बात कहानी को संबंध में भी कही जा सकती है। 'गुण्डा' के बाबू नन्हूक सिंह जैसे व्यक्ति चरित्र की सृष्टि अद्वितीयता में अकेली है। इस प्रकार मधूलिका,

चम्पा, सालवती आदि भी अविस्मरणीय हैं। राष्ट्रीय चेतना छायावादी काव्य के एक वैशिष्टय है। इसे 'पुरस्कार' जैसी कहानियों में देखा जा सकता है। मन का गहन अन्तर्द्वन्द्व तो इनकी कहानी का मूलाधार है। 'आकाशदीप' इसका जीवंत उदाहरण है। प्रगीतात्मकता के सभी तत्त्व–अत्यधिक धनत्वपूर्ण वेदना, एकतानता आदि के लिए विसाती द्रष्टव्य हैं।

एक अलग दृष्टिकोण अपनाने के कारण उनकी कहानियाँ प्रेमचंद की कहानियों से भिन्न हो जाती हैं। इसलिये आलोचकों ने प्रसाद संस्थान की कहानियों को प्रेमचंद–संस्थान की कहानियों से पृथक माना है। दृष्टिकोण का अलगाव संरचना का अलगाव होता है। उनके कथानक में घटनाएँ कम और स्थितियों के प्रति प्रतिक्रियाएँ अधिक हैं। फलस्वरूप उनमें नाटकीयता का प्राधान्य हो गया है। उनके चरित्र भी स्थितियों से गुजर कर अपने क्रिया–कलापों द्वारा अपने व्यक्तित्त्व को प्रतिष्ठित करते हैं। प्राकृतिक सेटिंग जहाँ कहीं भी ले आई गई है वह संपूर्ण कहानी का अनिवार्य अंग बन गई है। छायावादी काव्य की तरह उस पर भी मानवीय चेतना की आरोप दिखाई देता है। अनुभूति और कल्पना का इतना एकतान संयोग अन्यत्र नहीं मिलेगा। प्रेमचंद ने कहानियों को व्यष्टि–जीवन से समष्टि–जीवन की ओर मोड़ा। प्रसाद की कहानियों छायावादी काव्य–चेतना के इतने समीप है कि वे स्वयं प्रगीतात्मक हो गई हैं। उनमें मिश्रित भावों के द्वंद्व मुख्यत: काव्यात्मक और व्यक्तिमूलक हैं, इसलिए सामान्य जीवन का प्रवाह वहाँ नहीं मिलेगा। प्रेमचंद ने कहानियों पर लदी हुई आलंकारिता को अनलंकृत कर उन्हें सहज बनाया।

यों प्रेमचंद की आरंभिक कहानियों में एक दूसरा अलगाव दिखाई पड़ता है। इसे सामान्यत: आदर्शवाद के नाम से पुकारा जाता है। पर उसे सुधारवाद कहना चाहिए। बड़े घर की बेटी का बड़प्पन, बाल–विवाह का विरोध, विधवा–विवाह का समर्थन सुधारवाद के अंतर्गत ही आता है। पर क्रमश: उनमें परिवर्तन आया और उन्होंने यथार्थ भारतीय जीवन को आँकने का पूरा प्रयास किया। इस देश के मध्यवर्गीय समाज को इतने वैविध्य के साथ कहानियों में चित्रित करने का प्रयत्न किसी अन्य व्यक्ति ने नहीं किया। संख्या में भी उन्होंने काफी कहानियाँ लिखी हैं–दो सौ चौबीस। कुछ ही कहानियाँ लिखने के बाद प्राय: कहानीकार अपने को दुहराने लगते हैं किन्तु प्रेमचंद ने अपने को दुहराया नहीं है। यह उनकी दृष्टि–व्याप्ति का सूचक है। घरेलू जीवन की समस्याओं तथा सामाजिक जीवन की विडम्बनाओं को जिस ढंग से उन्होंने चित्रित किया है वे

बहुत जटिल तो नहीं पर तात्कालीन परिवारों और संस्थाओं को उजागर करने में पूर्णत: समर्थ हैं। उनकी आदर्शोन्मुख और अनसंकृत कथा-शैली भारतीय कथा-आख्यायिका के मेल में अधिक है।

पर बाद में चलकर प्रेमचंद ने अनुभव किया कि उनके आदर्श जीवन में फलीभूत नहीं हुए। इसलिये कल्पनात्मक आदर्श का पल्ला छोड़कर वे यथार्थ जीवन की कटुताओं का चित्रण करने लगे। 'पूस की रात' और 'कफन' में उनके बदले हुए दृष्टिकोण तथा नई संरचना को देखा जा सकता है। इन दोनों कहानियों को विशेष रूप से अंतिम कहानी को पूर्णत: आधुनिक कहा जा सकता है। ये कहानियाँ किसी आदर्श की खूँटी पर नहीं टँगी हैं। इनमें आलोचक यह नहीं बता सकता कि कहानी का संप्रेश्य कोई खास वस्तु है। वे अपना संप्रेश्य स्वयं हैं-आदि से अन्त तक। कोई परिणति नहीं है कोई चरमोत्कर्ष नहीं है। केवल सांकेतिकता है, पाठकों की काल्पना को उड़ान भरने की छूट है। आज की आलोचना में जिस भाषिक सर्जना की चर्चा की जाती है उसे इनमें पूरी ऊँचाई पर देखा जा सकता है। दोनों ही कहानियाँ अन्वेषण की प्रक्रिया का सुन्दर नमूना हैं। आश्चर्य तो यह देख कर होता है कि आज की जिंदगी में जिस विदूषकत्व का प्रवेश देखा जा रहा है उसके तेवर 'कफन' में मौजूद हैं। किन्तु इस विदूषकत्व को (जो तथाकथित आलोचकों की दृष्टि में विकृति है) उन्होंनें रचनात्मक संदर्भ में रखा है, जो समूचे समाज को नंगा करते हुए एक अर्थपूर्ण मूल्यदृष्टि को संकेतिक करता है। एक ऐतिहासिक संगति के फलस्वरूप कफन में आधुनिक जीवन का अकेलापन और डीह्यूमनाइजेशन सदृश्य में ही समाविष्ट हो गया है। यह हिन्दी की पहली आधुनिकता बोध की कहानी है। प्रसाद और प्रेमचंद संस्थान के जो लेखक हुए उनमें विकास का कोई क्रम लक्षित नहीं होता है। उनकी कहानियों में अपने स्वतंत्र व्यक्तित्त्व की झलक प्राय नहीं मिलती। रायकृष्णदास प्रसाद-संस्थान के लेखक हैं। चंडीप्रसाद हृदयेश में प्रसाद की काव्यात्मकता नहीं है, उनकी अलंकृति मात्र है। प्रेमचंद संस्थान के लेखकों में सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ कौशिक, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि की गणना की जाती है।

उग्र और जैनेन्द्र

सन 1922 ई. में उग्र का हिन्दी-कथा-साहित्य में प्रवेश होता है। उग्र न तो प्रसाद की तरह रोमैंटिक थे और न ही प्रेमचंद की भाँति आदर्शोन्मुख

यथार्थवादी। वे केवल यथार्थवादी थे-प्रकृति से ही उन्होंने समाज के नंगे यथार्थ को सशक्त भाषा-शैली में उजागर किया। समाज की गंदगी को अनावृत करने के कारण तथाकथित शुद्धतावादी आलोचकों ने उनकी तीखी आलोचना की। उनके साहित्य को घासलेटी साहित्य कहा गया। उन्होंने सामाजिक कुरूपताओं पर तीखा प्रहार किया। दोजख की आग, चिन्गारियाँ, बलात्कार, सनकी अमीर, चाकलेट, इन्द्रधनुष आदि उनकी सुप्रसिद्ध कहानियाँ हैं। इन कहानियों को अमर्यादित और विघातक बताया गया है। लेकिन यदि उनकी बहुत सी कहानियाँ अमर्यादित हैं तो आज के लेखकों की अनेक कहानियों के संबंध में भी यही कहना होगा। उग्र की कहानियों के लिये एक प्रतिमान तथा आज की वैसी ही कहानियों के लिये दूसरा प्रतिमान नहीं लागू किया जा सकता। आज के संदर्भ में उग्र की कहानियों पर पुनर्विचार करने की जरूरत है। चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन आदि पर उग्र का प्रभाव देखा जा सकता है।

1927-28 ई. में जैनेन्द्र ने कहानी लिखना आरंभ किया। उनकी पहली कहानी खेल (सन 1927 ई) विशाल भारत में प्रकाशित हुई थी। फाँसी (1928 ई.) वातायन (1930 ई.) नीलम देश की राजकन्या (1933 ई.), एक रात (1934 ई.), दो चिड़ियाँ (1934 ई.), पाजेब (1942 ई.), जयसंधि (1947 ई.) आदि उनके कहानी संग्रह हैं। उनके आगमन के साथ ही हिन्दी-कहानी का नया उत्थान शुरू होता है।

नए उत्थान का मतलब मनोवैज्ञानिक कहानियाँ कहने से स्पष्ट नहीं होता। उन्हें हिन्दी का शरद्चंद्र कह कर भी लोग भ्रांति की सृष्टि करते हैं। जैनेंद्र में शरद्चंद्र की रुआँसी भावुकता नहीं है। जैनेन्द्र की कहानियों में एक विशिष्ट प्रकार के जीवन-दर्शन की खोज है। प्रसाद की कहानियों में भी मन का गहरा द्वंद्व चित्रित हुआ है। पर इस द्वंद्व के आयाम सीमित हैं। जैनेन्द्र मन की परतें उघाड़ते हैं और उसके माध्यम से सत्यान्वेषण का प्रयास करते हैं। कहानियों के माध्यम से सत्यान्वेषण का यह प्रयास पहली बार जैनेन्द्र की कहानियों में दिखाई पड़ता है। जैनेन्द्र का कहना है-कहानी तो एक भूख है, जो निरंतर समाधान पाने की कोशिश करती है। हमारे अपने सवाल होते हैं, शंकाएँ होती हैं, चिंताएँ होती हैं और हम उनका उत्तर, उनका समाधान खोजने का सतत् प्रयत्न करते रहते हैं। हमारे प्रयोग होते रहते हैं। ...। इस अन्वेषण की प्रक्रिया गाँधीवादी अहिंसा और फ्रायडवादी अचेतन मन के व्यापार से संबंध है। इसलिये जगह जगह नैतिक मानों का प्रश्न उठता है। पर जैनेन्द्र में एक प्रकार के रहस्य और गुह्यता के भी दर्शन

होते हैं। यह उनकी विशेषता और कमजोरी दोनों हैं। आगे चलकर जहाँ उनका दर्शन शिथिल और अन्वेषणहीन हो गया है बहाँ उसका तेवर अधिक स्थूल और चटकीला है। परवर्ती कहानियों की मुद्राएँ इसी तरह की हैं। उनकी कहानियों की संरचना व्यक्ति के बिंदु से शुरु होती है। अवचेतन मन की कुछ गुत्थियाँ उछाल दी जाती हैं। वे कभी अपनी ही किसी दूसरी प्रवृत्ति अथवा बाह्य नैतिकता से टकराती हैं। यह टकराहट आत्मपीड़ा और अहं के विलगन में परिणत होकर कहानी बन जाती है। उनमें प्राय तार्किक अन्विति का अभाव मिलता है और उसकी पूर्ति वे तर्कातीत रहस्य से करते हैं। आगे कुछ दिनों तक प्रेमचंद और जैनेन्द्र की परंपराओं का विकास ही हिन्दी-कहानी का विकास माना गया है।

यशपाल

यशपाल मूलत: प्रेमचंद की परम्परा के कहानीकार हैं। '1936 ई. में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हो चुकी थी। इस समय के लेखकों की रचनाओं में प्रगतिशीलता के तत्त्व का जो समावेश हुआ उसे युगधर्म समझना चाहिए। यशपाल राष्ट्रीय संग्राम के एक सक्रिय क्रांतिकारी कार्यकर्ता थे। इसलिये साहित्य के वे साधन समझते थे, साध्य नहीं। स्पष्ट है कि उनकी कहानियाँ किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये लिखी गई हैं। प्रेमचंद धन के दुश्मन थे तो यशपाल धनी के। धनी वर्ग हमारे समाज के कोढ़ हैं। सारी सांस्कृतिक-नैतिक असंगतियों के मूल में धन की विषमता ही क्रियाशील है। मार्क्स के साथ ही इन पर फ्रायड का भी गहरा प्रभाव है। फलत: यौन-चेतना के खुले चित्र भी इनके कहानी उपन्यासों में मिलेंगे। इनके दर्जनों कहनी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं - पिंजड़े की उड़ान, वो दुनिया, ज्ञानदान, अभिशप्त, तर्क का तूफान, भस्मावृत चिन्गारी, फूलों का कुर्ता, उत्तमी की माँ आदि। यशपाल की कहानियों को दृष्टांत के रूप में ग्रहण करते हैं। इसलिए उनकी कहानियाँ बहुत कुछ नियोजित होती हैं। इस नियोजन का मुख्य आधार कल्पना है-अनुभूति नहीं। प्रेमचंद की रचना-प्रक्रिया से इनकी रचना-प्रक्रिया काफी मिलती-जुलती है। प्रेमचंद की कहानियों में (कुछ को छोड़कर) पहले कोई स्थिर विचार आता है और बाद में उसके अनुसार कहानी के पात्र, स्थितियाँ घटनाएँ आदि को अन्वेषित कर लिया जाता है। यशपाल की प्रक्रिया इससे भिन्न नहीं है। प्रेमचंद में सुधारवाद की प्रमुखता है तो यशपाल में मार्क्सवाद और फ्रायडवाद की। वे विचारों के कहानीकार हैं, चिन्तन के नहीं। सामाजिक विशेषताओं और मध्यवर्गीय समाज के

खोखलेपन पर गहरा व्यंग करने में ये बेजोड़ हैं। यशपाल की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कथा का रस उनमें सर्वत्र मिलता है।

अज्ञेय

अज्ञेय प्रयोगधर्मा कलाकार हैं। उनके आगमन के साथ कहानी नई दिशा की ओर मुड़ी। जिस आधुनिकता बोध की आज बहुत चर्चा की जाती है उसके प्रथम पुरस्कर्ता अज्ञेय ही ठहरते हैं- काव्य में भी, कथा-साहित्य में भी। प्रयोगधर्मा होने के साथ साथ वे अपने अभिजातीय संस्कारों के कारण सचेत भी हैं। उनकी आरंभिक कहानियों में रोमानी विद्रोह दिखाई पड़ता है। लेकिन क्रमश वे रोमांस से हटते गये। अहं के विसर्जन का उल्लेख वे बार बार करते हैं, यह रोमांस से अलग होने का प्रयत्न ही है। उनकी श्रेष्ठ कहानियों में उनके अहं ने दखल नहीं दिया है। इसलिये वे अपनी संश्लिष्टता में अपूर्व बन पड़ी है। विपगाथा (1937 ई.), परंपरा (1944 ई.), कोठरी की बात (1945 ई.), शरणार्थी (1947 ई.), जयदोल (1951 ई.) और ये तेरे प्रतिरुप उनके कहानी संग्रह हैं। पहले दोनों संग्रहों की कहानियों में अहं का विस्फोट और रोमानी विद्रोह है। शरणार्थी की कहानियाँ बौद्धिक सहानुभूति से प्रेरित होने के कारण रचनात्मक नहीं बन पड़ी हैं। पर जयदोल संग्रह की कहानियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। इस संग्रह की अधिकांश कहानियों में अहं पूर्णत विसर्जित है। अपने से हट कर उसकी दृष्टि में समग्रता और रचना में संश्लिष्टता आ गई है। उदाहरणार्थ उनकी दो कहानियों को (गैंग्रीन-रोज और पठार का धीरज) देखा जा सकता है। 'गैंग्रीन' में मध्यवर्ग की एकरसता को समग्रत: लिया गया है। यह एकरसता उसके संरचनात्मक स्तर पर चित्रित मिलेगी। उसे परिणति या निचोड़ के रूप में नहीं पाया जा सकता है - उसे पाने के लिये कहानी को समग्रत ही लेना होगा। 'गैंग्रीन' मध्यवर्गीय जीवन की एकरसता का जबरदस्त प्रतीक है। पर इसे परिवेश, फ्लैश बैक, बिंब, प्रतीक के माध्यम से रचा गया है। न फालतू शब्द और न ही प्रारंभिक कहानियों की तरह विशेषणों की भरमार। घरेलू वातावरण, तीन का गजर, घंटे का टन-टन, पाइप का टप-टप आदि सभी कुछ एकरस परिवेश की रचना करते हैं। 'पठार का धीरज' भी अपनी रचनात्मक संश्लिष्टता और आधुनिकता बोध के कारण महत्त्वपूर्ण बन पड़ी है। दो युगों की प्रेम-कहानियाँ जो अपना अलग-अलग बोध देती हैं, एक आन्तरिक संगति में बंधकर पैरेबुल के निकट पहुँच जाती हैं।

अन्य रचनाकार

अश्क प्रेमचंद परंपरा के कहानीकार हैं। उन्होंने भी मध्यवर्गीय समाज से कथावस्तु का चयन किया है। कहानी संबंधी विविध प्रयोग उनकी रचना में मिलेंगे। पर प्रयोगधर्मी रचनाओं में एक प्रकार की आयासजन्य कृत्रिमता मिलती है। जीवन की गहरी अनुभूति डाची, काकड़ां का तेली जैसी कहानियों में उपलब्ध होती है। अश्क के अतिरिक्त वृंदावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, अमृतलाल नागर आदि उपन्यासकारों ने भी कहानियों के क्षेत्र में काम किया है। किन्तु इनका वास्तविक क्षेत्र उपन्यास है कहानी नहीं। इसके बाद सन् 50 ई. के आसपास से हिन्दी कहानियाँ नए दौर से गुजरने लगती हैं। इन दो दशकों में विकसित कहानियों की प्रवृति को एक नाम देना कठिन है। यदि कोई नाम दिया जा सकता है तो वह है आधुनिकता बोध की कहानियाँ। आधुनिकता यानि विज्ञान और प्रविधि की यांत्रिकता में जकड़े जटिल-जीवन-बोध की कहानियाँ।

परंपरागत हिन्दी कहानियों से अलगाने के लिए इन्हें नई नई कहानियाँ कहा जाने लगा। वस्तुत नई कहानियाँ नाम नई कविता के वजन पर रखा गया। कुछ लोग इन कहानियों को पूर्ववर्ती पीढ़ी की कहानियों का विकास मानते हैं और कुछ परंपरा से कटकर या उसे अस्वीकार कर इसे एकदम नई कहने की हठधर्मी से बाज नहीं आते। वस्तुत इन नामों में कुछ अर्थपूर्ण नहीं है।

नई कहानी से भी अपने को अलगाने के लिए और और नाम रखे गये- सचेतन कहानी, अकहानी आदि। पर नामों पर बहस करना बेमानी है। कहानी तो कहानी है। युग परिवर्तन के साथ उसकी प्रवृत्तियाँ बदलेंगी ही। स्वतंत्रता-प्राप्ति के कुछ ही वर्षों बाद भारतीय परिवेश में प्रसन्नता-अवसाद के विरोधी स्वर सुनाई पड़ने लगे। कुछ लोग राष्ट्रीय आकांक्षाओं के पूर्त्यर्थ आशान्वित थे और कुछ लोगों का मोह-भंग हो चुका था। स्वतंत्रता की प्राप्ति एक रोमेंटिक घटना थी। ग्राम तथा उसके अंचल संबद्ध कहानियों में रोमानी यथार्थ चित्रित हुआ है। शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय और फणीश्वरनाथ रेणु की कहानियों को इसी कोटि में रखा जा सकता है। उनकी कुछ कहानियों में जीवट भी मिलता है। किंतु इस तरह की अधिकांश कहानियाँ, जाने-समझे और आंशिक रूप से भोगे यथार्थ पर आधारित होने पर भी, पुराने मूल्यों का ही प्रतिपादन करती हैं। इन दो दशकों में देखते देखते दादा, बाबा, माई के प्रति व्यक्त की गई आस्था उलट गई और वह पुराने-नए मूल्यों के संघर्ष के रूप में चित्रित की जाने लगी। यह टकराहट नए बदलाव की सूचना देती है।

आधुनिक जीवन कुछ ऐसा टूट गया है कि पुराने सारे संबंध बदल गए हैं। रागपूर्ण संबंध अपने तनावों में मूल्यहीन होने के साथ अर्थहीन भी हो गये हैं। मोहन राकेश ने इन तनावों को मुख्य रूप से अपनी कहानियों में व्यक्त किया है। कमलेश्वर तनावों के बीच मूल्य दृष्टि की तलाश करते हैं। निर्मल वर्मा मूलत: रोमेंटिक होते हुए भी कुछ कहानियों में आज की सामाजिक विडंबना-निरर्थक चीख-को प्रभावशाली ढंग से चित्रित करते हैं। धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय और नरेश मेहता कवि पहले हैं और कहानीकार बाद में। इनमें भारती का व्यक्तित्त्व सबसे अधिक निर्लेप क्षमतावान और मूल्यपरक है। उनकी कहानियों पर उनका कवि व्यक्तित्त्व कहीं हावी नहीं होता। यथाप्रसंग वह सहायता ही पहुँचाता है। इस संग्रह में संग्रहित 'गुलकी बन्नो' इसका प्रमाण है।

राजेंद्र यादव, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, कृष्णा सोबती, श्रीकांत वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद, राजकमल चौधरी आदि तनावों के ही कहानीकार हैं। ये तनाव, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहन, प्रेमी-प्रेमिका सभी में दिखाई पड़ेंगे। व्यक्ति और समाज के बीच गहरी खाई पैदा हो गई है। तनावों के बीच रहने वाले व्यक्ति अपने को अकेले, अजनबी और संत्रस्त पा रहे हैं। यह इस देश के बुद्धिजीवियों की ही स्थिति नहीं है। अन्य देशों के लोग भी इल स्थिति का और भी तीखेपन के साथ अनुभव कर रहे हैं। सारा जीवन इतना जटिल और यांत्रिक हो गया है कि मनुष्य यंत्रगतिक हो चला है। उसकी अपनी पहचान गुम हो गई है। स्थिति यहाँ तक बिगड़ गई है कि उसके लियें जिंदगी का अर्थ है कि वह अर्थहीन है। एक और पीढ़ी यानि ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, विजयमोहन सिंह, रवीन्द्र कालिया, महेन्द्र भल्ला आदि की कृतियाँ इनकी कहानियों में आधुनिकता का वह रूप है, जो ऊब, घुटन, व्यर्थता आदि को अभिव्यक्त करता है। ये कहानीकार प्राय: त्रासद मानवीय स्थितियों से उबर नहीं पाते। इन कहानीकारों में ज्ञानरंजन की दृष्टि सर्वाधिक संतुलित, गैर रोमानी और नए उन्मेषों को पकड़ पाने में समर्थ है। अगले दौर के कहानीकारों की सूची लंबी है-काशीनाथ सिंह, इब्राहिम शरीफ, इजराइल, विश्वेशवर, सुधा अरोड़ा आदि। काशीनाथ सिंह और इब्राहिम शरीफ आधुनिकता से अलग हट कर जीवन की विसंगतियों में ही

सही रास्ते की तलाश की कोशिश की है। अर्थहीन जीवन को अर्थ देने की यह प्रक्रिया स्वस्थ प्रवृति की सूचक है।

समालोचना

कहानी एक अत्यंत लोकप्रिय विधा के रूप में स्वीकृत हो चुकी है। प्रायः सभी पत्र-पत्रिकाओं में, पाठकीय माँग के फलस्वरूप, कहानियों का छापा जाना अनिवार्य हो गया है। इस देश की प्रत्येक भाषा में केवल कहानियों की पत्रिकाएँ भी संख्या में कम नहीं हैं। रहस्य, रोमांस और साहस की कहानियों के अतिरिक्त उनमें जीवन को गंभीर रूप में लेने वाली कहानियाँ भी छपती हैं। साहित्यिक दृष्टि से इन्हीं का महत्त्व है। ये कहानियाँ चारित्रिक विशेषताओं, 'मूड', वातावरण, जटिल स्थितियों आदि के साथ सामाजिक-आर्थिक जीवन से भी संबंद्ध होती हैं। सामानयतः कहानी मीमांसा के लिए छः तत्त्वों का उल्लेख किया जाता है–

1. कथावस्तु
2. चरित्र-चित्रण
3. कथोपकथन
4. देशकाल
5. भाषाशैली और
6. उद्देश्य।

किंतु इन प्रतिमानो का प्रयोग नाटक और उपन्यासों के लिए भी होता है। ऐसी स्थिति में भ्रांति की सृष्टि हो सकती है। लेकिन इसका परिहार यह कह कर लिया जाता है कि कहानी की कथावस्तु इकहरी होती है। चरित्र के लिए किसी पहलू का चित्रण होता है। कथोपकथन अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म तथा मर्मस्पर्शी होता है। कहानी में एक देश और एक काल की जरूरत होती है। सन् साठ के बाद की कहानियों का तेवर बदला हुआ है। इन कहानियों को साठोत्तरी कहानी कहा जाता है। इस दौर में कई कहानी आंदोलन चले जिनमें अकहानी, सहज कहानी, सचेतन कहानी, समांतर कहानी और सकिय कहानी आंदोलन प्रमुख थे। बाद में जनवादी कहानी आंदोलन में इनका समाहार हो जाता है। नब्बे के दशक की कहानी और 21 वीं सदी के पहले दशक की कहानी का अभी तक समुचित मूल्ध्यांकन नहीं हो पाया है लेकिन उनमें वैश्ध्वीकरण, सूचना तंत्र और बाजारवाद की अनुगँज साफ सुनी जा सकती है। नब्बे का दशक दलित

विमर्श और स्त्री विमर्श के उभार का दशक भी था। घ इस दशक में स्त्री सशक्तिकरण , उसके अधिकारों की लड़ाई और अभिव्यक्ति की छटपटाहट की अनुगूंज स्त्री रचनाकारों की कहानियों में बखूबी सुनाई देती है। इसी तरह दलित रचनाकारों ने भी अपनी स्वानुभूतियों के रंग से हिंदी कहानी को नया रंग और मोड़ दिया। आज के दौर में तकनीकी विकास को रेखांकित करती हुई और उससे उत्पन्न खतरों को व्याख्यायित करने वाली कहानियां भी खूब लिखी जा रही हैं।

9

हिन्दी नाटक का इतिहास

हिन्दी साहित्य में नाटक का विकास आधुनिक युग में ही हुआ है। इससे पूर्व हिन्दी के जो नाटक मिलते हैं, वे या तो नाटकीय काव्य हैं अथवा संस्कृत के अनुवाद मात्र या नाम के ही नाटक हैं, क्योंकि उनमें नाट्यकला के तत्त्वों का सर्वथा अभाव है, जैसे नेवाज का 'शकुन्तला', कवि देव का 'देवमायाप्रपंच', हृदयराम का 'हनुमन्नाटक' राजा जसवन्तसिंह का 'प्रबोधचन्द्र चन्द्रोदय' नाटक आदि। रीवां नरेश विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक माना जाता है। जो लगभग 1700 ई. में लिखा गया था, किन्तु एक तो उसमें ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है, दूसरे वह रामलीला की पद्धति पर है। अत: वह भी आधुनिक नाट्यकला से सर्वथा दूर है। हिन्दी साहित्य के आदि और मध्य युग में गद्य अत्यन्त अविकसित स्थिति में था और अभिनयशालाओं का सर्वथा अभाव था। अस्तु, हिन्दी साहित्य के आदि और मध्य युग में नाट्यकला का विकास न हो सका, जबकि हिन्दी लेखकों के सम्मुख संस्कृत की नाट्यकला अत्यन्त विकसित और उन्नत अवस्था में विद्यमान थी। आधुनिक युग में हिन्दी नाटक का सम्पर्क अंग्रेजी से स्थापित हुआ। अंग्रेज लोग नाट्यकला और मनोरंजन में अत्यधिक रुचि रखते थे और साहित्य में नाटकों की रचना भी प्रभूत मात्रा में हो चुकी थी। इसके साथ ही इस युग में हिन्दी-गद्य भी स्थिर हो गया और उसमें अभिव्यंजना शक्ति का भी विकास हो गया। इसलिए हिन्दी-नाट्यकला को पनपने का समुचित अवसर इसी युग में आकर प्राप्त हुआ।

आधुनिक हिन्दी नाटक

आधुनिक काल की अन्य गद्य-विधाओं के ही समान हिन्दी नाटक का भी आरम्भ पश्चिम के संपर्क का फल माना जाता है। भारत के कई भागों में अंग्रेजों ने अपने मनोरंजन के लिए नाट्यशालाओं का निर्माण किया जिनमें शेक्सपीयर तथा अन्य अंग्रेजी नाटककारों के नाटकों का अभिनय होता था। उधर सर विलियम जोन्स ने फोर्ट विलियम कॉलेज में संस्कृत के 'अभिज्ञान शाकुन्तलं' के हिन्दी अनुवाद के अभिनय की भी प्रेरणा दी। इस बीच 'अभिज्ञान शाकुन्तलं' के कई हिन्दी अनुवाद हुए जिनमें राजा लक्ष्मण सिंह का अनुवाद आज भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सन् 1859 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गोपालचन्द्र ने 'नहुष' नाटक लिखा और उसको रंगमंच पर प्रस्तुत किया। इधर पारसी नाटक कम्पनियां नृत्य: संगीत प्रधान, नाटकों को बड़े धूम-धड़ाके से प्रस्तुत कर रही थी जिससे सुरुचि सम्पन्न तथा साहित्यिक गुणों के खोजी हिन्दी-साहित्यकार क्षुब्ध थे। इस सबसे प्रेरित होकर भारतेन्दु बाबू ने जनता की रुचि का परिष्कार करने के लिए स्वयं अनेक नाटक लिखे और अन्य लेखकों को नाट्य साहित्य की रचना के लिए प्रोत्साहित किया।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हिन्दी-नाट्यकला के विकास को चार कालों में बाँटा जा सकता है–

(1) भारतेन्दुयुगीन नाटक: 1850 से 1900 ई.
(2) द्विवेदी युगीन नाटक: 1901 से 1920 ई.
(3) प्रसाद युगीन नाटक: 1921 से 1936 ई.
(4) प्रसादोत्तर युगीन नाटक: 1937 से अब तक

भारतेन्दु-युगीन नाटक

हिन्दी में नाट्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन भारतेन्दु द्वारा होता है। भारतेन्दु युग नवोत्थान का युग था। भारतेन्दु देश की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक दुर्दशा से आहत थे। अत: साहित्य के माध्यम से उन्होंने समाज को जाग्रत करने का संकल्प लिया। समाज को जगाने में नाटक सबसे प्रबल सिद्ध होता है। भारतेन्दु ने इस तथ्य को पहचाना और नैराश्य के अन्धकार में आशा का दीप जलाने के लिए प्रयत्नशील हुए। युग-प्रवर्तक भारतेन्दु ने अनुदितमौलिक सब मिलाकर सत्रह नाटकों की रचना की, जिनकी सूची इस प्रकार है–

(1) विद्यासुन्दर (1868), (2) रत्नावली (1868), (3) पाखण्ड विखंडन (1872), (4) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873),

(5) धनंजय विजय (1873), (6) प्रेम जोगिनी, (1874), (7) सत्यहरिश्चन्द्र (1875), (8) मुद्राराक्षस (1875),

(9) कर्पूर मंजरी (1876), (10) विषस्य विषमोषधम् (1876), (11) श्री चन्द्रावली (1875), (12) भारत-दुर्दशा (1876),

(13) भारत जननी (1877) (14) नीलदेवी (1880), (15) दुर्लभ-बन्धु (1880), (16) अन्धेर नगरी (1881), (17) सती प्रताप (1884)।

मौलिक नाटक

भारतेन्दु जी की मौलिक कृतियों में वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेमयोगिनी, विषस्य विषमोषधम्, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी तथा सती प्रताप हैं। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेम योगिनी और पाखण्ड विखंडन में धार्मिक रूढ़ियों और विडम्बनाओं से ग्रस्त समाज के पाखण्ड, आडम्बर, भ्रष्टाचार आदि का नाटकीय आख्यान हुआ है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में ऊपर से सफेदपोश दिखने वाले धर्मात्माओं के साथ ही तत्कालीन देशी नरेशों और मंत्रियों के व्यभिचार की पोल खोली गयी है। अपने युग की धार्मिक स्थिति के प्रति जो तीव्र आक्रोश नाटककार में है, वही उसकी अपूर्ण नाटिका 'प्रेमयोगिनी' में प्रस्तुत हुआ है। 'पाखण्ड विखंडन' में हिन्दुओं के सन्त-महन्तों की हीन दशा का चित्रण हुआ है। इस प्रकार धार्मिक पाखण्डों का खण्डन करना ही इन नाटकों का मूल स्वर रहा है।

भारतेन्दु-युग में अंग्रेजों ने बहुत से राजाओं से उनका शासन छीन कर उनका राज्य अपने अधीन कर लिया था। अंग्रेजों की इस नीति की प्रशंसा पर गुलामी के भय के द्वन्द्व की परिकल्पना 'विषस्य विषमौषधम्' प्रहसन में साकार हो उठी है। देशोद्धार की भावना का संघर्ष भारतेन्दु जी के 'भारत जननी' और 'भारत दुर्दशा' में घोर निराशा के भाव के साथ प्रस्तुत होता है। 'भारत दुर्दशा' में भारत के प्राचीन उत्कर्ष और वर्तमान अध:पतन का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है–

रोअहु सब मिलि, आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

भारतेन्दु ने राजनीतिक संघर्ष की पृष्ठभूमि पर नौकरशाही की अच्छी आलोचना करते हुए 'अंधेर नगरी' प्रहसन लिखा है। 'अन्धेर नगरी' के चौपट राजा को फांसी दिलाकर नाटककार कामना करता है कि कभी इस अयोग्य राजा की तरह नौकरशाही भी समाप्त होगी और देश के कुशासन की समाप्ति होगी। अंग्रेजों के शासन से देश मुक्ति की कामना ही 'नील देवी' नाटक में ऐतिहासिक पृश्ठभूमि पर उभरती है। साथ ही तत्कालीन समाज में तीव्रता से उठ रहे 'नारी स्वातंत्रय' के पक्ष विपक्ष के द्वन्द्व को भी प्रस्तुत किया है।

''चन्द्रावली' और 'सती प्रताप' प्रेम की कोमल अभिव्यंजना से अभिभूत नाटक हैं। चन्द्रावली में ईश्वरोन्मुख प्रेम का वर्णन है। 'सती प्रताप' में भी पति-प्रेम का अनुकरणीय उज्जवल आदर्श है। इस प्रकार भारतेन्दु के नाटकों में भी प्रेम धारा तथा शृंगारिक मोहकता का वातावरण बना रहा है।

अनुदित और रूपान्तरित नाटक

भारतेन्दु ने अंग्रेजी, बंगला तथा संस्कृत के नाटकों के हिंदी अनुवाद भी किए, जिनमें रत्नावली नाटिका, पाखण्ड विखंडन, प्रबोध-चंद्रोदय, धनंजय-विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्रा राक्षस तथा दुर्लभ बन्धु आदि हैं। अंग्रेजी से किए गए अनुवादों में भारतेन्दु की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने उसमें भारतीय वातावरण एवं पात्रों का समावेश किया है। सभी नाटकों में मानव-हृदय के भावों की अभिव्यक्ति के लिए गीतों की योजना की है। इन नाटकों का अनुवाद केवल हिन्दी का भण्डार भरने की दृष्टि से नहीं किया गया बल्कि हिन्दी नाटकों के तत्त्वों में अपेक्षित परिवर्तन के लिए दिशा-निर्देश करने के उद्देश्य से किया गया। रूपांतरित नाटकों में 'विद्या सुन्दर' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक आते हैं। 'विद्यासुन्दर' में प्रेम विवाह का समर्थन करते हुए भारतेन्दु मां-बाप के आशीर्वाद को अनिवार्य मानते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में सामाजिक विकृतियों से ऊपर उठ कर सत्य के आदर्शों से अनुप्राणित होने का आह्वान किया है।

नाट्य-शास्त्र के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त भारतेन्दु ने 'नाटक' निबन्ध लिख कर नाटक का सैद्धान्तिक विवेचन भी किया है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर-अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक एवं मौलिक नाटकों की रचना ही नहीं की, अपितु उन्हें रंगमंच पर खेलकर भी दिखाया है। उनके नाटकों में जीवन और कला, सुन्दर और शिव, मनोरंजन और लोक-सेवा का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनकी शैली सरलता, रोचकता एवं स्वभाविकता के गुणों से

परिपूर्ण है। भारतेन्दु अद्वितीय प्रतिभा के धनी थे। सबसे बड़ी बात यह है कि वे अद्‌भुत नेतृत्व-शक्ति से युक्त थे। वे साहित्य के क्षेत्र में प्रेरणा के स्रोत थे। फलतः अपने युग के साहित्यकारों और नाटक तथा रंगमंच की गतिविधियों को प्रभावित करने में सफल रहे। इसके परिणामस्वरूप प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, लाला श्रीनिवास, देवकी नन्दन खत्री आदि बहुसंख्यक नाटककारों ने उनके प्रभाव में नाट्य रचना की। यह भी विचारणीय है कि भारतेन्दु मण्डल के नाटककारों ने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, चरित्रप्रधान राजनैतिक आदि सभी कोटियों के नाटक लिखे। इस युग में लिखे गये नाटक परिमाण और वैविध्य की दृष्टि से विपुल हैं। यहाँ मुख्य धाराओं का परिचय प्रस्तुत है:

(क) पौराणिक धाराः इसकी तीन उपधाराएं: (1) रामचरित सम्बन्धी, (2) कृष्णचरित सम्बन्धी तथा (3) अन्य पौराणिक आख्यानक सम्बन्धी हैं। रामचरित सम्बन्धी नाटकों में देवकीनन्दन खत्री-कृत 'सीताहरण' (1876) और 'रामलीला' (1879), शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'रामचरित्र नाटक' (1891) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'ललिता' (1884), हरिहरदत्त दूबे-कृत 'महारास' (1885) और 'कल्पवृक्ष' तथा सूर्यनारायण सिंह कृत 'श्यामानुराग नाटिका' (1899) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण-परिवार के व्यक्तियों के चरित्र से सम्बन्धी नाटकों में चन्द्र शर्मा-कृत 'उषाहरण' (1887), कार्तिक प्रसाद खत्री-कृत उषाहरण (1892) और अयोध्यासिंह उपाध्याय-कृत 'प्रद्युम्न-विजय' (1893) तथा 'रुक्मणी परिणय' (1894) हैं। पौराणिक आख्यानकों से सम्बन्धी गजराजसिंह-कृत 'द्रोपदी हरण' (1882), श्री निवासदास-कृत 'प्रींद चरित्र' (1888), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'नल-दमयन्ती स्वयंवर' (1895) और शालिग्राम लाल-कृत अभिमन्यु (1898) प्रसिद्ध हैं।

(ख) ऐतिहासिक धाराः ऐतिहासिक नाटक-धारा 'नीलदेवी' से प्रारम्भ होती है। ऐतिहासिक नाटकों में श्रीनिवासदास-कृत 'संयोगिता स्वयंवर' (1886), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'अमर सिंह राठौर' (1895) और राधाकृष्ण दास-कृत 'महाराणा प्रताप' (1896) ने विशेष ख्याति प्राप्त की।

(ग) समस्या-प्रधान धाराः भारतेन्दु ने अपने सामाजिक नाटकों और प्रहसनों में नारी समस्या को जिस ढंग से उठाया था, वहीं उनके मण्डल के सभी नाटककारों पर छाया रहा। प्राचीन आदर्शों के अनुरूप उनमें पतिनिष्ठा की प्रतिष्ठा की गयी और नवीन भावनाओं के अनुरूप, बाल-विवाह-निषेध, पर्दा-प्रथा का

विरोध और विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया गया। श्री राधाचरणदास-कृत 'दु:खिनी बाला' (1880), प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'कलाकौतुक' (1886), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1913), काशी नाथ खत्री-कृत 'विधवा विवाह' (1899) बाबू गोपालराम गहमरी-कृत 'विद्या विनोद' आदि नाटक नारी-समस्याओं को केन्द्र-बिन्दु मानकर लिखे गये। इन समस्या-प्रधान नाटकों का मूलस्वर समाज-सुधार है। इस युग में जो तीव्र संघर्ष सामाजिक स्तर पर सुधारवाद की भावना से हो रहा था, वैसा इस काल के नाटकों में नहीं दिखाई देता। इनमें नाटक के नाम पर समस्याओं का वर्णन मात्र हुआ है। पिफर भी इनमें सामाजिक जागरूकता मुख्य हुई है। इसमें संदेह नहीं कि ये अपने इसी स्वरूप में आगे के नाटकों के लिए कड़ी या आधार रहे।

(घ) प्रेम-प्रधान-धारा: रीतिकाल की शृंगारिक प्रवृत्ति भारतेन्दु: युग की कविताओं में ही नहीं नाटकों में भी देखने को मिल जाती है। प्रेम-प्रधान रोमानी नाटकों में श्रीनिवास दास-कृत 'रणधीर प्रेममोहनी' (1877), किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'मयंक मंजरी' (1891) और 'प्रणयिनी परिणय' (1890), खड्ग बहादुरमल्ल-कृत 'रति कुसुमायुध' (1885) शालिग्राम शुक्ल-कृत लावण्यवती' सुदर्शन (1892) तथा गोकुलनाथ शर्मा-कृत 'पुष्पवती' (1899) उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन नाटकों में उपदेशों की भी सर्वत्र भरमार है जिनमें समय का सदुपयोग, वेश्या से घृणा, छोटे-बड़े के भेद की व्यर्थता, भाग्यवाद में विश्वास आदि विषयों पर भी उपदेश दिये गये हैं, पिफर भी इन नाटकों की विषय-वस्तु तथा अभिप्राय रोमांटिक हैं।

(च) राष्ट्रीय प्रहसन धारा: राष्ट्रीय और व्यंग्यात्मक नाटकों की परम्परा 'नीलदेवी', 'भारत दुर्दशा' आदि द्वारा चलायी गयी थी। उसका मूल कारण सांस्कृतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से उपस्थित सक्रांति-काल ही था। प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृति की टकराहट से नवजागरण का आलोक विकीर्ण हो रहा था। भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने इस जागरण को अभिव्यक्त करने के लिए प्रहसनों को चुना। इस युग में राष्ट्रीय विचारधारा को उजागर करने वाले, खड्गबहादुर मल्ल-कृत 'भारत आरत' (1885), अम्बिका दास व्यास-कृत 'भारत-सौभाग्य' (1887), गोपाल राम गहमरी-कृत 'देश-दशा' (1892), देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत 'भारत हरण' (1899) आदि नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में देश की तत्कालीन दुर्दशा का चित्र खींचा गया है। आलोच्य युग के अनेक सफल प्रहसनों में से बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1877) और

'प्रचार बिडम्बना' (1899), विजयानन्द त्रिपाठी-कृत 'महा अंधेर नगरी' (1893), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'बूढ़े मुंह मुहासे' (1886), राधाकृष्ण दास-कृत 'देशी कुतिया विलायती बोल' आदि प्रहसनों को विशेष प्रसिद्ध प्राप्त हुई। नवीन वैचारिक आलोक के फलस्वरूप इन प्रहसनों में प्राचीन रूढियों, घिसी हुई परम्पराओं और अंध-विश्वासों पर व्यंग्य किया गया है तथा समाज के महंतों और कुटिल जनों पर प्रहार किये गये हैं।

आलोच्य युग के नाटक साहित्य का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि इस युग के नाटक विषयवैविध्य में पूर्ण हैं। भारतेन्दु युग के नाम से अभिहित इस संक्रांति काल में अनेक युग प्रश्नों यथा-कर, आलस्य, पारस्परिक फूट, मद्यपान, पाश्चात्य-सभ्यता का अन्धानुकरण, धार्मिक अंधविश्वास, पाखंड, छुआ-छूत, आर्थिक शोषण, बाल विवाह, विधवा-विवाह, वेश्या गमन आदि को नाटकों का विषय बनाया गया। ऐसा नहीं है कि किसी एक नाटक में इनमें से एक या दो बातों को लिया गया हो, पर अवसर पाते ही सभी बातें एक ही नाटक में गुम्फित हुई हैं। इससे कथानक में भले ही शिथिलता आ गई हो किंतु जनजीवन की विसंगति अवश्य स्पष्ट हो जाती है। नाटकों में प्रधान रूप से समाज में व्याप्त अशांति और व्यग्रता का चित्रण हुआ है। नाटककार अपने युग के प्रति बड़े सजग दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने भारत का अध:पतन अपनी आंखों से देखा था। चारों ओर रूढ़िग्रस्त, निष्क्रिय और मानसिक दासता में जकड़ी हुई जनता, पाश्चात्य सभ्यता का दूषित प्रभाव, भ्रष्ट राजनीति, हृदयविदारक आर्थिक अवस्था आदि ने उनके हृदय में सुधारवादी और राष्ट्रीय विचारों का उद्रेक किया। फलस्वरूप नाटकों में राष्ट्रीय जीवन को उन्नत बनाने के अनेक उपाय संकेतित हुए हैं। इनकी वाणी में नवोदित भारत की आकांक्षाओं का स्वर प्रतिध्वनित होता है।

शास्त्रीय दृष्टि से भारतेन्दु-कालीन नाटक संस्कृत-नाट्यशास्त्र की मर्यादा की रक्षा करते हुए लिखे गये। साथ ही पाश्चात्य नाट्य शास्त्र का प्रभाव भी इन पर लक्षित होता है। पाश्चात्य ट्रेजडी की पद्धति पर दु:खान्त नाटक लिखने की परम्परा भारतेन्दु के 'नीलदेवी' नाटक से प्रारम्भ हुई। इस युग के नाटक एक ओर पारसी कम्पनियों की अश्लीलता और फूहड़पन की प्रतिक्रिया थे, तो दूसरी ओर पाश्चात्य और पूर्व की सभ्यता की टकराहट के परिणाम। इसलिए उनमें अविचारित पुरानापन या अविचारित नयापन कहीं नहीं है। अभिनेयता की दृष्टि से ये नाटक अत्यधिक सफल हैं। भारतेन्दु और उनके सहयोगी स्वयं नाटकों में

भाग लेते थे और हिन्दी रंगमंच को स्थापित करने के लिए उत्सुक थे। नाटकों के माध्यम से जनता को वे जागरण का और आने वाले युग का सन्देश देना चाहते थे। इसी कारण भारतेन्दु-काल में विरचित ये नाटक सुदृढ़ सामाजिक पृष्ठभूमि पर अवस्थित थे।

अनुदित प्रस्तुत संदर्भ में भारतेन्दु युगीन, नाटकों पर विचार कर लेना भी समीचीन होगा। इस युग में संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध नाटकों के हिन्दी में अनुवाद किए गए। अनुवाद की परम्परा भी भारतेन्दु से ही प्रारम्भ हुई थी जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। उनके अतिरिक्त भी अनेक लेखक संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटक अनुदित करने में संलग्न रहे।

संस्कृत

भवभूतिः

(1) उत्तर रामचरित-देवदत्त तिवारी (1871), नन्दलाल, विश्वनाथ दूबे (1891), लाला सीताराम (1891)।
(2) मालती माधवः लाला शालिग्राम (1881), लाला सीता राम (1898)।
(3) महावीर चरितः लाला सीताराम (1897)।

कालिदास

(1) अभिज्ञान शकुन्तलाः नन्दलाल विश्वनाथ दूबे (1888)।
(2) मालविकाग्निमित्रः लाला सीताराम (1898)।

कृष्णमित्र

प्रबोध चन्द्रोदयः शीतला प्रसाद (1879), अयोध्याप्रसाद चौधरी (1885)।

शूद्रक

मृच्छकटिकः गदाधर भट्ट (1880), लाला सीताराम (1899)।

हर्ष

रत्नावलीः देवदत्त तिवारी (1872), बालमुकुन्द सिंह (1798)।

भट्टनारायण

वेणीसंहारः ज्वालाप्रसाद सिंह (1897)।

बंगला

माइकेल मधुसूदन दत्त:

(1) पद्मावती: बालकृष्ण भट्ट (1878)।

(2) शर्मिष्ठा: रामचरण शुक्ल (1880)।

(3) कृष्णमुरारी: रामकृष्ण वर्मा (1899)।

द्वारिकानाथ गांगुली: वीरनारी-रामकृष्ण वर्मा (1899)।

राजकिशोर दे: पद्मावती: रामकृष्ण वर्मा (1888)।

मनमोहन वसु: सती: उदित नारायण लाल (1880)।

अंग्रेजी

शेक्सपीयर

(1) मरचेंट आफ वेनिस (वेनिस के व्यापारी): आर्या (1888)।

(2) द कॉमेडी आफ एरर्स (भ्रमजालक): मुन्शी इमदाद अली, भूल भुलैया: लाल सीताराम (1885)।

(3) एज यू लाइक इट (मनभावन): पुरोहित गोपीनाथ (1896)।

(4) रोमियो जूलियट (प्रेमलीला): पुरोहित गोपीनाथ (1897)।

(5) मैकबैथ (साहसेन्द्र साहस): मथुराप्रसाद उपाध्याय (1893)।

(6) जोजेफ एडीसन: केटो (कृतान्त): बाबू तोता राम (1879)

भारतेन्दु-युगीन नाटककारों की अनूदित रचनाएं केवल उनकी अनुवाद वृत्ति का ही दिग्दर्शन नहीं कराती, वरन् सामाजिक जीवन के उन्नयन के लक्ष्य को भी प्रकट करती हैं। अनुवादक उन रचनाओं के माध्यम से वस्तुत: एक नाट्यादर्श प्रस्तुत करना चाहते थे और उन नैतिक तत्त्वों के प्रति भी जागरूक थे जो नव-जागरण में सहायक थे। इस प्रकार भारतेन्दु-युगीन इन नाटकों की विषय वस्तु में वैविध्य मिलता है। रामायण और महाभारत के प्रसंगों को लेकर पौराणिक नाटक बहुतायत से लिखे गये। इसी संदर्भ में ऐसे नाटकों की संख्या भी पर्याप्त कही जा सकती है, जो नारी के सतीत्व और पतिव्रता के आदर्श से सम्बन्धित है। सामाजिक नाटकों में भी विषयवस्तु का वैविध्य और विस्तार मिलता है। इस काल में मुख्य रूप से अनमेल विवाह, विधवा विवाह, बहु विवाह, मद्यपान, वेश्या गमन, नारी स्वातंत्र्य आदि समस्याओं पर विचार किया है। किन्तु युगीन सन्दर्भ के प्रति इस प्रकार की जागरूकता के बावजूद अनुभूति की तीव्रता और

नाट्य शिल्प की विशिष्टता के अभाव में इस युग का नाट्य साहित्य कोई महत्त्वपूर्ण साहित्यिक देन नहीं दे सका। फिर भी नाट्य रचना और रंगमंच के लिए जैसा वातावरण इस युग में बन गया था, वैसा हिन्दी साहित्य के किसी काल में सम्भव नहीं हुआ।

द्विवेदीयुगीन नाटक

भारतेन्दु के अनन्तर साहित्य का जो दूसरा उत्थान हुआ, उसके प्रमुख प्रेरणा-केन्द्र महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। हिन्दी नाटकों के ऐतिहासिक विकास-क्रम में पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान भारतेन्दु की तुलना में इतना नगण्य है कि नाटक के क्षेत्र में द्विवेदी-युग को अलग से स्वीकार करना और महत्त्व प्रदान करना औचित्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता है। भारतेन्दु के अवसान के साथ नाटक के हास के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। अपने युग की समस्याओं को नाट्यरूप प्रदान करने का जो अदम्य साहस भारतेन्दु युग के लेखकों में दिखाई पड़ा था उसके दर्शन द्विवेदी-युग में नहीं होते। इसके कई कारण थे। प्रथम तो हिन्दी के नाटककारों में नाटक के सूक्ष्म नियमों एवं विधियों की योजना की क्षमता न थी। दूसरे, नाटकों के इस उदयकाल की सामाजिक स्थिति विक्षोभ पैदा करने वाली थी। इस प्रवृति ने कुछ कर बैठने की प्रेरणा तो दी किन्तु भावों और विचारों को घटनाओं के साथ कलात्मक ढंग से नियोजित करने के लिए मानसिक सन्तुलन नहीं प्रदान किया। तीसरे, आर्य समाज के आन्दोलन के लेखकों पर सुधारवादी जीवन दृष्टि और शास्त्रार्थ शैली का प्रभाव पड़ा जो निश्चय ही नाटकों के कलात्मक विकास में बाधक हुआ। चौथे, पाश्चात्य 'कॉमेडी' के अंधानुकरण के कारण भारतेन्दु के उपरान्त हिन्दी साहित्य में प्रहसनों की प्रवृत्ति भी पनप उठी। प्रहसनों की वृद्धि ने साहित्यिक एवं कलात्मक अभिनयपूर्ण नाटकों की रचना में व्याघात उपस्थित किया। पांचवें, द्विवेदी-युग नैतिकता और सुधार का युग था। नैतिकता और आदर्श के प्रतिस्थापन में उनकी दृष्टिकोण संस्कृत के नाटककारों की भांति उदारवादी था अतएव भारतेन्दु-युग की नवीनता परवर्ती युग के स्वभाव के अनुकूल न थी। अतः कठोर नीतिवादी अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद के फलस्वरूप द्विवेदी-युग, भारतेन्दु-युग की परम्परा को अग्रसर नहीं कर सका।

उपर्युक्त सभी कारणों के फलस्वरूप आलोच्य युग में मौलिक नाटकों की संख्या अत्यल्प है अनुवाद-कार्य पर अधिक बल रहा है। मौलिक नाटकों में साहित्य की दो धाराएं प्रमुख हैं–

(1) साहित्यिक नाटक (शौकिया रंगमंच),
(2) मनोरंजन प्रधान नाटक (व्यावसायिक पारसी रंगमंच)

साहित्यिक नाट्य धारा को विकसित करने के उद्देश्य से अनेक नाटक मंडलियों की स्थापना की गई जेसे प्रयाग की 'हिन्दी नाटक मण्डली', कलकत्ते की नागरी नाटक मंडल' मुजफ्फरनगर की 'नवयुवक समिति' आदि। इनमें 'हिन्दी नाट्य-समिति' सबसे अधिक पुरानी थी। सन् 1893 ई. में यह 'रामलीला नाटक मंडली' के रूप में स्थापित हुई थी। इसके संस्थापकों में प्रमुख थे: पंडित माधव शुक्ल जो स्वयं अच्छे अभिनेता और रंगकर्मी थे और जिन्होंने राष्ट्रीयता चेतना प्रचार-प्रसार के लिए नाटकों को सशक्त माध्यम बनाया था। किन्तु हिन्दी रंगमंच समुचित साधन और संरक्षण के अभाव में तथा जनता की सस्ती रुचि के कारण अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाया। फलत: नाटक का साहित्यिक रूप ही सामने आया। संख्या की दृष्टि में आलोच्यकाल में लिखे गये नाटक कम नहीं हैं किन्तु मौलिक नाटकों के नाम पर ऐतिहासिक पौराणिक प्रसंगों को ही नाटकों में या कथोपकथन में परिवर्तित कर दिया गया। अध्ययन की सुविधा के लिए आलोच्य युग के नाटकों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है: पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक उपादानों पर रचित नाटक, रोमांचकारी नाटक, प्रहसन और अनूदित नाटक।

पौराणिक नाटक

हृदय की वृत्तियों की सत्त्व की ओर उन्मुख करने का प्रयास भारतेन्दु-युग के नाटकों में बहुत पहले से होता आ रहा था। द्विवेदी-युग से इन वृत्तियों के उत्कर्ष के लिए पौराणिक आख्यानों का नि:संकोच ग्रहण किया गया। आलोच्य युग में पौराणिक नाटकों के तीन वर्ग देखने को मिलते हैं: कृष्णचरित-सम्बन्धी, रामचरित सम्बन्धी तथा अन्य पौराणिक पात्रों एवं घटनाओं से सम्बन्धित। कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में राधाचरण गोस्वामी कृत 'श्रीदामा' (1904), ब्रज नन्दन सहाय-कृत 'उद्धव' (1909), नारायण मिश्र-कृत 'कंसवध' (1910), शिव नन्दन सहाय-कृत 'सुदामा।' (1907) और बनवारी लाल-कृत 'कृष्ण तथा कंसवध' (1910) को विशेष ख्याति प्राप्त है। रामचरित-सम्बन्धी नाटकों में रामनारायण मिश्र-कृत 'जनक बड़ा' (1906) गिरधर लाल-कृत 'रामवन यात्रा' (1910) और गंगाप्रसाद-कृत 'रामाभिषेक' (1910), नारायण सहाय-कृत 'रामलीला' (1911), और राम गुलाम लाल-कृत 'धनुषयज्ञ लीला (1912),

उल्लेखनीय हैं। अन्य पौराणिक घटनाओं से सम्बन्धित नाटकों में महावीर सिंह का 'नल दमयन्ती' (1905), सुदर्शनाचार्य का 'अनार्थ नल चरित' (1906), बांके बिहारी लाल का 'सावित्री नाटिका' (1908), बालकृष्ण भट्ट का 'बेणुसंहार' (1909), लक्ष्मी प्रसाद का 'उर्वशी' (1907) और हनुमंतसिंह का 'सती चरित' (1910), शिवनन्दन मिश्र का 'शकुन्तला' (1911), जयशंकर प्रसाद का 'करुणालय (1912) बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवन दहन' (1915), माधव शुक्ल का 'महाभारत-पूर्वार्द्ध' (1916), हरिदास माणिक का 'पाण्डव-प्रताप' (1917) तथा माखन लाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध (1918) महत्त्वपूर्ण हैं।

इन नाटकों का विषय पौराणिक होते हुए भी पारसी रंगमंच के अनुरूप मनोरंजन करने के लिए हास-परिहास, शोखी और छेड़छाड़ के वातावरण का ही आधार ग्रहण किया गया है।

ऐतिहासिक नाटक

पौराणिक नाटकों के साथ ही इस काल में कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे गए जिनमें: गंगाप्रसाद गुप्त का 'वीर जय माल' (1903), शालिग्राम कृत 'पुरु विक्रम' (1905), वृन्दावन लाल वर्मा का 'सेनापति ऊदल' (1909), कृष्ण प्रकाश सिंह कृत 'पन्ना' (1915), बद्रीनाथ भट्ट कृत 'चन्द्रगुप्त' (1915), हरिदास माणिक-कृत 'संयोगिता हरण' (1915), जयशंकर प्रसाद का 'राज्यश्री' (1915) और परमेश्वरदास जैन का 'वीर चूड़ावत सरदार' (1918) महत्त्वपूर्ण हैं। इन नाटकों में प्रसाद के 'राज्यश्री' नाटक को छोड़कर और किसी भी नाटक में इतिहास-तत्त्व की रक्षा नहीं हो सकी।

सामाजिक-राजनैतिक समस्यापरक नाटक

द्विवेदी-युग में भारतेन्दु-युग की सामाजिक-राजनीतिक और समस्यापरक नाटकों की प्रवृत्ति का अनुसरण भी होता रहा है। इस धारा के नाटकों में प्रताप नारायण मिश्र-कृत 'भारत दुर्दशा' (1903) भगवती प्रसाद-कृत 'वृद्ध विवाह' (1905), जीवानन्द शर्मा-कृत 'भारत विजय' (1906), रुद्रदत शर्मा-कृत 'कंठी जनेऊ का विवाह' (1906), कृष्णानन्द जोशी-कृत 'उन्नति कहां से होगी' (1915), मिश्र बन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' (1915) आदि कई नाटक गिनाए जा सकते हैं। नाट्यकला की दृष्टि से विशेष महत्त्व न रखते हुए भी ये नाटक, समाज सुधार और नैतिकवादी जीवन दृष्टि से युक्त हैं।

व्यावसायिक दृष्टि से लिखे नाटक

इस युग में पारसी रंगमंच सक्रिय रहा जिसके लिए निरन्तर रोमांचकारी, रोमानी और धार्मिक नाटक लिखे जाते रहे। पारसी नाटक कम्पनियों के रूप में व्यवसायी रंगमंच का प्रसार भारतेन्दु-युग में ही हो चुका था। इस काल में 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी', 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी', 'एल्प्रफेड थियेट्रिकल कम्पनी', 'शेक्सपीयर थिटेट्रिकल कम्पनी', 'जुबिली कम्पनी' आदि कई कम्पनियां 'गुलबकावली', 'कनकतारा', 'इन्दर सभा', 'दिलफरोश', 'गुल फरोश', 'यहूदी की लड़की', जैसे रोमांचकारी नाटक खेलती थीं। रोमांचकारी रंगमंचीय नाटककारों में मोहम्मद मियाँ रादक', हुसैन मियाँ 'जर्राफ', मुन्शी विनायक प्रसाद 'तालिब', सैयद मेंहदी हसन 'अहसान', नारायण प्रसाद बेताब', आगा मोहम्मद हश्र' और राधेश्याम 'कथावाचक' उल्लेखनीय हैं। इनमें राधेश्याम कथावाचक और 'बेताब' ने सुरुचिपूर्ण धार्मिक-सामाजिक नाटक भी लिखे, किन्तु पारसी रंगमंच का सारा वातावरण दूषित ही रहा, जिसने द्विवेदी-युग में नाट्य लेखन की धारा को कुंठित कर दिया।

प्रहसन

इस काल में अनेकानेक स्वतंत्र प्रहसन भी लिखे गये। अधिकांश प्रहसन लेखकों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव है, इसलिए वे अमर्यादित एवं उच्छृंखल हैं। प्रहसनकारों में बदरीनाथ भट्ट एवं जी. पी. श्रीवास्तव के नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। भट्ट जी के 'मिस अमेरिका', 'चुंगी की उम्मीदवारी', 'विवाह विज्ञापन', 'लबड़धोंधों' आदि शिष्ट-हास्यपूर्ण प्रहसन हैं। जी.पी. श्रीवास्तव ने छोटे-बड़े अनेक प्रहसन लिखे हैं। इन प्रहसनों में सौष्ठव और मर्यादा का अभाव है।

अनुदित नाटक

मौलिक नाटकों की कमी द्विवेदी-युग में अनूदित नाटकों द्वारा पूरी की गई। सामाजिक तथा राजनीतिक अशान्ति के इस वातावरण में लेखकों को हिन्दी नाटक-साहित्य की हीनता स्पष्ट दिखाई देती थी। अतः कुछ थोड़े उदात्तवादी परम्परा के लोगों का ध्यान संस्कृत नाटकों की ओर गया, परन्तु अधिकांश का अध्ययन बंगला तथा पाश्चात्य नाटकों की ओर ही अधिक था।

संस्कृत से लाला सीताराम ने 'नागानन्द', 'मृच्छकटिक', 'महावीरचरित', 'उत्तररामचरित', मालती माधव' और 'मालविकाग्निमित्र' और सत्यनारायण कविरत्न ने 'उत्तररामचरित' का अनुवाद किया। अंग्रेजी से शेक्सपीयर के नाटकों 'हेमलेट', 'रिचर्ड' द्वितीय', 'मैकवेथ' आदि का हिन्दी में अनुवाद भी लाला सीताराम ने किया। प्रफांस के प्रसिद्ध नाटककार ओलिवर' के नाटकों को लल्लीप्रसाद पांडेय और गंगाप्रसाद श्रीवास्तव ने अंग्रेजी के माध्यम से अनूदित किया।

बंगला नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत करने वालों में गोपालराम गहमरी स्मरणीय हैं। उन्होंने 'बनवीर' 'बभ्रुवाहन', 'देश दशा', 'विद्याविनोद', 'चित्रागंदा' आदि बंगला नाटकों के अनुवाद किये। बंगला नाटकों के अन्य समर्थ अनुवादक रामचन्द्र वर्मा तथा रूप नारायण पांडेय हैं। उन्होंने गिरीशचन्द्र घोष, द्विजेन्द्र लाल राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मनमोहन गोस्वामी, ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुर तथा क्षीरोद प्रसाद के नाटकों का अनुवाद किया। पांडेय जी के अनुवाद बड़े सफल हैं, उनमें मूल नाटकों की आत्मा को अधिक सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है।

इसी प्रकार भारतेन्दु-युग तथा प्रसाद-युग को जोड़ने वाले बीच के लगभग 25-30 वर्षों में कोई उल्लेखनीय नाटक नहीं मिलता। भले ही प्रसाद-युगीन नाटककारों की आरम्भिक नाट्य कृतियाँ द्विवेदी-युग की सीमा में आती हैं परन्तु आगे चलकर उनकी नाट्य कृतियों में जो वैशिष्ट्य आता है, वह उन्हें द्विवेदी-युग के लेखकों से पृथक्क् कर देता है। द्विवेदी-युग में हिन्दी रंगमंच विशेष सक्रिय नहीं रहा। इस युग में बद्रीनाथ भट्ट ही अपवादस्वरूप एक ऐसे नाटककार थे, जिन्होंने नाटकीय क्षमता का परिचय दिया है किन्तु इनके नाटक भी पारसी कम्पनियों के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। उनमें उत्कृष्ट साहित्यिक तत्त्व का अभाव है।

प्रसाद-युगीन नाटक

प्रसाद का आगमन नाट्य रचना में व्याप्त गतिरोध को समाप्त करने वाले युग-विधायक व्यक्ति के रूप में हुआ। उन्होंने एक प्रवर्तक के रूप में कविता, नाटक तथा निबंध आदि सभी क्षेत्रों में युग का प्रतिनिधित्व किया। डॉ. गुलाबराय का कहना है, 'प्रसाद जी स्वयं एक युग थे।' उन्होंने हिन्दी नाटकों में मौलिक क्रांति की। उनके नाटकों को पढ़कर लोग जितेन्द्र लाल के नाटकों को भूल गये। वर्तमान जगत के संघर्ष और कोलाहलमय जीवन से ऊबा हुआ उनका हृदयस्थ

कवि उन्हें स्वर्णिम आभा से दीप्त दूरस्थ अतीत की ओर ले गया। उन्होंने अतीत के इतिवृत्त में भावना का मधु और दार्शनिकता का रसायन घोलकर समाज को एक ऐसा पौष्टिक अवलेह दिया जो हास की मनोवृत्ति को दूर कर उसमें एक नई सांस्कृतिक चेतना का संचार कर सके। उनके नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय की सी ऐतिहासिकता और रवि बाबू की-सी दार्शनिकतापूर्ण भावुकता के दर्शन होते हैं।

प्रसाद की आरम्भिक नाट्य कृतियां: सज्जन (1910), 'कल्याणी परिणय (1912), प्रायश्चित (1912), करुणालय (1913) और राज्यश्री (1918), द्विवेदी-युग की सीमा के अंतर्गत आती हैं। प्रसाद के इन नाटकों में उनका परम्परागत रूप तथा प्रयोग में भटकती हुई नाट्य दृष्टि ही प्रमुखता से उभर कर सामने आती है। नाटक रचना का प्रारम्भिक काल होने के कारण इन कृतियों में प्रसाद की नाट्य कला का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया है, वह अपनी दिशा खोज रही है। यह दिशा उन्हें विशाख (1921), अजातशत्रु (1922), कामना (1927), जनमेजय का नागयज्ञ (1926) स्कन्दगुप्त (1928), एक घूँट (1930), चन्द्रगुप्त (1931) और ध्रुवस्वामिनी (1933) में प्राप्त हुई। इन नाटकों में प्रसाद जी ने अपनी गवेषणा शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया।

'सज्जन' का कथानक महाभारत की एक घटना पर आधारित है। इस नाटक में प्रसाद जी ने परम्परागत मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भारतेन्दु-कालीन नाट्य-प्रणाली को अपनाया है। 'कल्याणी: परिणय' भी प्रसाद का प्रारम्भिक प्रयास है, जिसका अंतर्भाव उन्होंने बाद में 'चन्द्रगुप्त' के चतुर्थ अंक के रूप में किया है। 'करुणालय' बंगला के 'अमित्राक्षर अरिल्ल छंद' की शैली पर लिखा गया गीति-नाट्य है। 'प्रायश्चित' हिन्दी का प्रथम दुखांत मौलिक रूपक है। शिल्प-विधान की दृष्टि से प्रसाद ने इसमें सर्वप्रथम पाश्चात्य नाट्य-शिल्प को अपनाने का प्रयास किया है। सही अर्थों में 'राज्यश्री' प्रसाद का प्रथम उत्कृष्ट ऐतिहासिक नाटक है। 'विशाख' प्रसाद की पूर्ववर्ती और परवर्ती नाटकों में एक विभेदक रेखा है। इनका कथानक साधारण होते हुए भी देश की तत्कालीन राजनैतिक धार्मिक और सामाजिक समस्याओं की अभिव्यक्ति से ओतप्रोत है यद्यपि प्रसाद के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक ही हैं परन्तु इतिहास की पीठिका में वर्तमान की समस्याओं को वाणी देने का विचार प्रसाद ने सर्वप्रथम इसी नाटक में व्यक्त किया है। भूमिका में वे लिखते हैं मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने

हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने में बहुत प्रयास किया है। और वह वर्तमान स्थिति परतंत्र भारत के राजनैतिक सामाजिक परिवेश से जुड़ी हुई थी। अपनी सत्ता को स्थानयी बनाये रखने के लिए ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीयों में फूट डालने के लिए अपनाये गये साम्प्रदायिकता, प्रांतीयतावाद के हथकण्डे प्रसाद से छिपे नहीं थे। अत: इतिहास की पीठिका पर उन्होंने वर्तमान के इन प्रश्नों को यथार्थ की दृष्टि से उठाते हुए समन्वयवादी आदर्श समाधान प्रस्तुत किये। युगीन साम्प्रदायिक प्रभावों को आत्मसात करते हुए प्रसाद ने अपने नाटकों में ब्राह्मण-बौद्ध धार्मिक संघर्षों को रूपायित किया है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक आर्यों और नागजति तथा आर्य-नाग-संघर्ष की पृष्ठभूमि में रचा गया है। 'अजातशत्रु' में आर्य जनपदों का पारस्परिक संघर्ष परोक्ष रूप में युगीनसाम्प्रदायिक संघर्षों का ही प्रतिरुप है। इस प्रकार अपनी इन प्रौढ़ कृतियों में प्रसाद ने जातीय, क्षेत्रीय तथा वैयक्तिक भेदों को मिटाकर व्यापक राष्ट्रीयता का आह्वान किया है। इस दृष्टि से 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'कामना' और 'एक घूंट' भिन्न कोटि के नाटक हैं। इनकी कथावस्तु ऐतिहासिक नहीं है। कथ्य की दृष्टि से भी ये भिन्न हैं। इनमें प्रसाद ने भौतिक विलासिता का विरोध किया है। 'कामना' में विभिन्न भावों को पात्र रूप में प्रस्तुत किया गया है, इसलिए उसे प्रतीक नाटक कहा जा सकता है। 'एक घूट' एकांकी है और उसमें प्रसाद ने यथार्थ और आदर्श की स्थिति, जीवन का लक्ष्य और स्त्री-पुरुष की प्रेम-भावना के सामंजस्य को चित्रित किया है। 'ध्रुवस्वामिनी प्रसाद की अन्तिम कृति है। अन्य नाटकों में प्रसाद विशेष रूप से राजनैतिक प्रश्नों के यथार्थ से जूझते रहे हैं, परन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' में सामाजिक जीवन की वर्तमान युगीन नारी समस्या पर बौद्धक विचार विमर्श कर यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया है। नारी-जीवन की इस सामाजिक समस्या के प्रति प्रसाद का आकर्षण वर्तमान नारी-आन्दोलन का ही परिणाम है। आज के समाज में नारी की स्थिति, दासता कीशृंखला से उसकी मुक्ति, विशिष्ट परिस्थितियों में पुनर्विवाह की समस्या को बड़े साहस, संयम, तर्क और विचार एवं धर्म की पीठिका पर स्थित करके इस नाटक में सुलझाया गया है।

स्पष्ट है कि प्रसाद जी ने हिन्दी नाटक की प्रवाहमान् धारा को एक नए मोड़ पर लाकर खड़ा किया। वे एक सक्षम साहित्यकार थे। उनके हृदय में भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध ममता थी। उन्हें विश्वास था कि भारतीय संस्कृति ही मानवता का पथ प्रशस्त कर सकती है। इसी कारण अपने नाटकों

द्वारा प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति के भव्य रूप की झांकी दिखाकर राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ अपने देश के अधुनातन निर्माण की पीठिका भी प्रस्तुत की है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में जिस प्राचीन भारतीय संस्कृति की स्मृति को भारत की सोई हुई जनता के हृदय में जगाया था, प्रसाद ने नाटकों में उसी संस्कृति के उदात्त और मानवीय रूप पर अपनी भावी संस्कृति के निर्माण की चेतना प्रदान की। पर यह समझना भी भूल होगी कि उन्होंने केवल भारतीय संस्कृति के गौरव-गान के लिए ही नाटकों की रचना की। वस्तुतः उनका नाट्य साहित्य ऐतिहासिक होते हुए भी सम-सामयिक जीवन के प्रति उदासीन नहीं है, वह प्रत्यक्ष को लेकर मुखर है और उनमें लोक-संग्रह का प्रयत्न है, राष्ट्र के उद्‌बोधन की आकांक्षा है।

प्रसाद से पूर्व साहित्यिक नाटकों का अभाव था। जिस समय भारतेन्दु ने नाटक-रचना की शुरुआत की, उनके सामने पहले से निश्चित, प्रतिष्ठित हिन्दी का कोई रंगमंच न था, अतः उन्होंने संस्कृत, लोकनाटक एवं पारसी रंगमंच शैली की विभिन्न रंगपरम्पराओं को सुधारवादी यथार्थ कथ्य के अनुरूप मोड़ देने का स्तुत्य प्रयास किया। प्रसाद के युग तक नाटकों में पारसी रंगशिल्प का स्वरूप निर्धारित हो चुका था, अतः पारसी रंगमंच की अतिरंजना, चमत्कार, फूहड़ता, शोखभाषा, चुलबुले संवाद, शेरोशायरी के घटियापन की प्रतिक्रिया में प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक, राष्ट्रीय नाटकों की रचना की। दार्शनिकता, सांस्कृतिक बोध, उदात्त कल्पना, काव्यमय अलंकृति, दुरूह भाषा का विन्यास उनकी उपलब्धि था। पिफर भी साहित्यिक और कलात्मक वैशिष्ट्य होते हुए भी प्रसाद में नाट्य शिल्प के अनेक दोष दिखाई देते हैं। एक तथ्य यह है कि प्रकारान्तर से उन्होंने अतिरंजना की रूढ़ि को किंचित परिवर्तन के साथ ग्रहण किया। यह परिवर्तन प्रमुखतः शेक्सपीयर के जीवन-बोध, एवं रंगविधान के प्रभावस्वरूप ही आया था। शेक्सपीयर का रोमानी बोध एवं नियतिवाद संभवतः भारतीय युगीन परिवेश के कारण भी स्वतः उद्‌भूत होकर प्रसाद की चेतना पर छा गया था। इन्हीं कारणों से प्रसाद मूलतः कवि, दार्शनिक तथा संस्कृति के जागरूक समर्थक थे। जीवन दृष्टि के अनुरूप उन्होंने अपने नाटकों की रचना स्वच्छन्दतावादी नाट्य-प्रणालियों को आधार बनाकर कल्पना, भावुकता, सौन्दर्य-प्रेम, अतीत के प्रति अनुराग, उच्चादर्शों के प्रति मोह तथा शैली शिल्प की स्वच्छन्दता आदि को ग्रहण किया। किन्तु ऐसे साहित्यिक नाटकों के अनुरूप रंगमंच हिन्दी में नहीं था इसलिए अन्य सभी दृष्टियों से सफल होते हुए भी प्रसाद के नाटक अभिनय की दृष्टि से

सफल नहीं हो सके। इधर हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में नए प्रयोग हो रहे हैं जिससे आज के रंगकर्मी, प्रसाद के नाटकों को चुनौती के रूप में स्वीकार करने लगे हैं। उनके नाटकों को इसीलिए सर्वथा अभिनेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें से कुछ छुटपुट रूप से उनके जीवन काल में ही खेले गये थे। पिफर भी आकार की विपुलता, दृश्यों की भरमार, चरित्र-बाहुल्य और विलक्षण दृश्य-योजना उनके नाटकों को रंगमंच के लिए अति कठिन बना देती है।

आधुनिक हिन्दी नाटक साहित्य के विकास में जयशंकर प्रसाद के बाद हरिकृष्ण प्रेमी को गौरवपूर्ण स्थान दिया जाता है। प्रसाद-युग में 'प्रेमी' ने 'स्वर्ण-विहान' (1930), 'रक्षाबन्धन' (1934), 'पाताल विजय' (1936), 'प्रतिशोध' (1937), 'शिवासाधना' (1937) आदि नाटक लिखे हैं। इनमें 'स्वर्ण विहान', गीतिनाट्य है और शेष गद्य नाटक। प्रसाद ने जहाँ प्राचीन भारत का चित्रण करते हुए सत्य, प्रेम, अहिंसा व त्याग का संदेश दिया, वहाँ प्रेमी जी ने मुस्लिम-युगीन भारत को नाट्य-विषय के रूप में ग्रहण करते हुए हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। देश के उत्थान और संगठन के लिए इनके नाटक राष्ट्रीय भावना का प्रचार करने वाले हैं। प्रेमी जी प्रसाद की परम्परा के अनुयायी हैं। परन्तु उन्होंने प्रसाद जी की भांति अपने नाटकों को साहित्यिक और पाठ्य ही न रखकर उनको रंगमंच के योग्य भी बनाया है। साहित्यिकता और रंगमंचीयता का समन्वय है उनके नाटकों की विशेषता है। उन्होंने संस्कृत नाट्य परम्परा का अनुसरण न करके पाश्चात्य नाट्यकला को अपनाया है। इन नाटकों के कथानक संक्षिप्त एवं सुगठित, चरित्र सरल एवं स्पष्ट, संवाद पात्रानुकूल एवं शैली सरल व स्वभाविक है।

उपर्युक्त प्रमुख नाट्य कृतियों के अतिरिक्त आलोच्य युग में धार्मिक-पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की रचना अत्यधिक हुई। इन नाटकों में कलात्मक विकास विशेष रूप से नहीं हुआ, किन्तु युग की नवीन प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर कई नाटककारों ने अपनी रचनाओं में नवीन दृष्टिकोण को अपनाया। धार्मिक नाट्यधाराके अन्तर्गत कृष्ण चरित-राम चरित, पौराणिक तथा अन्य सन्त महात्माओं के चरित्रों को लेकर रचनाएं प्रस्तुत की गईं। इस धारा की उल्लेखनीय रचनाएं हैं: अम्बिकादत्त त्रिपाठी कृत 'सीय-स्वयंवर' (1918), रामचरित उपाध्याय-कृत 'देवी द्रौपदी' (1921), राम नरेश त्रिपाठीकृत 'सुभद्रा' (1924) तथा 'जयन्त' (1934), गंगाप्रसाद अरोड़ा-कृत 'सावित्री सत्यवान' गौरीशंकर प्रसाद-कृत- 'अजामिल चरित्र नाटक' (1926), पूरिपूर्णानन्द वर्मा-कृत 'वीर

अभिमन्यु नाटक' (1927), वियोगी हरि-कृत (1925), 'छद्मयोगिनी' (1929) और 'प्रबुद्ध यामुन' अथवा 'यामुनाचार्य चरित्र' (1929), जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी-कृत 'तुलसीदास' (1934) लक्ष्मीनारायण गर्ग-कृत' श्री कृष्णावतार', किशोरी दास वायपेयी-कृत 'सुदामा' (1934), हरिऔध-कृत 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' (1939), सेठ गोविन्ददास-कृत 'कर्त्तव्य' (1936) आदि। राष्ट्रीय चेतना की प्रधानता होने के कारण धार्मिक नाटकों में भी राष्ट्रीयता का चित्रण हुआ। नाटकों में अति-नाटकीय और अति-मानवता का बहिष्कार किया गया है। प्राचीन रूढ़ियों और मान्यताओं को पूर्ण रूप से हटाने की चेष्टा की गयी है। इस प्रकार की रचनाओं में नाटककारों ने प्रायः कथावस्तु प्राचीन साहित्य से लेकर उसी पुराने ढांचे में नई बुद्धवादी धाराओं तथा विचारधाराओं के अनुसार आधुनिक युग की समस्याओं को उनमें पिफट कर दिया है।

प्रसाद युग में इतिहास का आधारलेकर अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं प्रस्तुत की गई। इस समय के नाटककारों की दृष्टि इतिहास की ओर विशेष रूप से गई क्योंकि यह युग पुनरुत्थान और नवजागरणवादी प्रवृत्तियों से अनुप्राणित था। फलतः जन साधारण में अपने गौरवपूर्ण इतिहास तथा अपनी महान सांस्कृतिक चेतना का संदेश देना इन नाटककारों ने अपना कर्त्तव्य समझा। इस काल की गौण ऐतिहासिक कृतियों में गणेशदत्त इन्द्र-कृत 'महाराणा संग्रामसिंह' (1911), भंवरलाल सोनी-कृत 'वीर कुमार छत्रसाल' (1923), चन्द्रराज भण्डारी-कृत 'सम्राट' अशोक (1923) ज्ञानचन्द्र शास्त्री-कृत 'जयश्री' (1924) प्रेमचन्द-कृत 'कर्बला' (1928), जिनेश्वर प्रसाद भायल-कृत 'भारत गौरव' अर्थात् 'सम्राट चन्द्रगुप्त' (1928) दशरथ ओझा-कृत 'चित्तौड़ की देवी' (1928) और प्रियदर्शी सम्राट अशोक (1935), जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द-कृत 'प्रताप प्रतिज्ञा' (1929), चतुरसेन शास्त्री-कृत 'उपसर्ग' (1929) और 'अमर राठौर' (1933) उदयशंकर भट्ट-कृत 'विक्रमादित्य' (1929) और 'दाहर अथवा सिंधपतन' (1943), द्वारिका प्रसाद मौर्यः कृत 'हैदर अली या मैसूर-पतन' (1934), धनीराम प्रेम-कृत 'वीरांगना पन्ना' (1933) जगदीश शास्त्री-कृत 'तक्षशिला' (1937) उमाशंकर शर्मा-कृत 'महाराणा प्रताप' आदि को विशेष ख्याति प्राप्त हुई है। इन नाटककारों ने आदर्शवादी प्रवृत्ति के बावजूद स्वभाविकता का बराबर ध्यान रखा और कल्पना और मनोविज्ञान की सहायता से प्राचीन काल की घटनाओं और चरित्रों को स्वाभाविकता के साथ चित्रित करने की चेष्टा की। पुरानी मान्यताओं तथा अतिलौकिक वर्णनों के स्थान पर वास्तविक कथा-वस्तु

को प्रयोग में लाया गया है। इन चरित्रों में संघर्ष का भी समावेश हुआ। सारांश यह है कि इन नाटकों के कथानक महत् हैं, चरित्र सभी दार्शनिक और आदर्शवादी हैं, शैली कवित्वपूर्ण और अतिरंजित है और नाटकों का वातावरण संगीत और काव्यपूर्ण है। ये नाट्य-कृतियां हिन्दी नाट्य-कला विकास का एक महत्त्वपूर्ण चरण पूरा करती हैं।

इस युग में पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा का महत्त्वपूर्ण स्थान तो रहा ही है, इसके अतिरिक्त सामाजिक नाटकोंकी रचना भी बहुतायत से हुई है। सामाजिक नाटकों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' कृत 'अत्याचार का परिणाम' (1921) और 'हिन्द विधवा नाटक' (1935), 'प्रेमचन्द-कृत 'संग्राम' (1922) ईश्वरी प्रसाद शर्मा-कृत दुर्दशा (1922), सुदर्शन-कृत 'अंजना' (1923), 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' (1929), और 'भयानक' (1937), गोविन्दवल्लभ पन्त-कृत 'कंजूस की खोपड़ी' (1923) और 'अंगूर की बेटी' (1929), बैजनाथ चावला-कृत 'भारत का आधुनिक समाज' (1929), नर्मदेश्वरी प्रसाद 'राम'-कृत 'अछूतोद्धार' (1926), छविनाथ पांडेय-कृत 'समाज' (1929), केदारनाथ बजाज-कृत 'बिलखती 'विधवा' (1930), जमनादास मेहरा-कृत 'हिन्दू कन्या' (1932), महादेव प्रसाद शर्मा-कृत 'समय का फेर', बलदेव प्रसाद मिश्र-कृत 'विचित्र विवाह' (1932) और 'समाज सेवक' (1933) रघुनाथ चौधरी-कृत 'अछूत की लड़की या समाज की चिनगारी' (1934), महावीर बेनुवंश-कृत 'परदा' (1936), बेचन शर्मा 'उग्र'-कृत 'चुम्बन' (1937) और डिक्टेटर' (1937), रघुवीर स्वरूप भटनागर-कृत 'समाज की पुकार' (1937), अमर विशारद-कृत 'त्यागी युवक' (1937) चन्द्रिका प्रसाद सिंह-कृत 'कन्या विक्रय या लोभी पिता' (1937) आदि उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में सामाजिक विकृतियों: बाल विवाह, विधवा-विवाह का विरोध, नारी स्वतंत्रता आदि का चित्रण करते हुए उनके उन्मूलन का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। इन नाटकों में समुन्नत समाज की स्थापना का प्रयास किया गया है, भले ही नाट्यकला की दृष्टि से ये नाटक उच्चकोटि के नहीं हैं।

आलोच्य युग मेंशृंगार-प्रधान नाटकों का प्राय: हास हो गया था। थोड़ी बहुत प्रतीकवादी परम्परा चल रही थी, किन्तु उसकी गति बहुत धीमी थी। प्रतीक का महत्त्व वस्तुत: सांकेतिक अर्थ में है। इस अवधि में प्रसाद की 'कामना' के पश्चात् सुमित्रानन्दन पन्त-कृत ज्योत्स्ना' (1934) इस शैली की उल्लेखनीय रचना है। इसमें पंत की रंगीन कल्पनामयी झांकी का मनोरम स्वरूप

व्यक्त होता है। इसके अतिरिक्त एक नाट्य-धारा व्यंग्य-विनोद प्रधान नाटकों को लेकर थी। इसको प्रमुख रूप से समाज की त्रुटियों, रूढ़िगत विचारों अथवा किसी व्यक्ति विशेष की विलक्षण प्रवृत्तियों पर चोट करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार से किसी भी समस्या पर किया हुआ प्रहार ऊपर से तो साधारण सा प्रतीत होता है। किन्तु तनिक भी ध्यान देने पर उसके पीछे छिपा हुआ अर्थ-गाम्भीर्य स्पष्ट हो जाता है। हास्य-व्यंग्य प्रधान नाटकों में जी.पी. श्रीवास्तव का 'दुमदार आदमी' (1919) गड़बड़ झाला (1919), नाक में दम उपर्फ जवानी बनाम बुढ़ापा उपर्फ मियां का जूता मियां के सर (1926) भूलचूक (1928), चोर के घर छिछोर (1933) चाल बेढव (1934), साहित्य का सपूत (1934), स्वामी चौखटानन्द (1936) आदि प्रसिद्ध हैं। जनता में इन नाटकों का खूब प्रचार हुआ परन्तु रस और कला की दृष्टि से ये निम्नकोटि की रचनाएं हैं। इस युग में कतिपय गीति-नाटकों की भी रचना हुई। इसमें प्रमुख हैं: मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' (1928) हरिकृष्ण प्रेमी-कृत 'स्वर्ण विहान' (1937) भगवतीचरण वर्मा-कृत 'तारा', उदयशंकर भट्ट का मत्स्यगंधा (1937) और विश्वमित्र (1938) आदि उल्लेखनीय है। 'स्वर्ण विहान' में जीवन की बहिरंग व्यवस्था की ओर अधिक ध्यान दिया गया है और अन्य में आन्तरिक क्रिया-व्यापारों का चित्रण है। भाव प्रधान होने के कारण इन नाटकों में कार्य-व्यापार तथा घटना चक्र की कमी मिलती है। भावातिरेक ही भाव-नाट्यों की प्राणभूत विशेषता है।

इस प्रकार प्रसाद-युग हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में नवीन क्रांति लेकर आया। इस युग के नाटकों में राष्ट्रीय जागरण एवं सांस्कृतिक चेतना का सजीव चित्रण हुआ है किन्तु रंगमंच से लोगों की दृष्टि हट गयी थी। जो नाटक इस युग में रचे गये उनमें इतिहास तत्त्व प्रमुख था और रंगमंच से कट जाने के कारण वे मात्र पाठ्य नाटक बनकर रह गए। कथ्य के स्तर पर वे देश की तत्कालीन समस्याओं की ओर अवश्य लिखे गये किन्तु उनमें आदर्श का स्वर ही प्रमुख रहा। पिफर भी इतिहास के माध्यम से अपने युग की यथार्थ समस्याओं को अंकित करने में वे पीछे नहीं रहे।

प्रसादोत्तर-युगीन नाटक

प्रसादोत्तर-युगीन नाटक अधिकाधिक यथार्थ की ओर उन्मुख दिखाई पड़ते हैं। परन्तु भारत के सामने एक विशिष्ट उद्देश्य था राष्ट्र की स्वाधीनता की प्राप्ति

और विदेशी शासकों के अत्याचारों से मुक्ति प्राप्त करना, फलस्वरूप व्यापक स्तर पर पुनरुत्थान एवं पुनर्जागरण की लहर फैल गई। इस समूचे काल में पुनर्जागरण की शक्तियों का प्रभाव होने के कारण चेतना के स्तर पर भावुक, आवेशात्मक, आदर्शवादी, प्रवृत्तियों से आक्रांत होना नाटककारों के लिए स्वाभाविक था। यही कारण है कि प्रसादोत्तर काल तक किंचित परिवर्तनों के साथ सभी रचनाकारों की दृष्टि मूलत: आस्था, मर्यादा एवं गौरव के उच्चादर्शों से मंडित रही। भारतेन्दु ने अपनी अद्‌भुत व्यंग्यशक्ति एवं समाज-विश्लेषण की पैनी दृष्टि से सामाजिक यथार्थ का चित्रण किया परन्तु उनकी मूल चेतना सुधारवादी आग्रहों का परिणाम होने के कारण आस्थामूलक थी। द्विवेदी युग में भी दो दशकों के अनवरत साहित्यिक अनुशासन आदर्शवादी मर्यादा एवं नैतिकता के कठोर बन्धन के कारण यथार्थ के स्वर मद्धिम पड़ गए। प्रसाद युगीन नाटकों की मूलधारा भी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक आदर्श चेतना से सम्बन्धित थी परन्तु खल पात्रों की चारित्रिक दुर्बलताओं तथा सद् पात्रों की जीवन चरित्र-सृष्टि में यथार्थ चेतना को नकारा नहीं जा सकता। 19वीं शताब्दी में पश्चिमी नाट्य साहित्य में इब्सन् एवं शॉ द्वारा प्रवर्तित यथार्थवादी नाट्यान्दोलन ने भारतीय नाट्य साहित्य की गतिविधियों को भी प्रेरित एवं प्रभावित किया। लक्ष्मी नारायण मिश्र ने समस्या नाटकों का सूत्रपात करके बुद्धवादी यथार्थ को प्रतिष्ठित करने का दावा किया है। परन्तु सिद्धांत एवं प्रयोग में पर्याप्त अन्तर पाते हुए हम देखते हैं कि एक ओर वैचारिक धरातल पर प्रकृतवाद सुलभ जीवन के क्रांतिव्यंजक सम्बन्ध उभरते हैं, वहीं दूसरी ओर समाधान खोजते हुए परम्परा के प्रति भावुकता-सिक्त दृष्टि भी पाई जाती है। 'भावात्मकता और बौद्धकता' का घपला होने के कारण उनके नाटकों का मूल स्वर यथार्थ से बिखर जाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व अन्य युगीन सामाजिक समस्याओं के साथ राष्ट्र की मुक्ति का प्रश्न सभी नाटककारों की चेतना पर छाया हुआ था। स्वाधीन भारत से उन्हें अनेक प्रकार की मीठी अपेक्षाएं थीं, परन्तु विडम्बना यह है कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद जीवन समस्याओं से आक्रांत, बोझिल और जटिल हो उठा। परिवेश के दबाव से ही यथार्थ बोध की शुरुआत हुई।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटक का लेखन प्रसाद-युग में ही प्रारम्भ किया था। उनके अशोक (1927), संन्यासी (1829), 'मुक्ति का रहस्य' (1932), राक्षस का मन्दिर (1932), 'राजयोग' (1934), सिन्दूर की होली (1934), 'आधी रात' (1934) आदि नाटक इसी काल के हैं। किन्तु मिश्र जी

के इन नाटकों में भारतेन्दु और प्रसाद की नाट्यधारा से भिन्न प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि भारतेन्दु और प्रसाद-युग के नाटकों का दृष्टिकोण मूलत: राष्ट्रीय और सांस्कृतिक था। यद्यपि इस युग के नाटकों में आधुनिक यथार्थवादी धारा का प्रादुर्भाव हो चुका था। तथापि प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों के द्वारा राष्ट्रीयता का उद्घोष इस युग के नाटककारों का प्रमुख लक्ष्य था। अत: उसे हम सांस्कृतिक पुनरुत्थान की दृष्टि कह सकते हैं, जिनमें प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों और नयी यथार्थवादी चेतना में समन्वय और सन्तुलन परिलक्षित होता है। मिश्र जी नयी चेतना के प्रयोग के अग्रदूत माने जाते हैं। डॉ. विजय बापट के मतानुसार नयी बौद्धक चेतना का विनियोग सर्वप्रथम उन्हीं के तथाकथित समस्या नाटकों में मिलता है। इस बौद्धक चेतना और वैज्ञानिक दृष्टि का प्रादुर्भाव बीसवीं शताब्दी में पश्चिमी चिन्तकों के प्रभाव से हुआ था। डारविन द्वारा प्रतिपादित विकासवादी सिद्धान्त, फ्रफायड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकतावादी सिद्धान्तों ने यूरोप को ही नहीं, भारतीय जीवन पद्धति को भी प्रभावित किया जिसके फलस्वरूप जीवन में आस्था और श्रद्धा की बजाय तर्क को प्रोत्साहन मिला। पश्चिम में इस प्रकार की बौद्धक चेतना ने समस्या नाटक को जन्म दिया। उन्हीं की प्रेरणा से मिश्र जी ने भी हिन्दी नाटकों में भावुकता, रसात्मकता और आनन्द के स्थान पर तर्क और बौद्धकता का समावेश किया। साथ ही द्रष्टव्य है कि बुद्धवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए भी वे परम्परा-मोह से मुक्त नहीं हो पाए। युगीन मूल्यगत अन्तर्विरोधी चेतना समान रूप से उनके प्रत्येक नाटकों में देखी जा सकती है। इनके नाटकों का केन्द्रीय विषय स्त्री-पुरुष सम्बन्ध एवं सेक्स है। राष्ट्रोद्धार, विश्व-प्रेम आदि के मूल में भी मिश्र जी ने काम भावना को ही रखा है, जो परितृप्ति के अभाव में अपनी दमित वृत्ति को देश सेवा आदि के रूप में अभिव्यक्त करती है और प्राय: इस प्रकार परितष्ति' के साधन जुटा लेती है।

मिश्र जी के नाटकों के साथ हिन्दी-नाटक के विषय और शिल्प दोनों में बदलाव आया है। मिश्र जी के सभी नाटक तीन अंकों के हैं। इनमें इब्सन की नाट्य पद्धति का अनुसरण कर किसी भी अंक में बाह्यत: कोई दृष्य विभाजन नहीं रखा गया है यद्यपि दृष्य-परिवर्तन की सूचना यत्र-तत्र अवश्य दे दी जाती है। प्रेम, विवाह और सेक्स के क्षेत्र में विघटित जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए मिश्र जी ने शिल्पगत नवीनता को अपनाया है। पात्र समस्या के सम्बन्ध में तर्कमूलक वाद-विवाद करते हुए दिखाई देते हैं। कार्य-व्यापार के अभाव से

इनके नाटकों में रुक्षता आ गई। जिसके फलस्वरूप प्रभावान्विति खण्डित हो गई। रसात्मकता, प्रभावन्विति के स्थान पर बौद्धक आक्रोश और उत्तेजना ही इनके नाटकों में प्रधान है। लेकिन भावुकता के कारण इनके नाटकों का शिल्पगत गठन प्रभावित हुआ है। इस अन्तर्विरोध के रहते हुए भी इनके नाटक अकलात्मक नहीं कहे जा सकते।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' उन नाटककारों में हैं जिन्होंने प्रसादोत्तर काल में नाट्य परम्परा को निर्भीक और बुनियादी यथार्थ की मुद्रा प्रदान की। काल-क्रम के अनुसार उनके प्रमुख नाटक हैं: 'जय-पराजय' (1937), स्वर्ग की झलक' (1938, 'छठा बेटा' (1940), 'कैद' (1943-45), 'उड़ान' (1943-45), 'भंवर' (1943), 'आदि मार्ग' (1950), 'पैतरे' (1952), 'अलग-अलग रास्ते' (1944-53), 'अंजो दीदी' (1953-54), 'आदर्श और यथार्थ' (1954) आदि। अश्क के प्राय: सभी नाटकों में विकसित नाट्य-कला के दर्शन होते हैं। वस्तु-विन्यास की दृष्टि से इनके नाटक सुगठित, स्वाभाविक, सन्तुलित एवं चुस्त बन पड़े हैं। उच्च मध्य वर्गीय समाज की रुढ़ियों, दुर्बलताओं, उनके जीवन में व्याप्त 'कृत्रिमता', दिखावे और ढोंग का पर्दाफाश करना उनके नाटकों का मूलभूत कथ्य है। यह कथ्य समाज के स्थूल यथार्थ से सम्बन्धित है। कथ्य की स्थूलता और सतही प्रगतिशील यथार्थवादिता ही अश्क के नाटकों की सीमा है, तथापि स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के सम्मोहन से हिन्दी नाटक को मुक्त करने का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। उनकी विशेषता इस बात में है कि उन्होंने जीवन और समाज को एक आलोचक की दृष्टि से देखा है। इनके अनेक नाटक मंचित तथा रेडियो पर प्रसारित हो चुके हैं। इनका योगदान हिन्दी नाटक और रंगमंच के लिए एक विशेष उपलब्धि है।

आलोच्य-युग में कुछ पुराने खेमे के नाटककार यथा: सेठ गोबिन्ददास, लक्ष्मी नारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्द वल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' आदि भी नाट्य साहित्य को समृद्ध करते रहे। सेठ गोविन्ददास के 'कर्ण' (1942), शशि गुप्त (1942) आदि पौराणिक नाटकों और 'हिंसा और अहिंसा' (1940), सन्तोष कहाँ (1941) आदि सामाजिक नाटकों की रचना की। हरिकृष्ण प्रेमी के 'छाया' (1941) और बन्धक (1940), सामाजिक नाटक हैं। दोनों नाटकों में आर्थिक शोषण एवं विषमता का यथार्थ मुखरित है। ऐतिहासिक नाटकों में 'आहुति' (1940), स्वप्नभंग (1940), विषपान (1945), साँपों की सृष्टि, उद्धार आदि उल्लेखनीय हैं।

'अमृत-पुत्री' (1978), नवीनतम ऐतिहासिक नाटक हैं। गोबिन्द वल्लभ पंत ने आलोच्य युग में 'अन्तःपुर का छिद्र (1940), 'सिन्दूर बिन्दी' (1946) और 'ययाति' (1951) नाटकों की रचना की। पन्त जी ने 'कला के लिए कला' की भावना से प्रेरित होकर नाटकों की रचना अवश्य की है, किन्तु उनके नाटक उद्देश्य से रहित नहीं हैं। उन्होंने जीवन की गहरी उलझनों एवं समस्याओं को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित किया है। पंत ने यद्यपि प्रसाद-युग की परम्परा का निर्वाह किया है, किन्तु उनके परवर्ती नाटकों में सामाजिक चेतना अधिकाधिक मुखर होती गई है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'गरुड़ध्वज' (1945), 'नारद की वीणा', 'वत्सराज' (1950) 'दशाश्वमेघ (1950), 'वितस्ता की लहरें' (1953), 'जगदगुरु', चक्रव्यूह (1953), कवि भारतेन्दु (1955), 'मृत्युञ्ज्य' (1958) चित्रकूट, अपराजित, धरती का हृदय आदि नाटकों की रचना की। सभी नाटकों में वर्तमान युग के शिक्षित व्यक्तियों की समस्याओं, उनकी संशयात्मक मनः स्थिति, उनकी कुंठाओं और मानसिक विकृतियों का स्वाभाविक और मनोविश्लेषणात्मक चित्रण किया गया है। उदयशंकर भट्ट के नाटकों में 'राधा' (1961), 'अन्तहीन-अन्त' (1942) 'मुक्तिपथ' (1944) 'शक विजय' (1949), कालीदास (1950) 'मेघदूत' (1950), विक्रमोर्वशी (1950), 'क्रांतिकारी' (1953), 'नया समाज' (1955), पार्वती (1962), मत्स्यगंधा (1976), आदि हैं। भट्ट जी के ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों की मूल प्रेरणा राष्ट्रीयता है। इसमें इतिहास और मिथक के बीच में यथार्थ और समस्या का अहसास भी दिखाई देता है। सामाजिक नाटकों के माध्यम से भट्ट जी ने वर्तमान जीवन के व्यक्तिगत एवं समाजगत संघर्षों एवं समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है। जगन्नाथप्रसाद मिलिन्दका 'समर्पण' (1950) और 'गौतम नन्द' (1952) ख्याति प्राप्त रचनाएं हैं। इनके अतिरिक्त कई अन्य साहित्यकारों ने भी नाटक के क्षेत्र में अवतरण किया, किन्तु उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। इनमें बैकुण्ठनाथ दुग्गल, वृन्दावनलाल वर्मा, सीताराम चतुर्वेदी, चतुरसेन शास्त्री, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द आदि उल्लेखनीय हैं।

इसी काल में स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटक में परिवर्तन की एक नई स्थिति दिखाई देती है। प्रसादोत्तर नाटक के पहले चरण में यथार्थवादी प्रवृत्ति से अनुप्राणित हुआ और उसके साथ ही समस्यामूलक नाटक का आविर्भाव हुआ। किन्तु स्वतंत्रता के बाद सामाजिक यथार्थ और समस्या के प्रति जागरूकता के साथ-साथ नाटक के क्षेत्र में कथ्य और शिल्प के कई नए आयाम उभरे। इसके अतिरिक्त स्थूल यथार्थ के प्रति नाटककार के दृष्टिकोण में भी अन्तर आया।

युगीन परिवेश के ऐतिहासिक संदर्भों में पाँचवें दशक तक जीवन के समस्या संकुल होने पर भी आम जनता की स्थिति में सुधार और परिवर्तन आने की अभी धुँधली सी आशा दिखाई दे रही थी परन्तु छठे दशक के बाद से मीठे मोहक सपने वालू की भीत की भांति ढह गए, परिवेश का दबाव बढ़ा, मोहासक्ति भंग हुई और आज परिवेशगत यथार्थ अधिक नंगा होकर सामने आ रहा है। यथार्थ बोध का सही अभिप्राय मोहभंग की इस प्रक्रिया से ही जोड़ा जा सकता है। जगदीश चन्द्र माथुर, लक्ष्मी नारायण लाल आदि नाटककारों ने अपनी ऐतिहासिक एवं सामाजिक रचनाओं द्वारा कुछ सीमाओं के साथ यथार्थ दृष्टि का परिचय दिया। 'जगदीशचन्द्र माथुर' के चार नाटक प्रकाशित हुए हैं: 'कोणार्क' (1954), 'पहला राजा' (1969), शारदीया तथा 'दशरथनन्दन'। इन नाटकों में क्रमशः मार्क्स एवं प्रफायड के प्रभावसूत्रों को आत्मसात करते हुए छायावादी रोमानी कथास्थितियों की सृष्टि करने में माथुर की दृष्टि यथार्थवादी एवं आदर्शवादी, कल्पना तथा स्वच्छन्दतावादी भावुकता को एक साथ ग्रहण करती है। परिणामतः उनके नाटकों में अन्तर्निहित समस्याएं जीवन के यथार्थ को व्याख्यायित करते हुए भी यथार्थवादी कलाशिल्प में प्रस्तुत नहीं हुई हैं। समस्याओं का विश्लेषण एवं विकास बौद्धक एवं तार्किक क्रिया द्वारा प्रेरित नहीं है। कोणार्क में कलाकार एवं सत्ता के संघर्ष की समस्या धर्मपद के तार्किक उपकथनों के माध्यम से विश्लेषित हुई हैं। परन्तु 'शारदीया' एवं 'पहला-राजा' की समस्याएं प्रगतिशील एवं ह्रासशील मूल्यों के संघर्ष की भूमि पर अवतरित होते हुए भी बौद्धक एवं तार्किक प्रक्रिया के अभाव में यथार्थवादी कला की दृष्टि से हमारी चिन्तन शक्ति को उद्‌बुद्ध नहीं करती क्योंकि माथुर का विशेष बल आन्तरिक अनुभूतियों एवं मानवीय संवेदना को जगाने पर है। फलस्वरूप उन्होंने काव्यात्मकता एवं रसोत्कर्ष के साधनों का सहारा लिया है। अपनी विचारधारा के अनुरूप ही जगदीश चंद्र माथुर ने नाटकीय कला को संस्कृत एवं लोकनाट्य तथा यथार्थवादी मंच की विशेषताओं से अभिमंडित किया है। काव्य-तत्त्व, अलंकरण एवं रस परिपाक से सम्बन्धि त तत्त्व उन्होंने संस्कृत नाटकों से ग्रहण किए हैं। संघर्ष, अन्तर्द्‌वन्द्व का तत्त्व पाश्चात्य यथार्थवादी नाटक शिल्प का प्रभाव है। संक्षेप में, एक ऐसे मंच की परिकल्पना पर उनका ध्यान केन्द्रित रहा है, जो बहुमुखी हो, एक ही शैली में सीमित नहीं हो, भिन्न-भिन्न सामाजिक आवश्यकताओं और चेतनाओं का परिचायक हो।

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी नाटक ने पाश्चात्य प्रभाव से जो नये आयाम ग्रहण किए उनकी प्रथम अभिव्यक्ति धर्मवीर भारती के 'अन्धायुग' में प्रकट हुई है। पश्चिम में दो महायुद्धों के बाद नाटक के क्षेत्र में कथ्य और शिल्प के अनेक प्रयोग हुए। इसके साथ ही युद्ध की परिस्थितियों के कारण जीवन मूल्यों में भी जो बड़ा भारी परिवर्तन आया उसकी अभिव्यक्ति भी नाटक में हुई। भारत में समानान्तर सामाजिक परिस्थिति तो नहीं आई किन्तु पश्चिम की विचारधारा का उस पर प्रभाव पड़े बिना न रहा। नई कविता और नई कहानी उससे अनुप्राणित थी ही, हिन्दी नाटक को भी उससे एक दिशा मिली। ऐसी स्थिति में आधुनिक भाव-बोध को उजागर करने का प्रयास हुआऔर धर्मवीर भारती, लक्ष्मी नारायण लाल, मोहन राकेश आदि नाटककारों ने उसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

डॉ. धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' (1955) गीति-नाटक ने हिन्दी गीत नाट्य-परम्परा को एक नया मोड़ दिया है। इसमें नाटककार ने महाभारत के युद्ध को अनीति, अमर्यादा और अद्ध-र्सत्य से युक्त माना है। इसीलिए उन्होंने इस काल को अन्धायुग कहा है। इस नाटक में मिथकीय पद्धति द्वारा विगत और आगत का समन्वय कर, निरन्तरता में आस्था उत्पन्न करने का सघन प्रयास 'भारती' ने किया है। इसमें अस्तित्त्ववादी दर्शन की स्पष्ट झलक मिलती है। 'अन्धायुग' के अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पन्त के 'रजतशिखर', 'शिल्पी' और 'सौवर्ण' में संगृहीत गीतिनाट्य, गिरजाकुमार माथुर का 'कल्पान्तर', सृष्टि की सांझ और अन्य काव्य-नाटक' में संगृहीत सिद्धान्त कुमार के पांच गीतिनाट्य-सृष्टि की साँझ, लोह देवता, संघर्ष, विकलांगों का देश और बादली का शाप तथा दुष्यन्तकुमार के गीतिनाटक 'एक कण्ठ विषपायी' (1963) आदि भी विशेष उल्लेखनीय हैं। डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल के हैं: 'अन्धा कुआँ' (1955), 'मादा कैक्टस' (1959), 'तीन आँखों वाली मछली' (1960), 'सुन्दर रस', 'सूखा सरोवर' (1960), रक्त कमल (1961), 'रात रानी' (1962), 'दर्पण' (1963)' 'सूर्यमुख' (1968), 'कलंकी', 'मिस्टर अभिमन्यु' (1971), 'करफ्रयू' (1972) आदि। 'अन्धा कुआँ' में आर्थिक संघर्ष के कारण उत्पन्न ग्राम्य-जीवन के सामाजिक और पारिवारिक द्वन्द्व का चित्रण है। 'मादा कैक्टस', 'सुन्दर रस', 'सूखा सरोवर' और 'रक्त कमल' उनके प्रतीक नाटक हैं। 'तोता मैना' नाटक टेकनीक के नये प्रयोगों को प्रस्तुत करता है। यह नाटक लोकवृत्त पर आधारित है। 'दर्पण' और 'रातरानी' समस्या नाटक हैं। दर्पण में मनुष्य को अपने वास्तविक रूप की तलाश में भटकते हुए दिखाया गया है। 'कलंकी'

नाटक में अनेक जटिल प्रश्नों यथा सक्रांति कालीन लोकचेतना को प्रस्तुत करना, आज के समय में भी कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास, देखना, यथार्थ का सामना करने से कतराना आदि को लोकरंगमंचीय संस्कृति, अभिव्यंजनावादी नाट्य-संरचना में प्रस्तुत किया गया है। 'सूर्य-मुख' में महाभारत-युद्ध के बाद की घटना ली गयी है। इस नाटक पर 'अन्धायुग' और 'कनुप्रिया' की स्पष्ट छाप है। 'मिस्टर अभिमन्यु' और 'कफ़र्यू' आधुनिक जीवन की संवेदना को लेकर लिखे गये विचारोत्तेजक नाटक हैं। डॉ. लाल अपने चारों ओर के परिवेश और युग जीवन के प्रति सजग हैं। उनका लक्ष्य समाज की विरुपता को संयम और तर्क के साथ चित्रित कर समाज को बदलते जीवन-मूल्यों और नैतिक मानदंडो से अवगत कराना है।

हिन्दी नाटकों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाकर 'मोहन राकेश' ने एक नये युग की स्थापना की है। उनका 'आषाढ़ का एक दिन' (1956), 'लहरों के राजहंस (1963) तथा 'आधे-अधूरे' (1969) नाटक निश्चय ही ऐसे आलोक स्तम्भ हैं, जो सुदूर भविष्य में भी हिन्दी-नाटक को एक नवीन गति-दिशा प्रदान करते रहेंगे। मानवीय सम्बन्धों में विघटन के कारण टूटते हुए व्यक्ति के आभ्यंतर यथार्थ का चित्रण करना इन नाटकों का केन्द्रीय कथ्य एवं मूल स्वर है। 'आषाढ़ का एक दिन' कवि कालिदास और उसकी बाल-संगिनी मल्लिका के प्रेम और संघर्ष की कथा पर आधारित है। कालिदास अपने परिवेश एवं मल्लिका से कट जाने के कारण जीवन के नये अर्थ की तलाश में निकल पड़ता है। 'लहरों के राजहंस' अश्वघोष के प्रसिद्ध महाकाव्य 'सौन्दरानन्द' पर आधारित है। इस नाटक में नन्द सुन्दरी और गौतम दोनों से निरपेक्ष हो जाने के बाद अलगाव की स्थिति में आंतरिक सत्य की तलाश करने के लिए चल पड़ता है। उनका जीवन-बोध अस्तित्त्ववाद की वैचारिक भूमिका पर ही उभरा है। राकेश की दृष्टि का यह यथार्थ जीवन-अर्थो की खोज तक ही सीमित है। किसी परिणति तक पहुँचना राकेश का अभीष्ट भी नहीं है। इसी कारण उनके समस्त नाटकों का समापन किसी निश्चित अन्त पर पहुँच कर नहीं होता। 'आधे-अधूरे' द्वारा आधुनिक जीवन से साक्षात्कार कराया गया है, इसमें महानगर के मध्यम वर्गीय परिवार का चित्रण है। आज के परिवार की टूटन और चुक गये आपसी सम्बन्धों को नाटक में बड़े सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया गया है। अस्तु, राकेश ने अपनी नाट्य-सृष्टि में अन्तर्निहित यथार्थ को पकड़ने की चेष्टा की है। सभी नाटक रंगमंचीय सम्भावनाओं से पूर्ण है। प्रसाद जी के बाद सर्वाधिक सशक्त नाटककार हम

राकेश को कह सकते हैं। उन्होंने अतीत के सघन कुहासे और अपने समसामयिक जीवन के अन्धे-गलियारों में भटक कर सभी स्तरों पर अपनी नाट्यकला को पूर्णतया आधुनिक रखा है।

मोहन राकेश के बाद जिस नाटककार के प्रति विश्वास जागता है, वह है 'सुरेन्द्र वर्मा'। उनके नाटकों में 'द्रोपदी', 'सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक', 'आठवां सर्ग' आदि उल्लेखनीय हैं। प्रथम नाटक में आधुनिक नारी की मन:स्थिति का चित्रण पुराने मिथक-प्रतीकों के माध्यम से बड़ी सफलतापूर्वक किया गया है। 'सूर्य की अन्तिम किरण से पहली किरण तक' का आधार छद्म इतिहास हैं, पर इसमें लेखक ने एक पौरुषहीन व्यक्ति के विवाह बन्धन में पड़ी नारी की शाश्वत समस्या को आधुनिक भाव-बोध के साथ उठाने का प्रयास किया है। आठवाँ सर्ग' कालिदास के जीवन और लेखन पर आधारित है और उसका कथ्य लेखकीय स्वातंत्रय की आधुनिक चेतना को उजागर करता है।

व्यवस्था के संदर्भ में समाज एवं व्यक्ति के बाह्य एवं आंतरिक यथार्थ का चित्रण करना नये नाटककारों के नाटकों का केन्द्रीय कथ्य लगता है। ब्रजमोहन शाह के 'त्रिशंकु', ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'शुतुरमुर्ग', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के 'बकरी' आदि नाटकों में सत्ता के छद्म और पाखंडो का ही पर्दाफाश किया है। अधुनातन नाटककार मुद्राराक्षस, लक्ष्मीकांत वर्मा, मणि मधुकर, शंकर शेष और भीष्म साहनी भी क्रमश: अपने नाटकों 'योअर्स-फेथ-फुल्ली', 'तेंदुआ', 'मरजीवा', 'रोशनी एक नयी है', 'रसगन्धर्व', 'एक और द्रोणाचार्य' तथा 'हानूश' के माध्यम से इन्हीं प्रश्नों से जूझ रहे हैं। इन्होंने जहाँ एक ओर वर्ग-वैषम्यो की चेतना को जाग्रत करके व्यवस्था के]ासशील रूपों का यथार्थ चित्रण किया है वहीं सत्ता के दबाव में पिस रहे आम आदमी की करुण नियति और उससे उत्पन्न संत्रास का भी रुपायन किया है। इस तरह नाटक सीधे जिन्दगी की शर्तों से जुड़े और उनकी विषमताओं के साथ जूझते व्यक्ति की यंत्रणा उसके भीतर यथार्थ को रंग-माध्यम से प्रस्तुत करने का बीड़ा उठाते हैं। बदलाव की चेतना और आकुलता को उजागर करने के सशक्त कथ्य से ही हिन्दी के रचनात्मक नाट्य के लिए शुभारम्भ की स्थिति मानी जा सकती है। नये नाटककार सत्यदेव 'दूबे, रमेश उपाध्याय, रामेश्वर प्रेम, शरद जोशी, गिरिराज, सुशील कुमार सिंह, बलराज पंडित, मृदुला गर्ग, सुदर्शन चोपड़ा नये नाटक लिखकर आंतरिक यथार्थ बोध की संपुष्टि में योग दे रहे हैं। अभी हाल ही में कुछ नाटक प्रकाशित हुए हैं–

प्रभात कुमार भट्टाचार्य का 'काठ महल', गंगाप्रसाद विमल का 'आज नहीं कल', प्रियदर्शी प्रकाश का 'सभ्य सांप', रमेश बख्षी का 'वामाचरण', भगवतीचरण वर्मा का 'वसीयत', इन्द्रजीत भाटिया का 'जीवन दण्ड' सुदर्शन चोपड़ा का 'काला पहाड़' शिवप्रसाद सिंह का 'घाटियां गूंजती हैं' नरेश मेहता का 'सुबह के घण्टे' ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'नेफा की एक शाम' अमृतराय की 'विंदियों की एक झलक' गोविन्द चातक का' अपने अपने खूंटे' विपिन कुमार अग्रवाल का 'लोटन', विष्णुप्रभाकर का 'टगर', सुरेन्द्र वर्मा का 'द्रोपदी' और 'आठवाँ सर्ग' भीष्म साहनी का 'कबिरा खड़ा बाजार में', राजेन्द्र प्रसाद का 'प्रतीतियों के बाहर' और 'चेहरों का जंगल' आदि। इन नाटकों में जो सामान्य प्रवृत्तियां उभर कर आई हैं वे इस प्रकार हैं: आकार में छोटे, वर्तमान जीवन से उनका सम्बन्ध, वस्तुवाद का प्राधान्य, अधिकांश मनोवैज्ञानिक और समस्यात्मक, रंगमंचीय संकेतों का बाहुल्य संकलन त्रय के पालन की प्रवृत्ति आदि। इनमें से अन्तर्मन की सच्चाइयों को नकार कर तटस्थता का मुखौटा लगा लेने का उपदेश देने वाले नाटककार कहां तक सफल हो पायेंगे, इसका सही मूल्यांकन उनकी आने वाली कृतियों से ही लग सकेगा।

❐❐❐